हमारी राजनैतिक समस्याएं

[वैज्ञानिक विश्लेषण की दिशा में एक प्रयत्न]

लेखक
प्रोफेसर शान्तिप्रसाद वर्मा

इन्दौर
नवयुग साहित्य सदन
१९४६

प्रकाशक—
गोकुलदास धूत,
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रथम वार, १९४६
मूल्य
पाच रुपये

मुद्रक
अमरचंद्र,
राजहस प्रेस, दिल्ली

दो शब्द

यह पुस्तक वर्त्तमान भारतीय राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियो के एक वैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में पाठक के सामने आ रही है, पर इसका आरम्भ इतने बड़े डीलडौल के साथ नहीं हुआ था। फरवरी १९४५ में कुछ अंग्रेज मित्रों ने मुझे एक विशुद्ध अंग्रेजी सभा में 'भारतवर्ष और अंग्रेजी साम्राज्य' पर एक भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया। उस शाम को एक घण्टे के अभिभाषण और दो घण्टे की हार्दिक बातचीत मे इस पुस्तक की नीव पड़ी। उसके बाद दीवारें चिनी जाने और इमारत का शेष काम समाप्त होने के साधन अपने आप निकलते आये। फरवरी के अत में मेरठ कालेज की अध्यापक-समिति में 'राजनैतिक गत्यावरोध कैसे मिटे?' पर एक प्रबध पढना पड़ा, और, उन्ही दिनों, कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ स्थानीय स्टूडेंट्स-काग्रेस की कार्य-समिति के सामने, बातचीत के रूप में, उसी विषय का विवेचन करना पड़ा। मार्च में, राजनीति के एम० ए० के अपने विद्यार्थियों के साथ प्रजातन्त्र, विभाजन और सघ-शासन, इन तीनों विषयों पर लम्बी चर्चा करने का मौका निकल आया, और इसके कुछ ही दिन के बाद 'इण्डियन अफेयर्स फ़ोरम' के उत्साही मन्त्री, बैरी, के आग्रह पर फिर अंग्रेजों की एक बड़ी सभा में 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' पर एक भाषण देने के लिए तैयार होना पड़ा।

उन्हीं दिनों जब कि मैं भारतीय राजनीति सबधी विषयो के अध्ययन-मनन-अध्यापन आदि में लगा हुआ था, विद्याभवन, उदयपुर, से भाई केसरीलालजी बोर्डिया का आदेश-पत्र मिला कि मुझे उदयपुर पहुचकर कई व्याख्यान देने होंगे। मैंने 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' विषय चुना, और उस पर विद्याभवन के स्वस्थ शैक्षिक वातावरण में वैज्ञानिक ढग से खूब चर्चा रही। इस पुस्तक की बाह्य रेखाए उदयपुर के उन चार भाषणों में ही स्पष्ट हो चली थीं। प्रत्येक भाषण के बाद प्रश्नोत्तर की गुंजाइश रखी गई थी, और प्रायः प्रत्येक दिन, भाषण के बाद, शाम के लम्बे भ्रमण में, जिनमें मुसलमान साथी भी शामिल होते थे, इन विषयों पर खुल कर चर्चा होती थी।

उदयपुर से भाषण देकर लौटा भी नहीं था कि नवयुग-साहित्य-सदन, इन्दौर के उत्साही संचालक भाई गोकुलदास धूत का पत्र आ पहुचा कि इन भाषणों को पुस्तक का रूप दिया जाना चाहिए। श्री बैजनाथजी महोदय आदि

अन्य मित्रों की ओर से भी उन्हें मुझपर दबाव डालने का आदेश मिला। ऐसी परिस्थिति में, सिवाय इसके कोई चारा ही नहीं था कि मैं बैठूं और पुस्तक को लिख डालूं। फिर भी निश्चिन्तता से बैठकर काम करने के अवसर कम ही मिले। एक बड़े व्यस्त और बहुधन्धी कार्यक्रम के बीच इस पुस्तक को लिखने का काम चलता रहा है। और बाद के दिनो में तो यह हुआ है कि मैं लिखता रहा हूं, और पुस्तक छपती रही है, और कई बार तो प्रेस का काम रुका भी है।

पुस्तक की छपाई और प्रकाशन आदि के निरीक्षण का भार भाई मार्तण्ड उपाध्याय पर रहा। उसके आंतरिक विषय और उसकी व्यवस्था आदि के संबध मे भी मैं प्रायः उनकी सलाह लेता रहा हूं। पुस्तक के लिखने में सभी मित्रो की ओर से मुझे लगातार प्रोत्साहन मिलता रहा है। इस प्रकार एक बड़े स्वस्थ, सहानुभूतिपूर्ण, और सौहार्द्र-पूर्ण वातावरण में उसकी रचना हुई है, और वैसे ही वातावरण में उसका प्रकाशन भी हो रहा है। फिर भी पुस्तक में मेरे अपने व्यक्तित्व की अपूर्णता की प्रतीक, अनेकों ग़लतिया अवश्य रह गई होगी। उनका संपूर्ण दायित्व मुझपर है, और उनके लिए पाठक के सामने मैं सविनय क्षमाप्रार्थी हूं।

मेरठ,

२० दिसम्बर '४५ शान्तिप्रसाद वर्मा

विषय-सूची

भाग २ : समस्या : राजनैतिक पक्ष

हमारी राजनैतिक समस्याएं

: १ :

विषय-प्रवेश

हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन विश्व की आज की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है—उसकी तुलना रूस की सामाजिक क्रान्ति और चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन से की जा सकती है। इस आन्दोलन की जड़ें देश के उस सांस्कृतिक पुनरुत्थान में हैं जिसका आरम्भ, लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहिले, भारत की आध्यात्मिकता पर पाश्चात्य भौतिकवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इस सांस्कृतिक पुनरोत्थान का आधार अपने प्राचीन धर्म और संस्कृति में हमारे आत्म-विश्वास का जागरण था। इस विचार-धारा के आदि-प्रवर्त्तक राममोहन राय अन्य समकालीन युवकों की प्रवृत्ति के विरुद्ध पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह में बह जाने से अपने आपको रोक सके। उनके सामने उपनिषदों का महान तत्त्व-ज्ञान था। पश्चिमी सभ्यता के गुणों को समझते हुए भी वह अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरव को भूले न थे। धार्मिक सुधार की यह प्रवृत्ति बाद में दो धाराओं में बट गई। एक का आग्रह केवल धर्म के व्यक्तिगत पक्ष पर था, दूसरी समाज-सेवा के रास्ते ही धार्मिक जीवन की कल्पना कर सकती थी—इनके प्रवर्त्तकों में देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नाम लिये जा सकते हैं। समाज-सेवा की यह धारा भी, जिसका पूर्ण विकास केशवचन्द्र सेन के प्रभाव में महाराष्ट्र में स्थापित प्रार्थना-समाज में हुआ था, बाद में दो भागों में बट गई। एक का आदर्श केवल समाज-सुधार में अपनी सारी शक्ति लगा देने का था, दूसरी का विश्वास हो चला था कि जब तक हमारी राजनैतिक दशा नहीं सुधरती, समाज का प्रगति की ओर अग्रसर होना असंभव है—इन दो प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हम रानाडे और गोखले के व्यक्तित्व में पाते हैं। गोखले जिस प्रवृत्ति के आचार्य थे, गांधी उसी की चरम-सीमा हैं। गांधी को यदि हम अपनी राजनैतिक गति-विधि और राष्ट्रीय आकांक्षाओं का मापदण्ड मान लें तो हमें यह समझने में देर न लगेगी कि किस प्रकार हमारा आज का राजनैतिक जीवन समाज-सुधार के रास्ते आने वाले धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरोत्थान का ही विकसित रूप है। गांधी हिन्दुस्तान की आजादी के लिए प्रयत्नशील हैं, पर उनका मुख्य साधन समाज-सुधार है और इसके लिए उन्हें मूल-प्रेरणा धर्म से प्राप्त होती है।

यह तो हुआ हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक पक्ष—जो हमें प्राचीन धर्म और सस्कृति से संबद्ध करता है। हमारे राष्ट्रीय-जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है—जिसका सम्बन्ध भावी विश्व-व्यवस्था से है। ससार की राजनीति मे हम अपना स्थान पा लेने के लिए बेचैन हैं। हम आजाद होना चाहते हैं। गुलामी की जिन जंजीरो में जकडे जाकर हम विश्व की राजनीति से दूर फेंक दिए गए हैं उन्हे हम तोड़ फेंकना चाहते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ मध्यम श्रेणी के शिक्षित-वर्ग से हुआ, बाद मे निम्न-मध्यम-श्रेणी की जनता ने उसमे प्रवेश किया और अब वह जन-साधारण—ग़रीब और पदत्रस्त, किसान और मजदूर—के दैनिक जीवन का विषय होगया है। ज्यों-ज्यों आन्दोलन व्यापक होता गया, हमारे मानसिक क्षितिज का विस्तार भी बढ़ता गया है। शुरू मे हमारी दृष्टि ऊंची सरकारी नौकरियो व शासन मे कुछ अधिकार पा लेने पर थी। बाद मे 'स्वराज्य' का अस्पष्ट और धुन्धला रेखा-चित्र हमारे सामने आया, और तब पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की स्थापना हुई—अब धीरे-धीरे इस आदर्श की वाह्य रेखाएं अधिक स्पष्ट होती जा रही हैं और उसके राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला जाने लगा है। आन्दोलन की व्यापकता और आदर्शों के विस्तार के साथ-साथ प्रयत्नो की गम्भीरता भी वढती गई है। १६२०-२१ के बाद से ही हमारी राजनीति का मुख्य आधार त्याग और कष्ट-सहन पर स्थापित किया जा चुका है। तब से हमारे देश की बडी से बडी विभूतियो के जीवन का अधिकाश समय अंग्रेजी शासन के जेलखानो मे बीता है, और हजारो देशभक्त लाठी के आघातों, घोडों की टापो और गोलियो के प्रहारों मे अपने प्राणों की भेंट चढाते रहे हैं। कई फांसी के तख्तो पर झूले हैं, और कई अपने जीवन के लबे वर्ष जेलखानो की चहारदीवारी मे बिताने पर विवश किये जा रहे हैं। इन्हीं के तप और साधना का परिणाम है कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रबल शक्ति बन गया है।

पर, देश की आजादी के लिए प्रयत्न करने वाली आत्माओं ने सदा ही बडी बेचैनी के साथ महसूस किया है कि जैसे हमारे इस सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन की जडें लगातार एक घातक जहर से सींची जाती रही हों, जैसे उसकी आकाशगामी शाखाए किसी शाप से ग्रसित हो। राष्ट्रीयता के विकास के साथ साम्प्रदायिकता का जहर भी वढता गया है—और जब कभी हमने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हाथो को ऊंचा किया है, उसने वरवस उन्हें पीछे धकेल दिया है, और हमारी राष्ट्रीय-शक्ति को पैरों तले रौंदती हुई वह स्वय आगे वढ़ती चली गई है। १६२०-२१ के वे दिन आज केवल एक मीठी स्मृति के रूप में ही हमारे सामने

रह गए हैं, जब कांग्रेस और खिलाफत के विद्रोही-झण्डे एक साथ फहरा उठे थे, गाधी और अली भाइयों की जय एक साथ बोली जाती थी, और हिन्दू और मुसल्मान आजादी की लड़ाई मे, कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर, खड़े हुए थे। १६३० और ३२ के आन्दोलनों में भी हजारों मुसल्मान जेल गए, पर साप्रदायिक शक्तिया दिन ब दिन सशक्त बनती जा रही थीं। मुसल्मान राष्ट्रीयता के प्रति सशकित होते जा रहे थे। राष्ट्रीय विचारों के मुसल्मान भी कांग्रेस मे शरीक होने के स्थान पर अपनी अलग-अलग सस्थाए बनाने लगे थे, यद्यपि कांग्रेस के आदर्शों के साथ इन संस्थाओं की पूरी सहानुभूति रही। १६३७ के प्रान्तीय चुनाव से एक बार फिर आशा बधी। यह चुनाव देश भर मे प्रगतिशील शक्तियों की विजय का प्रतीक था। अधिकाश प्रान्तो मे कांग्रेस की जीत हुई। पञ्जाब में यूनियनिस्ट-दल व बगाल मे कृषक-प्रजा-दल के सामने प्रतिक्रियावादी मुस्लिम लीग टिक न सकी। युक्तप्रान्त में मुस्लिम लीग स्वय एक प्रगतिशील सस्था थी—वह नवाब छतारी और उनके अन्य प्रतिक्रियावादी साथियों पर आसानी से विजय प्राप्त कर सकी। सीमाप्रान्त में कांग्रेस जीती, और सिध में भी लीग सफल न हो सकी। पर, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनते ही सहयोग और प्रगतिशीलता की सारी प्रवृत्तिया न जाने कहा खत्म होगईं, और प्रतिक्रियावादी शक्तिया, साप्रदायिकता का जामा पहिन कर, दिन ब दिन अपने को सशक्त बनाती चली गईं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण कांग्रेस ने जब पद-त्याग किया, तब मुस्लिम-लीग ने देश भर में 'मुक्ति-दिवस, मनाकर अपने हर्ष का प्रदर्शन किया। धीरे-धीरे वह पाकिस्तान, और हिन्दुस्तान के बटवारे के, आदर्श की ओर बढी। सन् ४२ का, अपने आप उभर उठने वाला, महान् जन-आन्दोलन भी मुस्लिम-जनता को अपनी राजनैतिक निष्क्रियता के राजमार्ग से डिगा न सका। मुस्लिम जनता उसमें भाग लेने के लिए व्यग्र थी, पर नेताओं का आदेश उनकी इस सहज इच्छा के विरुद्ध था। अनुशासन का यह एक शानदार उदाहरण था, पर, आधी के थम जाने पर लोगों के मन मे यह सहज-स्वाभाविक प्रश्न उठा कि क्या इसमे देश के प्रति गद्दारी की भावना नहीं थी?

साम्प्रदायिकता की इस समस्या ने हमारी राजनीति को एक अजीब उलझन में डाल दिया है। हमारी राजनीति आज एक विदेशी शासन के प्रति सीधी-सादी लड़ाई नहीं है। वह तो एक त्रिकोणात्मक सघर्ष (Triangular fight) है। हम विदेशी शासन से मुक्त होने का जितना ही अधिक प्रयत्न करते है, अपने को साप्रदायिकता के दलदल मे गहरा धसते हुए पाते है। १६३७ में कांग्रेस के पद-ग्रहण करने की नीति के पीछे विदेशी शासन पर अधिकाधिक प्रभाव डाल

कर शासन-योजना को प्रजातन्त्र के ढग पर विकसित कर लेने का उद्देश्य था, पर काग्रेस द्वारा पद-ग्रहण के २७ महीनो में, मुस्लिम-लीग द्वारा प्रेरित, साम्प्रदायिक विरोध इतना तीव्र होगया कि काग्रेस विदेशी शासन पर देश का संयुक्त-प्रभाव नहीं डाल सकी। काग्रेस के पद-त्याग कर देने के बाद, मुस्लिम-समाज के नेतृत्व का दावा करने वाली सस्था, मुस्लिम-लीग, ने बार-बार शासन मे हाथ बटाने की अपनी तैयारी प्रगट की। काग्रेस के विरोध मे चले जाने से सरकार को विवश होकर मुस्लिम-लीग का समर्थन करना पड रहा था। अग्रेजी सरकार ने केन्द्रीय-शासन पर तो मुस्लिम-लीग को हाथ न रखने दिया, पर प्रातो मे अन्य मन्त्रिमण्डलो को तोडकर मुस्लिम-लीगी मंत्रिमण्डलो की स्थापना मे खुली सहायता पहुँचाई। सिध और बङ्गाल के बड़े मन्त्रियो—अल्लाबख्श और फजलुलहक को जिन परिस्थितियों मे अलहदा किया गया—और उनके स्थान पर हिदायतुल्ला और सर नजीमुद्दीन को बिठाया गया—वह प्रातीय स्वशासन के इतिहास का एक लज्जाजनक अध्याय है। उधर देश मे असन्तोष बढ रहा था। गांधी जी उसकी अभिव्यक्ति रचनात्मक प्रवृत्तियो में करने की चेष्टा करते रहे, पर तीन साल की अवज्ञा और उत्पीडन के बाद जब मार्च '४२ मे क्रिप्स-प्रस्तावो के रूप मे भारतीय राष्ट्रीयता का अपमान किया गया तब उसका रोक सकना असम्भव होगया। गाधी जी जानते थे कि मुसल्मान राष्ट्रीय-आन्दोलन के साथ नहीं है, पर यह यह भी जानते थे कि जब तक विदेशी शासन से हम छुटकारा नहीं पा जाते, साप्रदायिक समस्या का कोई सन्तोष-प्रद हल निकालना भी अस-भव ही है,—दो वर्ष के बाद सितम्बर १९४४ में मि० जिन्ना से २१ दिन तक बातचीत करने के बाद भी गाधी जी इसी परिणाम पर पहुँचे।

इसी बीच पाकिस्तान की माग सामने आई। भावप्रवणता के स्तर से उठ-कर उसने हिन्दुस्तान के एक बहुत बडे तबके की कौमी माग का रूप ले लिया। मुस्लिम-लीग द्वारा अपनाये जाते ही पाकिस्तान मुस्लिम जनता का इन्किलाबी नारा बन गया। हजारो मुसल्मानों ने अनुभव किया कि उन्होंने अपनी आत्मा के अन्तरतम सत्य को पा लिया है। भारतीय मुसल्मानो का अन्तिम लक्ष्य पाकि-स्तान ही हो सकता है। पर, यह तो निराश-हृदय की एक चीज थी। यह परि-स्थितियो की कठोर वास्तविकता से भाग निकलने का एक आकर्षक मार्ग था— जिसका अन्त होता था विद्वेष, अविवेक और आत्महत्या की एक अंधेरी गुफा मे। अंग्रेजी सरकार, परिस्थितियों के वश मुस्लिम-लीगका समर्थन कर रही थी। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर लीग के कुशल सर्व-सर्वा मि० जिन्ना ने पाकिस्तान की माग को एक बडा व्यापक रूप दे दिया। पर सम्बन्ध-विच्छेद की

इस चरम भाग से एक अच्छा परिणाम भी निकला। एक ओर तो यह प्रगट होगया कि एक अल्प-सख्यक समुदाय की कट्टरता उसे किस सीमा तक ले जा सकती है, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट होगया कि मुसल्मानो के विरोध के पीछे एक तीखापन और तीव्रता भी है, और उसके कारणो का विश्लेषण कर लेने, और जहा तक हो सके उनकी उचित मागो को स्वीकृत कर लेने और अन्य शिकायतो के सम्बध में उचित वैधानिक आश्वासन देने की आवश्यकता है।

प्रजातत्र में तो पारस्परिक सहानुभूति और एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता का होना बडा आवश्यक है। हम पर, जो इस देश में प्रजातत्र की स्थापना देखने के लिए उत्सुक हैं, यह बाध्यता है कि हम मुसल्मानो की माग से खीझ उठने के बदले उसके मनोविज्ञान की गहराई मे जाय। पाकिस्तान पके फोडे की तरह एक गलत और सघातक चीज हो सकती है, पर हमारी राजनीतिक अस्वास्थ्य में ही तो उसका जन्म हुआ है न? पाकिस्तान के सम्बन्ध मे क्यो मुसल्मानो का इतना अधिक आग्रह है, और क्यो यह आग्रह प्रबलतर होता जा रहा है? कौनसी शक्तिया है जो इस आग्रह के पीछे काम कर रही है, और उसे प्रेरणा और प्रोत्साहन पहुचा रही हैं? उन शक्तियों का जान लेना, यदि हम भारत की एकता के आधार पर एक प्रजातन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं, नितान्त आवश्यक है। यह जानने के लिए हमे इतिहास की गहराई में जाना पडेगा। हिन्दू और मुसलमान समाज क्या हमेशा एक दूसरे से इसी तरह खिचे रहे या कभी उनमें मेलजोल भी होगया था। यदि मेलजोल हुआ था तो वह किस सीमा तक पहुचा था, और वह क्यो अपने को कायम न रख सका? कौन से ऐसे कारण थे जिन्होंने दो महान् सस्कृतियो को एक शानदार समन्वय से पथभ्रष्ट कर दिया? उसमे विदेशी शासन की कूटनीतिज्ञता का प्रभाव कितना था और कितना था हमारी अपनी सामाजिक कमियों का उत्तरदायित्व? मुसल्मानो द्वारा पाकिस्तान की माग ने इन सब प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर ढूढ निकालने पर हमें विवश कर दिया है।

कुछ लोग मुसल्मानों के इस रवैये से खीझ कर उनसे अपना राजनैतिक सहयोग ही खींच लेना चाहते हैं। वह राष्ट्रीय आन्दोलन को ही इतना सशक्त बनाना चाहते हैं कि मुसल्मानो के सहयोग के बिना, अथवा जरूरी हुआ तो असहयोग के साथ भी, अंग्रेजों के अनिच्छुक हाथों से शासन-सत्ता छीन ली जाय। यह विश्वास उस मनोवृत्ति से भी, जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया, अधिक भयङ्कर है। पाकिस्तान यदि निराशा की पुकार है, तो यह धारणा एक बौखलाहट की अभिव्यक्ति है। हमारी राष्ट्रीयता के विकास में

सब से बडी कमी यही रही है कि उसमे कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण, जिनका विश्लेषण आगे के पृष्ठो मे मिलेगा, आरम्भ से ही मुसल्मानो का सहयोग बहुत कम रहा। इस कारण उसका हिन्दू सस्कृति के रग मे रङ्ग जाना स्वाभाविक होगया। बाद मे एक ओर तो राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति के लिए अपना सारा परिधान एक साथ बदल डालना कठिन होगया, दूसरी ओर मुस्लिम सस्कृति के जीर्णोद्धार मे लगे हुए कट्टर धार्मिक व्यक्ति जब राष्ट्रीयता के कार्यक्षेत्र मे आये तो उनसे आसानी से अपना ताल-मेल न जोड सके, पर हमे यह स्पष्टता से समझ लेना है कि भारतवर्ष की अनेकानेक भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रवृत्तियो और सास्कृतिक जीवन-प्रवाहो को देखते हुए इस देश में मुस्लिम-समाज के लिए यह सभव नही है कि वह अपनी डफली अलग ले जाकर अपना कोई अलग राग छेड सके। इस प्रयत्न का फल या तो आत्म-हत्या होगा या लाख-लाख चेष्टा करने पर भी उस डफली मे से चिर-भारतीयता का वही राग निकलेगा जिससे चिढ़ कर मुसल्मान अलहदगी के चक्कर मे पडना चाह रहे हैं। दूसरी ओर हम यह भी न भूले कि भारतीय समाज के एक जीवित अंग, मुसल्मानो को, जो पिछले हजार वर्षों मे हमारे जीवन की धारा मे घुलमिल गए हैं, काट फेकना स्वय हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो के खिलाफ़ जाता है। आज दुनिया छोटी होती जा रही है—देशो को सीमाए ताश के पत्तो के महल की तरह गिर रही हैं। राष्ट्रीय सार्वभौमता आज राजनीति के शब्द-कोष मे एक निरर्थक शब्द-मात्र रह गया है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो मे एक प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि आसपास के देश मिलजुल कर अपने राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का काम अपने हाथ मे ले रहे हैं।

हमारी सशक्त राष्ट्रीयता भी विश्व के इस पुनर्निर्माण मे अपना उचित स्थान पा लेने के लिए बेचैन है। उसकी भौगोलिक स्थिति, असीम साधनो और अटूट जन बल को देखते हुए विश्व की आने वाली राजनीति मे उसके अनिवार्य नेतृत्व का चित्र हमारी आंखो के सामने घूम जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि हमारे देश को टुकडों में बांट दिया गया, तो न केवल हमारी राष्ट्रीय महानता के इन स्वप्नो का अन्त होजायगा, बल्कि एशिया भर की प्रगति को एक गहरी ठेस पहुचेगी, और क्षण-क्षण मे सकुचित होनेवाले इस विश्व में एशिया के लिए जो अहितकर होगा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उसका प्रभाव भी अच्छा नही पड़ सकता।

राष्ट्रीय प्रश्नो की इस अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि को हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो का बहाना

लेकर अथवा प्रजातन्त्र के वहुसख्यक शासन की आड़ में हम अपने यहा के अल्प-सख्यक दलों को कुचल दें। इस सम्बन्ध मे तीन बातों पर हमें दृष्टि रखना है। पहिली वात तो यह है कि आन्तर्भारतीय प्रश्नो के समाधान मे हमे वही नीति वरतना है, जिसकी हम अपने राष्ट्र के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय-सघ से अपेक्षा करते हैं। राष्ट्र के लिए आजादी का ध्येय सामने रखते हुए हम अपने देश के किसी सगठित अग को भी उतनी ही आजादी का उपभोग करने से रोक नहीं सकते। सच तो यह है कि आज विश्व में जहा एक ओर राष्ट्रीय सार्वभौमता को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में मिला देने का प्रयत्न चल रहा है, दूसरी ओर राष्ट्र के भीतर के सास्कृतिक विभिन्नता रखने वाले सभी सगठित वर्गों को अधिक से अधिक आतरिक स्वशासन दिये जाने की प्रवृत्ति भी ज़ोर पकड रही है। दूसरी वात यह है कि प्रजातंत्र का सच्चा अर्थ यह कभी नहीं होता कि वहुसख्यक वर्ग अल्पसख्यक वर्ग या वर्गों को, अपनी सख्या के वल से, सदा के लिए दवाये रखे। प्रजातन्त्र का अर्थ, अब्राहम लिंकन के शब्दों में, जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिए शासन है। अब्राहम लिंकन ने वहुसख्यक वर्ग के शासन की वात नहीं कही। किसी एक वर्ग या दूसरे वर्ग पर शासन चाहे किसी नाम से पुकारा जा सके, प्रजातन्त्र-शासन नहीं कहला सकता। प्रजातन्त्र-शासन तो समस्त प्रजा द्वारा समस्त प्रजा का ऐसा शासन है जिसमें प्रजा के हितो को दृष्टि मे रखा गया हो। तीसरी वात, जो हमें ध्यान में रखना है, यह है कि मुसल्मानों को अल्पसख्यक वर्ग के नाम से पुकारना राजनीति की वस्तु-स्थिति का उपहास करना है। मुसल्मानों की आवादी ९ करोड़ से अधिक है—इग्लैंड की आवादी से दूनी और कनाडा से ९ गुनी। उनकी अपनी सभ्यता और सस्कृति, खान-पान और पहरावा, भाषा और आचार-विचार हैं। यदि कुछ व्यावहारिक कठिनाइया और कुछ सैद्धान्तिक उलझनें न होतीं तो उनके एक राष्ट्र मान लिये जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इतने वडे समाज को सदा के लिए एक अल्प-सख्यक वर्ग में परिणत कर देना प्रजातन्त्र की भावना का खुला विरोध करना है। हमारी राजनैतिक समस्या निस्सन्देह एक गम्भीर समस्या है। पाकिस्तान की स्थापना असम्भव है, पर यदि हम अपने देश के लिए एक स्थायी वैधानिक योजना चाहते हैं तो उसमें मुसल्मानों को सपूर्ण सास्कृतिक अधिकार और अधिक से अधिक आर्थिक सुविधाएं देनी होगी, और साथ ही मुस्लिम प्रांतों को पूर्ण- स्वशासन और केन्द्रीय शासन में मुसल्मानों को एक प्रमुख स्थान देना भी आवश्यक होगा।

पर, वैधानिक योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक अंग्रेजी

सरकार भारतीय शासन पर से अपना नियत्रण हटा लेने के लिए तैयार न हो। मैं जानता हू कि देश मे एक वर्ग ऐसा है जो मानता है कि अग्रेज हिन्दुस्तान को आजादी देने के लिए कभी तैयार न होगे। आज़ादी, सचमुच, कभी किसी एक कौम ने दूसरी कौम को नहीं दी है। पर एक कौम दूसरी को सदा के लिए गुलाम भी कब रख सकी है? स्पेन का समस्त बल हॉलैण्ड को आजाद होने से रोक नही सका, फ्रास इग्लैण्ड के आधिपत्य से निकल कर संसार के महान् राष्ट्रो की श्रेणी मे जा पहुचा। इटली और जर्मनी आस्ट्रिया के प्राधान्य को ठुकरा कर स्वतन्त्र हो गए। पहिले महायुद्ध मे टर्की और रूस के साम्राज्य टूटे। इस युद्ध मे जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यो की धज्जिया बिखर रही है। स्वतत्रता अजीब चक्करदार रास्तो से होकर आती है। राजनैतिक परिस्थितियो का एक बवण्डर-सा उठ खडा होता है और तब, कल तक जो राष्ट्र गुलाम होते हैं वह आख मल कर उठ कर खडे होते हैं कि, वह आज आजाद है। इन परिस्थितियो में राष्ट्रीय शक्ति का विकास, अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तिया और शासक-देश की आतरिक दुर्बलता प्रमुख है। परिस्थितियो का दबाव आज हिन्दुस्तान के पक्ष मे पड रहा है, इसमे तो संदेह है ही नही। हिन्दुस्तान को अधिक दिनो तक गुलाम नहीं रखा जा सकेगा। आज तो दूर क्षितिज पर स्वतत्रता की रक्त-पताकाए अस्पष्ट-सी चमक भी उठी हैं, और डर यह है कि स्वतन्त्रता आये और कही हम अपने को तैयार न पाए। यह पुस्तक ऐसी ही परिस्थिति के लिए हमारी तैयारी को दिशा मे एक विनम्र प्रयत्न है।—और यदि क्षितिज के ये रेखा-चित्र केवल काल्पनिक हो और आजादी के लिए हमारा एक और बडे सघर्ष के बीच से गुजरना जरूरी होजाय तो भी, मैं आशा करता हू, आज की राजनैतिक प्रवृत्तियो का यह विश्लेषण हमे आगे का मार्ग निश्चित करने मे कुछ सहायता ही पहुचाएगा।

: २ :

हिन्दू-मुस्लिम संबंध : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राथमिक संपर्क

मुसल्मानों के सपर्क में आने के पहिले हिन्दू-सभ्यता विकास के एक ऊचे शिखर तक पहुच चुकी थी। धर्म और सस्कृति, कला और विज्ञान, साहित्य और सदाचार, सभी में उसने एक अद्वितीय महानता प्राप्त कर ली थी। उधर, अरब मे, इस्लाम की स्थापना के साथ, एक ऐसी सभ्यता का जन्म हुआ जो अपने जीवन की प्राथमिक शताब्दियो मे ही, कई मृतप्राय संस्कृतियों को पुनर्जीवित करतीहुई और स्वय अपने मे नये-नये तत्त्वों का समावेश करती हुई स्पेन के पश्चिम से चीन के दक्षिण तक फैल गई। इन दो महान् सस्कृतियों का सपर्क, हमारे देश में, उत्तरी भारत की मुस्लिम-विजय से कई शताब्दियों पहिले आरम्भ होचुका था। इस सपर्क का सूत्रपात दक्षिण-भारत मे हुआ। दक्षिण-भारत से अरब वासियों के व्यापारिक सबंध शताब्दियों पहिले से चले आरहे थे। उनके इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेने से इन सबधों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ी। दक्षिण भारत के हिन्दू-निवासी उसी प्रेम और आदर से अरब वालों का स्वागत करते रहे, जैसे वह पहिले किया करते थे। मुसल्मानों के लिए स्थान-स्थान पर मस्जिदें बना दी गईं।[1] मलाबार के कई राजाओ ने इस नये धर्म में दीक्षा ले ली थी।[2] दक्षिण के प्रायः सभी राज्यों में मुसल्मान उच्च पदों पर नियुक्त किये जाने लगे थे।[3] मालिक काफूर ने जब दक्षिण

१—मसूदी ने, जो दसवीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिण भारत में आया था, मलाबार के एक ही नगर मे दस हज़ार मुसलमानों को बसे हुए पाया। अबू दुलफ़ मुहालिहल, इब्न सईद व मार्को पोलो ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। इब्न बतूता ने चौदहवीं शताब्दी में समस्त मलाबार-प्रदेश को मुसलमानों से भरा हुआ पाया। उसने स्थान-स्थान पर उनकी बस्तियों व मस्जिदों का जिक्र किया है। —इलियट और डॉसन, पहिला भाग।

२—लोगन : मलाबार, पहिला भाग, पृ० सं० २४५।

३—सुन्दर-पांड्य के शासन-काल में तक़ीउद्दीन को मन्त्रित्व का भार सौंपा गया और कई पीढ़ियों तक यह पद उसी के कुटुम्ब में रहा। उसके पुत्र सिराजुद्दीन व पौत्र निजामुद्दीन द्वारा शासन-सचालन के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। —इलियट व डॉसन, तीसरा भाग।

भारत पर आक्रमण किया तो वीर बल्लाल की जिस सेना ने उसका मुकाबिला किया था, उसमे २०००० मुसलमान भी थे।[1] इन सम्पर्कों का प्रभाव दक्षिण-भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

उत्तरी-भारत पर मुसल्मानो ने कई शताब्दियों के बाद आक्रमण किया। तब तक इस्लाम की दुनिया बदल चुकी थी। इन नये-नये आक्रमण-कारियो का उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार नहीं था—वे तो उन शिक्षाओ को ठीक से समझ भी नहीं पाते थे, जो पैग़म्बर ने अपने निकट के अनुयायियो को दी थीं। इस्लाम के उदय और उत्तरी भारत के मुस्लिम आक्रमण के बीच कई शताब्दियां, जिन्होंने इस्लाम के इतिहास में कई उतार-चढाव देखे थे, उमय्यद-काल की प्रचण्डता और अब्बासी-काल का वैभव, सभ्य ईरान की धार्मिक कट्टरता और बर्बर मगोलो की पाशविक रक्त-पिपासा। ये आक्रमणकारी या तो लूटमार के उद्देश्य से हमारे देश में आये, या मध्य एशिया की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो से विवश होकर, आश्रय की खोज मे। मुहम्मद ग़जनी का स्पष्ट उद्देश्य हमारे मदिरों और तीर्थ-स्थानों में एकत्रित की गई अपार धन-राशि को लूट ले जाने का था। उससे वह गजनी की समृद्धि को बढाना चाहता था, और साथ ही सफल आक्रमणो से प्राप्त प्रतिष्ठा का उपयोग मध्य एशिया मे अपनी राजनैतिक स्थिति को मजबूत बनाने में लगाना चाहता था।[2] मोहम्मद गोरी और उसके साथियो के सामने यह आकाक्षा भी नही थी। मध्य-एशिया मे उनके लिए कोई स्थान नही रह गया था। हिन्दुस्तान की राजनैतिक दुरवस्था से लाभ उठा कर वह यहा अपने लिए छोटे-मोटे राज्यो की स्थापना कर लेना चाहते थे।

विजय का उद्देश्य चाहे कुछ भी रहा हो, पर उत्तरी भारत के मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जिन उपायों का सहारा लिया वे बर्बर और नृशसतापूर्ण थे—और इस कारण इस प्रदेश की जनता के मन में इस्लाम की जो कल्पना प्रविष्ट कर सकी वह दक्षिण के अपने देशवासियो से बिल्कुल भिन्न थी। इस्लाम धर्म के मूल-तत्वो से अधिक उसके मानने वालों के वहशी कारनामे उनके सामने आए। ऐसी परिस्थिति मे, यदि दोनो सस्कृतियों के बीच अविश्वास की भावना कुछ समय के लिए व्यवधान के रूप में आ खड़ी हुई, तो इसमे आश्चर्य ही क्या था? हिन्दू अपने राजनैतिक संगठन की कमजोरी के कारण, मुसल्मानो की विजय के रास्ते में कोई रुकावट खडी न कर सके, पर उनकी बर्बरता और धार्मिक असहिष्णुता से खीझ कर उन्होंने अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन

१—इब्न बतूता ने इस घटना का जिक्र किया है।

२—प्रो० हबीब : Mahmud of Ghaznı

के चारों ओर एक मजबूत क़िलेबन्दी कर ली। मुसल्मान तेजी से एक के बाद दूसरे प्रदेश को जीत सके, पर उनके निवासियों के सामाजिक जीवन में उनका प्रवेश बिल्कुल निषिद्ध था। वह हमारे खान-पान और विवाह-सम्बन्धों से बहिष्कृत थे। यह पहिला अवसर था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर बहिष्कार और असहयोग की इतनी मजबूत दीवारें खड़ी करली थीं। इसके पहिले सदा ही बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी यह पहिला ही अवसर था जब मुसल्मान किसी देश में पहुंचे हों, वहां अपनी राजनैतिक सत्ता क़ायम कर सके हों, पर उस देश के सामाजिक जीवन से इस प्रकार अलहदा फेंक दिये गए हों। असहयोग की जो मनोवृत्ति एक बार बनी, वह काफ़ी दिनों तक सामाजिक संगठन की जड़ों को सींचती-पोसती रही। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने, जो बहुत कम दिन टिक सकीं, मुस्लिम-समाज में भी सामाजिक असहयोग की इस भावना को दृढ बनाया। मुसल्मान बहुत थोड़ी संख्या में इस देश में आये थे, और थोड़े ही दिनों में आंधी की तरह चारों ओर फैल गए थे, और महासागर में फैले हुए द्वीपों के समान उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य खड़े कर लिए थे। जनता के संगठित तिरस्कार के सामने उनके लिए भी यह जरूरी होगया कि वह मुस्लिम समाज के सभी तत्वों—उलमा, अमीर व जन-साधारण—को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करें। मुसल्मानों का राज्य में एक विशिष्ट स्थान बन गया—हिन्दुओं के प्रति अविश्वास की भावना प्रमुख थी। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पहिले के कुछ वर्षों—शायद दशाब्दियों तक—हिन्दू और मुसल्मानों में जो आपसी संबंध रहे, दुर्भाग्यवश, कुछ स्वार्थी और ग़ैरजिम्मे-दार इतिहासकारों ने उन्हें ही एक हजार वर्ष के इतिहास में परिणत कर दिया है।

रचनात्मक प्रवृत्तियां

प्रारम्भिक-काल की अविश्वास और असहयोग की यह प्रवृत्ति सर्वथा अस्वाभाविक थी, और अधिक दिनोंतक टिक नहीं सकती थी। दो जीवित, जाग्रत, उन्नतिशील संस्कृतियां इतने निकट संपर्क में रह कर अपने को एक-दूसरे के प्रभाव से बचा नहीं सकती थीं, और फिर मुसल्मान तो इतनी कम संख्या में इस देश में आये थे कि बिना जनता के सहयोग के वह किसी स्थायी राज्य की नींव डाल ही नहीं सकते थे। इसी कारण हम देखते हैं कि ईल्तुतमिश ने मुसल्मानों के आंतरिक संगठन की जिस नीति को जन्म दिया था, और जो प्रारम्भ में मुस्लिम राज्य की स्थापना में सफल भी हुई थी, वह उसकी मृत्यु के बाद कुछ दिनों भी न चल सकी। बलबन ने उसकी उपेक्षा की। अलाउद्दीन खिल्जी ने धर्म और राजनीति के भेद को कुछ अधिक स्पष्ट किया। मुहम्मद

तुग़लक ने एक विरोधी नीति को विकास को चरम सीमा तक पहुचा दिया।

ये रचनात्मक प्रवृत्तिया राजनैतिक क्षेत्र में तो प्रगट हो ही रही थीं, परन्तु धार्मिक और सास्कृतिक तौर पर वे और भी अधिक सशक्त बनती जारही थीं, इसका कारण था मुसल्मान आक्रमणकारियो के साथ ही साथ इस देश मे प्रवेश करने वाले मुसलमान संतो और सूफ़ियो की एक अनवरत शृङ्खला, जिसने हमे न केवल बाहर के मुस्लिम देशो की विचार-धाराओ के संस्पर्श मे रखा, पर जो हमारी सस्कृति की जडो को अपनी आध्यात्मिकता से सीचती और पोसती भी रहीं। आज जो हम अपने देश की आबादी का २४ फीसदी इस्लाम के अनुयायियो का पाते हैं, उसके पीछे न तो मुसल्मान शासकों की धर्मान्धता है, न मुसल्मान प्रचारकों की जबर्दस्ती।[1] उसके पीछे तो हमारे समाज की आन्तरिक विषमता और इन सन्तों के व्यक्तित्व का प्रबल आकर्षण है। दसवीं शताब्दी में मंसूर अल हल्लाज, ग्यारहवीं मे बाबा रीहान और उनके दर्वेशो का दल व शेख़ इस्माईल बुख़ारी, बारहवीं में फरीदुद्दीन अत्तार और तजाकिरत उल औलिया, तेरहवीं मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और शेख जलालुद्दीन तबरेजी व सैयद जलालुद्दीन बुखारी और बाबा फरीद, चौदहवी मे अब्दुल करीम अलजीली—और इस सबके साथ असंख्य छोटे-मोटे प्रचारक—इन सब का एक ताता-सा बना रहा। उनके व्यक्तित्व और प्रचार का हिन्दू-समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पडा।[2] मुसल्मान और हिन्दू सभी सन्तो को आदर की दृष्टि से देखते थे, और उनके प्रशंसको व भक्तो में सास्कृतिक भेद-भाव अपने आप कम हो चले थे। आज भी हम उनकी दरगाहो पर लाखो की सख्या में हिन्दुओं को इकट्ठा होते हुए पाते हैं। अजमेर में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर हर रोज तीन घण्टे नौबतख़ाना बजता है। हुसैनी ब्राह्मण व मल्कान राजपूत भी हमारे बीच हैं, जो रमजान के दिनो में रोजे भी उसी आस्था से रखते हैं जिससे वह हिन्दू व्रतो का पालन करते हैं। सिन्ध के मशहूर सत करीमशाह के सबध मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होने एक वैष्णव साधु से 'ओम्' मत्र की दीक्षा ली थी। उनकी जीवनी में लिखा है कि यह मत्र उनके लिए 'एक अंधेरे कमरे में घूमते हुए दीपक के समान' बन गया था। इसी प्रकार झङ्ग के प्रसिद्ध साधु बाबा साहना के सम्बंध मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने एक मुस्लिम सत से दीक्षा ली, और तब महरबाबा कहलाने लगे।[3] इस प्रकार, दो महान् सस्कृतियो की,

१–T. W. Arnold . Preaching of Islam.

२–ताराचन्द : Influence of Islam on Indian Culture.

३–क्षितिमोहन सेन · Medieval Mysticism

विभिन्न दीखने वाली दो विशाल-धाराए हमारे देश के प्रयाग मे, गगा और यमुना के समान, एक दूसरे से जा मिलीं—एक भारतीय सस्कृति के निर्माण मे सतत आगे बढते रहने के लिए।

सामाजिक सहयोग

यहा हमें यह भी भूल नहीं जाना है कि इस देश में मुसलमानो की सख्या, जो लगातार बढती गई उसका कारण यह नहीं था कि वे लोग बहुत बड़ी सख्या में बाहर से आये थे। बाहर से आनेवालो की सख्या नगण्य थी। उनमे से अधिकाश, ६० या ६५ फीसदी, ऐसे थे जो इस देश की प्राचीन सस्कृति के प्रश्रय मे पले थे। उन्होंने जब मुसल्मान धर्म स्वीकार किया तब वह अपने समाज के वे सब आचार-विचार, जो वह सदियों से मानते आरहे थे, इस्लाम में ले गए। जो थोड़े से मुसल्मान बाहर से आये भी थे वे उनके सामाजिक आचार पर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सके, क्योंकि स्वय उनकी आत्माओं मे इस्लाम का प्रवेश बहुत गहरा न था, वे तो भिन्न-भिन्न फिरको में बटे हुए साधारण व्यक्ति थे, जो एक अस्थायी लाभ की खोज मे इस देश में चले आये थे। सत और सूफी धर्म-प्रचारको का उद्देश्य साधना के मार्ग पर लोगो को प्रवृत्त करना था—सामाजिक सगठन की विभिन्नता को सुरक्षित रखने अथवा उनका निर्माण करने पर उनका आग्रह नहीं था। उनके प्रभाव मे जिन लाखो व्यक्तियो ने इस्लाम की दीक्षा ली, वे उस समाज-व्यवस्था से तनिक भी परिचित न थे जिसका विकास मुसलमानों ने इस देश के बाहर किया था।

ऐसी परिस्थिति में वही हुआ जो कि स्वाभाविक था। इस देश के उन असख्य आदिम निवासियों ने, जिन्होंने इस्लाम धर्म में दीक्षा ले ली, न तो अपनी सदियों से चली आने वाली प्राचीन समाज-व्यवस्था को आघात पहुचाने की चेष्टा की, और न उसके मुकाबिले में किसी अन्य समाज-व्यवस्था का निर्माण किया।[1] मुसल्मान धीरे-धीरे हिन्दू-सस्थाओ को ही अपनाते गए। इस प्रकार आदि-काल से चली आने वाली ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की छत्र-छाया में एक नये समाज का निर्माण हुआ, जिसमें विविध धर्मावलम्बी तो थे, पर जो एक ही समाज-व्यवस्था को मानते थे। शहरो में संगठन की दिशा कुछ भिन्न थी। पर वहा भी हिन्दू और मुसल्मान सरकारी नौकरियो में अथवा वाणिज्य और व्यापार के सूत्रों द्वारा एक-दूसरे के निकट-सपर्क में आते गए। शासन-व्यवस्था में हिन्दू अधिकारियो की सख्या धीरे-धीरे बढती गई। चारों ओर सहयोग, साह-

१—बी० के० मल्लिक Individul and the Group : A Study in Indian Conflict

चर्य और सौहार्द्र की भावना ने जोर पकडा। जो बर्बर विजेता के रूप में आये थे, वह हमारे सामाजिक जीवन के एक अग बन गए। केवल एक चीज व्यवधान बन कर हमारे बीच खडी रह गई थी। वह थी धार्मिक विभिन्नता—पर धर्म धीरे-धीरे व्यक्ति के निजी विश्वास और आचार की वस्तु बनता जारहा था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के आचार और व्यवहार के प्रति सहिष्णु बनते गए, और सामाजिक धरातल पर उन्होने एक-दूसरे के धार्मिक कृत्यो मे भी उदारता से भाग लेना आरम्भ कर दिया।

धार्मिक सहिष्णुता

सामाजिक सहयोग के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी प्रबल होती चली। ऊपर से देखने से तो यह जान पड़ता है कि मूर्त्ति-पूजक हिन्दू-धर्म और मूर्त्ति-भजक इस्लाम में कहीं तादात्म्य है ही नहीं। पर कई शताब्दियो पहिले से बौद्ध-धर्म और हिन्दू वेदान्त के प्रचारक उन देशो में फैले हुए थे, जहा बाद मे इस्लाम का प्रचार हुआ। सूफी मत के इतिहास के उत्तरी-काल मे उनका प्रभाव बहुत स्पष्ट है—यद्यपि यह सच है कि सूफी रहस्यवाद की बुनियाद हमे कुरान-शरीफ़ की कुछ आयतो मे ही मिल जाती है। फना, तरीका, मराकबा आदि सूफी-सिद्धातो मे निर्वाण, साधना, योग आदि की कल्पना स्पष्ट झलकती है। दूसरी ओर, इस्लाम के सिद्धातो का भी बहुत बडा प्रभाव हिंदू-दर्शन पर पडा। सुधार की नई धारा का प्रारम्भ दक्षिण भारत से ही हुआ था, जहा हिंदू-दर्शन पहिली बार इस्लाम के सिद्धातो के संपर्क मे आया था। दक्षिण-भारत में बौद्ध और जैन धर्मो के रूखे अध्यात्म की प्रतिक्रिया के रूप मे शैव और वैष्णव पथो का प्रारम्भ हुआ। इनका आग्रह जीवन के उपासना-पक्ष पर था। उपासना के आधार के लिए सगुण ब्रह्म की आवश्यकता पडी। यह कहना कठिन है कि सगुण ब्रह्म की कल्पना के पीछे इस्लाम के नये सिद्धातो का प्रभाव कितना था। पर शकराचार्य के अध्यात्म-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव, जो उनकी जन्मभूमि के आसपास पूरे जोर पर था, बिल्कुल भी नहीं था, यह मानना भी कठिन है। मध्यकाल का हिंदू-दर्शन ज्यों-ज्यो विकास पाता गया, इस्लाम का प्रभाव उस पर अधिक स्पष्ट होता गया। शकराचार्य के अद्वैतवाद ने धीरे-धीरे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का रूप लिया, और तब वह वल्लभाचार्य के द्वैतवाद मे विकसित हुआ। द्वैतवाद की मनोरम कल्पना की कोमल भूमि पर, सूफी-मत के अधिक सीधे सपर्क के परिणाम स्वरूप, भक्ति की धारा का फूट निकलना तो सहज स्वाभाविक ही था।

उत्तरी भारत मे तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवी शताब्दियों में जो सिद्धान्त

फैले उन पर तो मुस्लिम-प्रभाव बहुत सीधा ही पड़ रहा था। रामानद ने विष्णु की कल्पना को और भी सहज-सुलभ बना कर राम का रूप दिया, उन्होंने भक्ति की दीक्षा चारो वर्णों को दी—उनके अनुयायियो मे से अधिकाश जुलाहे, चमार आदि ही थे। कबीर ने तो रीति-रिवाज और जात-पॉत को उठाकर एक ओर रख दिया, और राम और रहीम की एकता का सदेश जन-साधारण तक पहुचाया। उनके सिद्धान्तों पर रूमी, सादी और दूसरे सूफी कवियों और सन्तो का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। नानक और दादू की साखियों में हिन्दू और मुसल्मान धर्मों के सामञ्जस्य के इस प्रयत्न को हम और भो बढा हुआ पाते हैं। नानक सूफो रग में इतने रग गए थे कि हिन्दू धर्म का उन पर कितना प्रभाव था, यह जानना कठिन है। वैदिक और पौराणिक सिद्धान्तो की उन्हें कम ही जानकारी थी। दादू का भी यही हाल था। दो-तीन शताब्दियों तक समस्त देश भक्ति की उत्ताल तरगों में, एक नई प्रेरणा से स्पदित-विभोरित होकर डूबता-उतराता रहा। हिंदुओं मे भक्ति-आन्दोलन अपने पूरे जोर पर था, और मुसल्मानों में सूफियो की नई-नई जमातें—चिश्तिया, सुहरावर्दिया, नक्शबन्दी आदि—'प्रेम की पीर' का प्रचार कर रही थीं। भावना के इस व्यापक प्रदेश में हिन्दू और मुसल्मानो का एक-दूसरे के समीप से समीपतर आते जाना स्वाभाविक ही था।

उससे भो नोचें स्तर पर, जहा जनसाधारण के आचार-विचार, रीति-रिवाज और पूजा-मानता का सम्बन्ध था, हिन्दू और मुसलमानों का यह भाव प्रायः बिल्कुल ही मिट गया था। हुसैनी ब्राह्मणों और मल्कान राजपूतो को चर्चा ऊपर आचुकी है। मुस्लिम सतो के हिन्दू साधुओ से, और हिन्दू साधकों के मुसल्मान फकीरों से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करने व गुरु-दक्षिणा लेने के अनेकों उदाहरणों से मध्य-काल का इतिहास भरा पड़ा है। साधक हिन्दू अथवा मुसल्मान कोई भी हो उसके अनुयायियों मे दोनों ही समाजों के अनेक व्यक्ति रहा करते थे। आज भी उनकी शव-समाधियों पर जो वार्षिक मेले लगते हैं उनमें हिन्दू और मुसल्मान सभो इकट्ठा होते हैं। सिन्ध के प्रसिद्ध कवि-साधक शाह अब्दुल लतीफ की समाधि पर प्रत्येक बृहस्पतिवार को आज भी असख्य हिन्दू और मुसलमान मिल कर कबीर, दादू, नानक और मीराबाई के भजन गाते है। क्षेमानन्द के 'मानस-मगल' में, जो सत्रहवीं शताब्दी मे लिखा गया था, बगाल के एक राजा के कमरे में कुरान शरीफ के मौजूद होने का जिक्र है। 'सैर उल-मुताखरीन' में लिखा है कि नवाब मीरजाफर अपने सब शहरियो के साथ गगा-पार होली खेलने जाया करते थे, और मरने के वक्त उन्होने किरी-तेश्वरीदेवी की मूर्त्ति को जिस पानी से नहलाया था, उसका आचमन किया

था। 'बेहुला सुन्दरी' नाम की एक बगला-कविता मे लिखा है कि जो ब्राह्मण नायक की यात्रा के लिए शुभ-दिन निश्चित करने के लिए इकट्ठा हुए थे, उन्होने कुरान मे 'फ़ाल' देख कर अपना निश्चय बनाया था। एक दूसरे काव्य-ग्रन्थ मे हम मुसल्मान नायक का सर्पियो से वरदान मांगने के लिए पाताल जाने का वर्णन पाते हैं। सत्य-पीर नाम के देवता मे तो समस्त बगाल की जनता, हिन्दू और मुसल्मान दोनो, का अखड विश्वास था।[१]

राजनैतिक समझौता

हृदय की इस एकता के आधार पर राजनैतिक समझौते की भावना का विकसित होना अनिवार्य था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय इतिहास के समग्र मुस्लिम-काल में केवल दो मुसल्मान शासक, फीरोज़ तुग़लक और औरङ्गजेब, ऐसे हुए हैं जिन्होने अपने शासन-काल मे धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया, और वह भी थोड़े वर्षों के लिए और विशेष राजनैतिक परिस्थितियो के कारण। अन्य शासको ने, और इन दोनो शासको ने भी अपने शासन-काल के शेष भाग मे धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की नीति का ही पालन किया। कुछ ने इस्लाम का पक्ष लिया, पर हिन्दू धर्म के साथ दुर्भावना नही रखी। अकबर के बहुत पहिले काश्मीर का सुल्तान जैनुल-आबिदीन अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के लिए प्रसिद्ध था। उसने जजिया हटा दिया था, और संस्कृत के कई ग्रन्थो का फ़ारसी मे अनुवाद किया। बंगाल में सुल्तान अलाउद्दीन हुसैनशाह ने भी इसी नीति का पालन किया। शेरशाह हिन्दू-जनता मे 'वक्फ' बॉटा करता था। सम्राट् अकबर के शासन-काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरम-सीमा तक जा पहुची। मुगल-सम्राटो के समस्त शासन का संगठन जिन सिद्धान्तो पर किया गया था वे भारतीय पहिले थे, सैरेसेनिक, ईरानी या मुस्लिम बाद में। सस्थाओं मे थोडा हेर-फेर हुआ, पर वह मूलतः वही रहीं जो सनातन-काल से चली आ रहीं थीं। धार्मिक-सहिष्णुता की नीति ने भारतवर्ष के मुस्लिम शासन मे धर्म का स्थान ले लिया था।

राजनैतिक सम्बन्धो के निर्धारण मे धर्म का कभी कोई विशेष हाथ नही रहा। चौदहवीं और पन्द्रहवी शताब्दियो में गुजरात, मेवाड़ और मालवा मे लगातार संघर्ष रहा, पर इस संघर्ष मे गुजरात के सुल्तान प्रायः उतनी ही बार मेवाड के राणा के पक्ष में, और मालवा के सुल्तान के खिलाफ़ लड़े जितनी बार वह मालवा के सुल्तान के पक्ष मे और मेवाड़ के राणा के खिलाफ़ लड़े थे। बाबर

१—कालीकिंकरदत्त Studies in the History of the Bengal Subah

और हुमायू ने, पठानों के खिलाफ़, राजपूतो का साथ दिया। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भी निजाम मराठा-साम्राज्य के अन्तर्गत था न कि मैसूर के सुल्तान के साथ, और राजपूतों की सहानुभूति मराठों के साथ कम और रुहेलो के साथ ज्यादा रही। मुगल-साम्राज्य द्वारा स्वीकार की गई धार्मिक सहिष्णुता की नीति का ही यह परिणाम था कि उसके पतन के डेढ सौ वर्ष बाद भी, १८५७ के विद्रोह मे, मुगल-वश के किसी उत्तराधिकारी को ही समस्त देश का शासक बनाने का प्रयत्न किया गया। बीच मे भी इस प्रकार के प्रयत्न चलते रहे थे। उत्तर-भारत मे १७७२ से १७६४ ई० तक महादजी सिन्धिया का आधिपत्य रहा, पर अपने शासन के लिए यथेष्ठ नैतिक बल प्राप्त करने की दृष्टि से उनके लिए यह आवश्यक होगया कि वह मुगल-वश के शाह आलम को अग्रेजो की क़ैद से छुडा कर दिल्ली की गद्दी पर बिठाए, और उसके नाम से शासन करें। किसी भी साम्राज्य के पतन के बाद उसके प्रति जनता की इतनी गहरी भक्ति का प्रदर्शन साम्राज्यो-के इतिहास में एक अनहोनी-सी घटना है।

सांस्कृतिक समन्वय

राजनैतिक एकता का सहारा लेकर सास्कृतिक समन्वय का विकास हुआ। इस प्रवृत्ति का आरम्भ तो एक सामान्य भाषा की उत्पत्ति के साथ ही हो चुका था। हिन्दी ब्रजभाषा और फारसी के सम्मिश्रण का परिणाम थी। उसका शब्दकोष, वाक्य-विन्यास, व्याकरण, सभी दोनो भाषाओं की सामान्य देन हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने इस भाषा को धनी बनाया। अमीर खुसरो हिन्दी भी उतनी धारा-प्रवाह लिख सकते थे जितनी फारसी। अकबर ने उसे प्रोत्साहन दिया। खानख़ाना, रसखान और जायसी हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। जायसी तो मध्यकालीन हिन्दी के तीन सर्व-श्रेष्ठ लेखकों मे हैं, और हृदयकी सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति में कई स्थलो पर तुलसी और सूर से भी बाजी ले गए हैं। अन्य प्रातीय भाषाओं—मराठी, बंगला, गुजराती, सिंधी आदि—पर भी मुसलमानों का उतना ही गहरा प्रभाव पडा। मराठी बहमनी-वश के सरक्षण मे ही साहित्यिकता की सतह तक उठ सकी। बगला का विकास भी मुस्लिम-शासन की स्थापना के परिणाम-स्वरूप ही हुआ। स्व० दिनेशचन्द्र सेन का मत है कि "यदि हिन्दू-शासक स्वाधीन बने रहते तो (सस्कृत के प्रति उनका अधिक ध्यान होने के कारण) बगला को शाही दर्बार तक पहुचने का मौका कभी नहीं मिलता।"[1] जायसी के अवधी-भाषा में लिखे हुए पद्मावत की फारसी-लिपि की अनेक प्रतिया अराकान और चटगाव के ग्रामीण मुसलमानो के पास से प्राप्त हुई हैं। पद्मावत का

१—दिनेशचन्द्रसेन . A History of Bengali Literature

बगला अनुवाद भी एक मुसल्मान कवि ने ही किया था। दारा-शिकोह ने हिंदुओ के उपनिषदो व अन्य धर्म-ग्रन्थो का फारसी मे अनुवाद किया—इसी के इटैलियन भाषा के अनुवाद ने पश्चिम के विद्वानो का ध्यान हिन्दुओ के धर्म-ग्रन्थो की ओर खीचा। फैजी ने महाभारत का अनुवाद फारसी मे किया। हिन्दुओ और मुसल्मानो के साहित्य की साधना मे एक रूप हो जाने के अनेको उदाहरण मध्य-कालीन भारत के इतिहास मे मिलते हैं।

सास्कृतिक समन्वय की यह प्रवृत्ति वास्तु-कला और चित्र-कला के क्षेत्रो मे अपनी चरम-सीमा तक पहुची है। मुस्लिम वास्तु-कला का सर्वोच्च विकास इसी देश मे हुआ। काहिरा की मस्जिदो में भी, फैज पाशा के शब्दो में, "कला की सम्पूर्ण मनोरमता नहीं है। सामञ्जस्य, अभिव्यक्ति, सजावट, सभी मे एक ऐसी अपूर्णता है—जो बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित करती है।" ईरान की मुस्लिम-कला में भी हम यही बात—भव्य सजावट और वैज्ञानिक कौशल का अभाव—पाते है। ताजमहल हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तु-कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। परन्तु, वह ससार की अन्य इस्लामी इमारतो से बिलकुल भिन्न है। उसके निर्माण मे हिन्दू शिल्प-शास्त्रो के सिद्धान्तो का अधिक पालन किया गया है। बीच के बडे गुम्बद और उसके चारो ओर चार छोटे-छोटे गुम्बद पञ्चरत्न की कल्पना का स्मरण दिलाते हैं। गुम्बद की जडो मे कमल की खुली हुई पखडिया हैं, जो मानो गुम्बद को धारण किए हुए हैं। शिखर के समीप कमल की उल्टी पखडिया हैं। शिखर के ऊपर त्रिशूल है। हैवल ने ठीक ही लिखा है कि सैंटपाल का गिर्जा और वेस्टमिस्टर एबे अग्रेजी-कला के उतने सच्चे नमूने नहीं हैं, जितना ताज हिन्दुस्तानी कला का।[1] लेकिन हैवल के इस कथन से मैं सहमत नहीं हू कि हिदुस्तान मे मुस्लिम वास्तु-कला इस कारण ही महान् हो सकी कि उसका विकास उन हिन्दू कारीगरो के हाथो हुआ जो हिन्दू-सस्कृति मे डूबे हुए थे। इस देश मे आने के पहिले ही मुसल्मान इस क्षेत्र मे बहुत महत्व-पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके थे। मुस्लिम-काल की भारतीय वास्तु-कला के पीछे इस्लामी प्रेरणा भी उतनी ही प्रबल है, जितना हिन्दू प्रभाव। सर जॉन मार्शल का मत है कि पुरानी दिल्ली की कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद और ताज के पवित्र और भव्य मकबरे की कल्पना मुस्लिम प्रभाव के बिना नहीं की जा सकती।[2] भारत की मुस्लिम-कला की महानता इसी में है कि वह दो महान् सस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है।

१–E B, Havell Indian Architecture.

२–Cambridge History of India, Vol III

चित्रकला के क्षेत्र में भी हम यही बात पाते है। मुग़ल चित्रकारों के सामने एक ओर तो अजन्ता की पद्धति थी, दूसरी ओर समरकन्द और हिरात, इस्फहान और बग़दाद के चित्रकारो की कृतिया थीं। दोनो के समन्वय से मुगल-कलाका जन्म हुआ। अजन्ताकी कला में एक अभूत-पूर्व जीवनी-शक्ति थी, मध्य एशिया की कला मे समन्वय, सतुलन और सामञ्जस्य की भावना प्रमुख थी। दोनो के मिश्रण से रग का निखार और रेखा की सवेदनशीलता दोनों ने एक अद्भुत प्रगति की। शाहजहा के प्रमुख चित्रकारों में हमें एक ओर तो कल्याणदास, अनूप चतर और मनोहरके नाम मिलते है, और दूसरी ओर मोहम्मद नादिर समरकन्दी, मीर हाशिम और मोहम्मद फकीरुल्ला के। हिन्दू और मुसल्मान कलाकारो ने मिलकर मुगल-चित्रकला का विकास किया था।[1] डॉ०कुमारस्वामी और कुछ अन्य लेखकों ने मुगल और राजपूत कलाओं में कुछ मूलभूत भेद बताने की चेष्टा की है। पर गहराई से देखा जाए तो राजपूत-कला, एक विभिन्न वातावरण मे, मुगल-कला के प्रयोग का ही एक उदाहरण है।[2]

सत्रहवीं शताब्दी · मतभेद के चिह्न

हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो के सहयोग और समन्वय की जो धारा शताब्दियो की सीमाओं को लाघती हुई दिन पर दिन प्रबल होती जा रही थी, सत्रहवीं शताब्दी मे उसके प्रवाह में कुछ रुकावट पडी। इसका मूल-कारण राजनैतिक था, यद्यपि उसके पीछे कुछ सामाजिक प्रवृत्तिया भी काम कर रही थीं। देश मे स्थान-स्थान पर हिन्दुओ ने अपने स्वतत्र-राज्य स्थापित करने आरम्भ कर दिए थे। मराठे और बुन्देले, राजपूत और सिख, सभी एक नई राजनैतिक आकाक्षा से उद्वेलित से हो उठे थे। राजनैतिक आकाक्षाओं को समाज-सुधार की उन प्रवृत्तियों से बल मिला था जो हिन्दू-समाज में इन दिनों व्यापक होती जा रही थीं। कबीर, दादू और दूसरे स्वाधीन-चेता सतों द्वारा रूढिप्रियता और कट्टरता पर जो आक्रमण किया जा रहा था और दूसरी ओर भक्ति के नाम पर जो उच्छृङ्खलता फैलती जा रही थी उसका प्रभाव सामाजिक सगठन पर अच्छा नहीं पड रहा था। इसी कारण महाराष्ट्र व उत्तर-भारत के नए सुधारको—तुकाराम, रामदास, तुलसीदास आदि—समाज की मर्यादाओं को निबाहने पर अधिक जोर देने लगे थे। इस आग्रह से समाज मे आचार की शुद्धता और पवित्रता का विकास हुआ। जीवन की इस नई उत्क्राति का राजनैतिक स्तर पर आजाना अनिवार्य इसलिए भी होगया कि मुस्लिम-शासन उन उदार प्रवृत्तियों के साथ,

१—P. Brown Indian Painting २—ए० के०—कुमार-स्वामी: Rajput Painting.

जिनका विरोध किया जा रहा था, इतना अधिक सम्बद्ध होगया था कि उन्हे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। इसी कारण हिन्दू-समाज की नई सुधार-प्रवृत्तिया, जिनका आधार दृष्टिकोण की उदारता नही, मर्यादाओं का पालन था, मुग़ल-साम्राज्य से जा टकराई।

दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि मुगल-शासन मे भी मुसलमानो का एक ऐसा दल उठ खडा हुआ जिसने उसे कट्टर मुसल्मानो की सस्था बनाने का प्रयत्न किया। इस विचार-धारा को शाहजहा के कमज़ोर शासन-काल मे सगठित होने का अवसर मिल गया। शाहजहा के जीवन के अन्तिम वर्षों मे उसके योग्य पुत्र औरङ्गजेब ने इस दल का नेतृत्व अपने हाथो मे ले लिया। औरङ्गज़ेब कट्टर मुसल्मान तो था ही, शासन के अनुभव और योग्यता मे भी वह अपने सब भाइयो से अधिक बढा-चढा था। गद्दी पर बैठने के बाद कुछ वर्षों तक उसने, हिन्दू स्वत्त्वो का विरोध न करते हुए, इस्लाम के आदर्शों पर शासन का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की। औरङ्गजेब के बनारस वाले फरमान और अन्य आज्ञापत्र इस बात के साक्षी हैं, पर विचारो का वेग, और उसके प्रभाव मे घटनाओं का चक्र, इतना तेजी से चल रहा था कि औरङ्गजेब इस कठिन सिद्धान्त का पालन अधिक दिनो तक न कर सका। ज्यों-ज्यो मराठो और सिखो का सगठित विरोध अधिक तीव्र होता गया, उसे विवश होकर हिन्दू-विरोधी नीति का पालन करना पडा। जजिया फिर से लगा दिया गया। नये हिन्दू-मन्दिरो के बनने का निषेध होगया। परिस्थितियो, और कुछ व्यक्ति विशेषो ने, मुस्लिम शासन को फिर एक बार उसी स्थान पर लाकर खडा कर दिया जहा से उसका प्रारम्भ हुआ था। उसने फिर एक कट्टर मुसल्मानो की संस्था का रूप ले लिया।

इस सबध मे कई बाते ध्यान मे रखना जरूरी हैं। मुस्लिम-शासन को भारतीय जीवन-धारा से अलहदा कर देने का यह प्रयत्न बहुत थोडे मुसल्मानो तक, और केवल राजनैतिक क्षेत्र तक, ही सीमित रहा, सास्कृतिक जीवन का वह स्पर्श न कर सका। इसका तो इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि धर्मान्धता के सबसे अधकारमय युग मे भी स्वय औरङ्गजेब की लडकी हिंदी मे कविता लिखती और हिंदू कवियो को आर्थिक सहायता पहुचाती रही! राज-नैतिक क्षेत्र मे भी यह प्रयत्न गलत था, इसमे तो शक है ही नही। हिंदू अथवा मुसल्मान किसी एक भी समाज के विरोध के आधार पर इस देश में कोई शासन स्थापित नही किया जा सकता। १७०७ मे औरङ्गजेब की मृत्यु के साथ ही इस प्रयत्न का भी अत होगया। भारतीय जीवन की दोनो प्रमुख धाराए फिर एक साथ बहने लगी। औरङ्गजेब के उत्तराधिकारियो के लिए हिंदू जनता का

समर्थन प्राप्त कर लेना जरूरी होगया। शासन को फिर उदारता की नीति बरतनी पडी। इसी बीच कुछ कारण ऐसे हुए जिनके परिणाम-स्वरूप मुस्लिम-समाज में पतनशीलता के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। बाहर के मुस्लिम देशों से उनका सपर्क प्राय. समाप्त ही होता जा रहा था। ईरान के सफवी-वश के पतन के बाद भारतीय मुसल्मानो के लिए प्रेरणा का एक मुख्य स्रोत वद होगया था। इधर हिंदुओं की निम्न-श्रेणियो में से जिन असख्य व्यक्तियो ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, वे भी अपने साथ बहुत ही निम्न-कोटि की सभ्यता लाए थे, उसका भी बुरा असर पड रहा था। मुसल्मानों में गरीबी और शिक्षा का अभाव दोनों बढ़ रहे थे। राजनैतिक सत्ता हाथो से जा रही थी। सम्भव है कि मुग़ल-साम्राज्य यदि फिर अपने प्राचीन बल और वैभव को प्राप्त कर पाता तो दोनों सस्कृतियो के समन्वय की धारा एक बार फिर अपने प्रबल वेग से बह निकलती, पर राजनैतिक परिस्थितिया प्रतिकूल थीं। जो तार एकबार टूटा वह फिर जुड न सका। पर यह सोचना कि धक्का बहुत गहरा अथवा साघातिक लगा, इतिहास की सचाई को ठुकराना है। समाज के अन्तस्तल में शताब्दियो से जिस समन्वय की जड गहरी होती जा रही थी उसे आसानी से उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं था। डा० बेनीप्रसाद के शब्दों में "निकट भूतकाल के अनुभव भुलाए नहीं जा सके। हिदू-मुस्लिम-संस्कृति का जो ढांचा पाच शताब्दियो के ज्ञात अथवा अज्ञात सहयोग-प्रयत्नों द्वारा बनाया गया था वह न सिर्फ कायम ही रहा, पर और मजबूत बनता गया। वह कडी से कडी परीक्षा मे खरा उत्तर चुका था, और देश की पू जी का अग बन चुका था।"[1]

अंग्रेजी शासन का प्रभाव

पतन और अनिश्चय की उस सक्रमण घडी मे अंग्रेज इस देश मे आए, एक नई, सशक्त सभ्यता की चकाचौंध के साथ। इस नई सभ्यता के प्रति हिदू और मुस्लिम समाजों की प्रतिक्रिया ने दो विभिन्न रूप धारण किए। हिंदुओं ने, विशेषकर बगाल के नवयुवकों ने, पश्चिमी-कला और विज्ञान, सभ्यता और सस्कृति से अधिक से अधिक सीख लेने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। ईसाई-मिशनरियों द्वारा खोले गए स्कूलों और छात्रावासो, कपनी के नौकरो के लिए खोले गए फोर्ट-विलियम कालेज व शेलबर्न, डेरोजियो आदि विदेशी शिक्षको के सपर्क के परिणाम-स्वरूप, हिदू-समाज में जीवन और जागृति की एक नई चेतना-लहर उठी। अंग्रेजी तहजीब के प्रति मुसल्मानों का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न था। सैकडो वर्षों के शासन के गौरव को वह आसानी से भुला नहीं सकते

१—बेनीप्रसाद . Hindu Muslim Questions

थे। राज्य के बड़े-बड़े ओहदे उनके हाथ से चले ही गए थे। जो कला-कौशल उनके हाथ मे थे, ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की भारतीय उद्योग-धधो को ख़तम कर देने की नीति से उन पर बडा धक्का लगा। अंग्रेजी शासक भी उनके प्रति सशक ही थे। इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि काफी लम्बे अर्से तक मुसल्मान अंग्रेजी सभ्यता से विमुख और अंग्रेजी शासन से खिचे रहे। इसी कारण हम देखते है कि एक ओर हिन्दू समाज मे जहा ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियो ने जन्म लिया, जो पश्चिमी सभ्यता के अच्छे गुण ले लेने के पक्ष मे थी, वहा मुस्लिम-समाज में फरैजी और वहाबी आदोलन, जो मूलतः अंग्रेजी शासन के खिलाफ थे, फैले। मुसल्मानों का अंग्रेजी शासन के प्रति क्या रुख था, इसका अच्छा परिचय हमें मिर्जा अबू-तालिब की 'अंग्रेजी अहद मे हिन्दुस्तानी तमद्दुन की तारीख' मे मिलता है।

नवयुग और प्राचीन का पुनर्निर्माण

नवीन जीवन की जो चेतना भारतीय समाज में, चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसल्मान, व्यापक होती जा रही थी, उसका मुख्य आधार प्राचीन का ममत्व और उसकी छाया मे नूतन के पुनर्निर्माण का प्रयत्न था। प्राचीन सस्कृति में आत्म-विश्वास की भावना के साथ ही तो इस नवयुग का प्रारम्भ हुआ था। हिदू-समाज मे जिन अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधार प्रवृत्तियो ने जन्म लिया, उनके पीछे प्राचीनता के पुनर्निर्माण की यह भावना स्पष्ट ही है। राजा राममोहन राय द्वारा १८२८ ई० मे स्थापित ब्रह्म-समाज को मुख्य प्रेरणा भारतीय उपनिषदों की महानता मे एक अमर-विश्वास से ही प्राप्त हुई थी। स्वामी दयानद का वेदो की महानता मे उतना ही अखण्ड विश्वास था—उन्होने स्मृतियो और पुराणो को उस हद तक अमान्य ठहराया जहा उनमें वेदों का विरोध पाया जाता था। ऑल्कॉट की थियोसोफिकल सोसाइटी ने आत्म-विश्वास की इस भावना को और भी पुष्ट किया। उसकी दृष्टिमे हर वस्तु और हर विचार, जिसका विकास इस देश मे हुआ था, शुद्ध-वैज्ञानिक और चिरन्तन-सत्य था। यह भावना नवीन-वेदान्तवाद का समर्थन करने वाली प्रगतिशील, और सनातन-धर्म महामण्डल आदि रूढिवादी, सस्थाओ द्वारा और भी दृढ बनाई गई। सब जगह प्राचीनता की ओर लौटने की पुकार थी—बीच के अन्धेरे युग को चीरते हुए प्राचीनता के स्वप्नो को आत्मसात् कर लेने की ललक!

भारतीय इस्लाम में भी, एक विभिन्न वातावरण के प्रभाव और एक विभिन्न नेतृत्व मे इसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़े हो रहे थे। उनका आधार भी प्राचीन की ओर लौटने—कुरान, पैग़म्बर और हदीस में ही

अपना विश्वास रखने—पर था। इन आन्दोलनों के नेताओं मे से दिल्ली के शाह अब्दुल अजीज ने इस्लाम को उन अन्ध-विश्वासो और रूढियो से मुक्त करने का प्रयत्न किया जो उसने हिन्दू-समाज से ली थीं और इस्लाम के पैगम्बर द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का प्रचार किया। बरेली के सैयद अहमदने 'तरीकए-मोहम्मदिया' की स्थापना की, जिसके अनुसार हिन्दुस्तान को 'दारुल हर्ब' करार दिया गया था, जहा मुसलमानों को जिहाद करते रहना आवश्यक था। जौनपुर के शाह करामत अली इतने उग्र विचारों के न थे, पर उन्होने भी असख्य मुसल्मानो को शुद्ध इस्लामी जीवन की ओर प्रवृत्त करने मे बडी सहायता पहुचाई। फरीदपुर के हाजी शरीयतुल्ला व उनके पुत्र दूधूमियाँ द्वारा चलाये गए फरैजी आन्दोलन का उद्देश्य केवल धार्मिक शुद्धता का प्रचार ही नहीं था, उसने राजनैतिक असंतोष को भी उकसाया। अहले हदीस और मिर्जा गुलाम कादियानी के अनुयायियों में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी।[1]

प्राचीन के पुनर्निर्माण की यह प्रवृत्ति प्रत्येक देश के नवयुग का एक मुख्य अग है। यूरोप में भी पन्द्रहवीं शताब्दी में नये जीवन की जिस चेतना ने अपनी उत्ताल तरगों के प्रबल आघातों से मध्यकाल के ध्वस-चिह्नो को नष्ट-भ्रष्ट किया, उसके पीछे भी ईसा के पहिले की यूनानी सभ्यता के जीर्णोद्धार का प्रयत्न था। हिन्दुस्तान मे भी इस प्रवृत्ति की उपस्थिति स्वाभाविक थी। जब कोई राष्ट्र निराशा के गढे में गिरा होता है, तब प्राचीन महानता की स्मृति ही उसे भविष्य की नई आशाओं व नये सपनों को जाग्रत करने में सहायता पहुचाती है। पर, हमारे देश में इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो हिन्दुओं की दृष्टि अपनी उस प्राचीन सस्कृति की ओर गई जिसका विकास, गगा और यमुना के किनारे, आर्य-ऋषियो के द्वारा उन शताब्दियो मे हुआ था जब भारत-वर्ष मुस्लिम-सपर्क से बिल्कुल अछूता था, दूसरी ओर मुसल्मानो के मानसिक क्षितिज पर उस सभ्यता का रगीन चित्र खिचा, जिसका विकास अरब के मरुस्थल में पैगम्बर और उनके खलीफा-साथियों द्वारा हुआ था, और जो अपनी चरम-सोमा-रेखा का स्पर्श, और उसे पार, कर चुकी थी हिन्दुस्तान के सपर्क मे आनेके

१—ये सब आन्दोलन प्राय: वहाबी आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर इनका मौलिक 'वहाबी' आन्दोलन से—जिसे मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब (१७०७-८७) ने अरब में चलाया था—कोई सम्बन्ध नहीं था। इसमें से अधिकाश हनफ़ी और शफ़ी क़ानूनों को मानते हैं, और 'तसव्वुफ़' की वहाबी कल्पना का विरोध करते हैं। इन्हें 'कुरान की ओर लौटो आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

शताब्दियो पहिले। वे दोनो भूल गए—जैसे किसी दूर की वस्तु को देखने की तल्लीनता और तन्मयता मे हम कभी-कभी पास की वस्तु को भूल जाते है—कि उन दोनो ने इस देश के सैंकड़ो वर्षों के सामान्य जीवन मे और साथ मे प्राप्त किये गए सुख और दुःख के सहस्र-सहस्र अनुभवो मे, एक महान् सामान्य सभ्यता का निर्माण किया था, सामान्य सामाजिक सस्थाओ, सामान्य धर्म-सिद्धान्तो और कला और साहित्य की सामान्य पृष्ठभूमि पर, जिसके लिए वे उतना ही गौरव अनुभव कर सकते थे, जितना किसी अन्य सभ्यता के संबध मे।

क्या यह एक आश्चर्य मे डाल देने वाली बात नही थी? क्यो हिदू और मुसल्मान दोनो अपने सैकडो वर्षो के सामान्य जीवन और उसकी अद्भुत देन, एक सामान्य सभ्यता, को भूल गए और क्यो उन्होने अपने नये जीवन की नींव दूर-पार की दो विभिन्न सस्कृतियो के आधार पर डाली? इस प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर देना कठिन नही है। बात यह हुई कि हमारे नये जीवन की चेतना का आधार धर्म मे था—उस एकाकी वस्तु मे जो हिन्दू और मुसल्मानो मे भेद की रेखा बन कर खडी थी। सुधार की नई प्रवृत्तियो का आरभ धर्म से हुआ, और यही प्रवृत्तिया, समाज-सुधार के रास्ते, राष्ट्रीयता मे परिणत होगई। इसी कारण हमारे देश में हिन्दू व मुस्लिम समाजो मे राजनैतिक जीवन का विकास भी दो विभिन्न रूपों मे हुआ। जब तक यह प्रवृत्ति धर्म और समाज के सुधार तक सीमित रही, सघर्ष की गुजाइश नहीं थी। पर उसके राजनैतिक क्षेत्र मे प्रवेश करते ही सघर्ष का प्रारम्भ होगया। फिर भी वस्तु-स्थिति पर काबू पाया जा सकता था यदि भूतकाल के सामान्य अनुभव और वर्तमान जीवन की सामान्य गुलामी और कडवाहट की तीखी अनुभूति—एक शब्द में, राष्ट्रीयता—अपने शुद्ध रूप मे विकसित हो पाती। परन्तु, हमारे देश मे राष्ट्रीय आंदोलन का विकास भी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो का सहारा लेकर हुआ—इस कारण दोनो समाजो के बीच की खाई का बढ जाना स्वाभाविक ही था।

राष्ट्रीयता का स्वरूप

भारतीय राष्ट्रीयता की जडे हिन्दू-धर्म और सस्कृति के पुनरोत्थान मे निहित हैं। उसका आरम्भ ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नेताओ से हुआ जिनमे राम मोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचद्र सेन, रानाडे, भडारकर, चन्दावरकर जैसे प्राचीन हिदू-सस्कृति मे डूबे हुए व्यक्ति थे। जिन विदेशी लेखको की रचनाओ से हमारे उस आत्मविश्वास को, जो राष्ट्रीयता का मूल आधार था, पुष्टि मिली, उन्होने भी हिंदू सस्कृति के प्राचीन गुणों को ही हमारे सामने रखा। देश भर मे आर्य-सस्कृति की विजय-ध्वजा स्थापित कर देने का स्वप्न जिन दया-

नन्द की आखो में था, भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवर्त्तको मे उनका बहुत बडा स्थान है। हिंदू समाज के अन्य आदोलनो ने भी, चाहे वे नव-वेदात-वाद जैसे तर्क प्रधान रहे हो, चाहे सनातन धर्म महामण्डल जैसे रूढ़ि-प्रधान, राष्ट्रीयता की भावना को ही पुष्ट किया। उन्नीसवी शताब्दी के अत तक हमारी राष्ट्रीयता धर्म का जामा पहिन चुकी थी—या यो कहना चाहिए कि धर्म ने ही राष्ट्रीयता का रूप ले लिया था। इस धार्मिक राष्ट्रीयता के आचार्य थे स्वामी विवेकानद। विवेकानंद ने आत्मविश्वास, आशा और शक्ति का एक नया सदेश हमारी नसो मे फूका। शिकागो की 'वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑफ रिलीजन्स' पर उनके व्यक्तित्व का बहुत बडा प्रभाव पडा। पर विवेकानद स्वय अमरीका से पश्चिमी सभ्यता के लिए तिरस्कार की भावना लेकर लौटे थे। "एक बार फिर", उन्होंने अमरीका से लौटने पर कहा, "संसार पर भारतवर्ष की विजय होगी……"। "हमें विदेशो मे जाना चाहिए और ससार को अपने अध्यात्मवाद और तत्त्वज्ञान से जीतना चाहिए। हमारे लिए यही एक रास्ता है। हमें चाहिए कि हम इसी पर चलते हुए मर मिटे। राष्ट्रीय जीवन, एक बार फिर सशक्त राष्ट्रीय जीवन, की एकमात्र शर्त यह है कि ससार पर भारतीय विचारो की विजय हो।" विवेकानद का यह सदेश तभी से भारतीय राष्ट्रीयता का मूल-मत्र बना हुआ है।

धार्मिकता की इस व्यापक-प्रवृत्ति को हम अपने बीसवीं सदी के आरम्भ के राजनैतिक जीवन की दोनो धाराओं—क्रातिकारी व काग्रेस के उग्रदल—पर बराबर हावी पाते हैं। इन आदोलनों का नेतृत्व देश भर में फैले हुए जिन व्यक्तियों के हाथ में था—महाराष्ट्र मे तिलक, बंगाल मे अरविंद घोष और विपिन-चन्द्र पाल, पजाब में लाजपतराय—उन सबका हिंदू धर्म मे गहरा विश्वास था। क्रातिदल के सदस्यों का तो मुख्य ग्रंथ गीता था, और उनके जीवन की मुख्य प्रेरणा श्रीकृष्ण का निष्काम कर्म का आदर्श। ऐसी परिस्थिति मे झण्डे और गीत, प्रतीक और उद्घोष जितने भी निकले, वे यदि हिदू विचारधारा और हिंदू तत्त्वज्ञान में डूबे हुए थे, तो आश्चर्य ही क्या था? महाराष्ट्र में तो आधुनिक राष्ट्रीयता उन प्रवृत्तियों का ही पुनरोत्थान-मात्र थी, जो किसी समय मुस्लिम राज्य के विरोध मे विकसित हुई थी। तिलक ने, जो जन-सपर्क में आने वाले पहिले राष्ट्रीय नेता थे, गो-वध निषेध समितियों, हिदू अखाडो व गणपति और शिवाजी उत्सवों के द्वारा दक्षिण भारत मे राष्ट्रीयता की भावना का संगठन किया था। शिवाजी के अफजल-वध का समर्थन करते हुए लो० तिलक ने लिखा—"म्लेच्छों को ईश्वर ने ताम्र-पत्र पर हिदुस्तान का पट्टा लिख कर नहीं दे दिया है। शिवाजी के जीवन का उद्देश्य यही था कि वह उन्हे अपनी जन्मभूमि से निकाल बाहर करे……।"

मुस्लिम समाज मे राष्ट्रीयता की यह लहर काफी लम्बे अर्से के बाद पहुची—क्योंकि मुस्लिम समाज ने उन मंजिलों को पार करने मे अधिक देर लगा दी जिन पर होता हुआ हिंदू समाज राष्ट्रीयता की चेतना तक पहुचा था। अंग्रेजी शासन और सभ्यता के प्रति मुस्लिम समाज की प्रतिक्रिया का जिक्र ऊपर आचुका है, पर दोनों समाजों की प्रगति के मूल मे, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओ के अलावा, ठोस ऐतिहासिक कारण भी थे। हमें यह न भूलना चाहिए कि नवयुग की यह चेतना समस्त देश मे एक साथ नहीं फैली—वह, अंग्रेजी शासन के विस्तार के साथ, एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक बढ़ती गई। हमें यह बात भी भुला नहीं देना है कि मुस्लिम संस्कृति का प्रधान केन्द्र सदा से उत्तरी भारत के पंजाब, दिल्ली, युक्तप्रांत आदि प्रदेश रहे हैं—इन तक पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पहुचने मे आधी शताब्दी से भी अधिक का समय लग गया। समुद्र तट के प्रातों में सुधार की प्रवृत्तिया जब अपनी चरम-सीमा पर थी, तब उत्तरी भारत मे उनका आरम्भ हुआ। प्रधानतः हिंदुओ के हाथो विकसित होने के कारण राष्ट्रीयता पर हिदू धर्म और हिंदू-सस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ जाना स्वाभाविक ही था—और तब मुसलमान उसके संपर्क में आये, और उनसे उसे अपनाने की अपील की गई। मुसलमानो मे भी राष्ट्रीयता की इस भावना के विकसित होने के पहिले धार्मिक और सामाजिक दोनो क्षेत्रो मे प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां वैसे ही अपने पूरे जोर पर थी जैसे हिंदू समाज मे। इस्लाम धर्म और मुस्लिम-सस्कृति मे डूबे हुए मुसल्मान राष्ट्रीयता के इस हिदू रूप को देखकर कुछ चौंके, कुछ झिझके, उनके इस्लाम प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना के बीच एक सघर्ष-सा छिड़ा, और उनमे से जो एक कट्टर मुस्लिम सस्कृति के पक्षपाती थे, उन्होने राजनीति के क्षेत्र मे राष्ट्रीयता को छोड़कर सांप्रदायिकता का पल्ला पकड़ा। यही से हमारे राजनैतिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या—साम्प्रदायिक समस्या—का सूत्रपात होता है। पर, उसे और भी अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए हमें मुस्लिम राजनीति के विकास की गहराई मे जाना होगा, और उसके अनेक युगों पर पड़ने वाले आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और सबसे अधिक व्यक्तिगत प्रभावों को कुछ विस्तार के साथ समझना होगा।

मुस्लिम राजनीति और साम्प्रदायिकता

मुस्लिम राजनीति के विकास के इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहिले भाग का प्रारम्भ सर सैयद अहमद की उस नीति से होता है, जो उन्होंने भारतीय मुसल्मानों को कांग्रेस से अलहदा रखने के सम्बन्ध मे धारण की थी। सर सैयद अहमद अपने इस प्रयत्न में बहुत सफल न हो सके। उनकी आवाज एक छोटे तबके तक ही पहुंच सकी। उनके जीवन-काल में ही कुछ प्रगति-शील मुसल्मान नेताओं ने उनकी नीति से अपना विरोध प्रगट करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी मृत्यु के बाद प्रमुख भारतीय मुसल्मान—शिबली नोमानी, अल्ताफ हुसैन हाली, अबुलकलाम आजाद, मुहम्मद अली और डा० इकबाल—राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुए। मुसल्मानों में राष्ट्रीयता की धारा हिन्दू-समाज के राष्ट्रीय आन्दोलन से स्वतंत्र थी। पहिले महायुद्ध, और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों, ने दोनों धाराओं को एक दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया। १६२०-२१ मे दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से देश में विद्रोह की एक ऐसी आंधी उठी कि उसने अंग्रेजी-शासन की जडों को ही हिला दिया। पर उस आन्दोलन के शिथिल हो जाने के बाद साम्प्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ा। इसी बीच सांप्रदायिक चुनावो के विषैले परिणाम भी सामने आने लगे। लाला लाजपतराय, मौलाना शौकत अली और कुछ दूसरे राष्ट्रीय नेता भी सांप्रदायिकता के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके। पर इन दिनों भी कुछ प्रमुख मुसल्मान नेता—हकीम अजमलखा, मौलाना मुहम्मदअली, डा० अन्सारी, मौलाना आजाद आदि—राष्ट्रीयता मे अपना विश्वास अक्षुण्ण बनाये रख सके। '३० और '३२ के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलनों ने भी मुसल्मानों को राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर खींचा, प्रगतिशील प्रवृत्तिया एक बार फिर सशक्त बनने लगीं। १६३७ का चुनाव प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियो पर प्रगतिशील विचार-धारा की विजय का स्पष्ट द्योतक था। पर १६३७ के बाद ही, साम्प्रदायिकता ने एक बार फिर जोर पकड़ा। आपसी मतभेद और वैमनस्य एक बार फिर प्रबल हो उठे। पाकिस्तान की आवाज़ देश के कोने-कोने से उठी। पर आज मुस्लिम राजनीति का यह तीसरा युग भी ढलाव पर है, पाकिस्तान की माग भी अब मद्धिम पडती जा रही है, राष्ट्रीयता का वेग अब फिर बाढ़ पर है।

सरसैयद अहमदखां

आधुनिक भारतीय मुस्लिम समाज के विकास में सर सैयद अहमद खा का स्थान यदि हम निर्धारित करना चाहें तो शायद यह कहना काफी

होगा कि वह मुस्लिम समाज के राजा राममोहन राय हैं। सर सैयद दिल्लीके एक सम्भ्रान्त सैयद परिवार मे उत्पन्न हुए थे, और आरम्भ से ही अध्ययन और विद्वत्ता की ओर उनकी रुचि थी। विज्ञान, धर्म, इतिहास, वास्तुकला आदि पर प्रायः वह लिखते रहते थे, दिल्ली के ध्वसावशेषो और मकबरो पर उनकी एक मर्मस्पर्शी रचना —'असारे सनादियाल'—का फ्रेंच मे भी अनुवाद हुआ था। १८५७ के 'ग़दर' के बाद उन्होने इस्लाम और ईसाई-धर्म दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कुछ लिखा। ईसाई धर्म-प्रचारको द्वारा इस्लाम-धर्म पर जो आक्रमण किया जा रहा था, सर सैयद उसका भी करारा जवाब देते रहे। राममोहन रायके समान शिक्षा-प्रचार, विशेष कर पश्चिमी कला और विज्ञान के प्रचार मे, सर सैयद की विशेष रुचि थी। १८७७ ई० मे अलीगढ़ में उन्होंने मुसल्मानो के लिए एक कॉलेज की स्थापना की। मुसल्मानो के लिए एक शिक्षा-परिषद् का सगठन भी उन्ही के प्रयत्नों का परिणाम था। सर सैयद द्वारा स्थापित 'मोहम्मडन एग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज' ही आज प्रख्यात अलीगढ़ विश्व-विद्यालय के रूप में, सर सैयद के शिक्षा-सम्बधी प्रयत्नो का अमर प्रतीक बनकर, हमारे सामने मौजूद है।

शिक्षा-प्रचार के इस कार्य के पीछे सर सैयद अहमद का ध्येय बिल्कुल स्पष्ट था। उनको विश्वास हो गया था कि अंग्रेजो से स्थायी संबंध बनाये रखने में भारतीय मुसल्मानो का कल्याण है। '५७ के विद्रोह में उन्होंने सरकार का साथ दिया, और इस कारण वह जनता मे बहुत कुछ अप्रिय भी बन गए थे। १८५७ के बाद से ही वह इस प्रयत्न मे लग गए कि एक ओर तो अंग्रेजो के मन से इस बात को निकाला जाय कि 'गदर' की घटनाओ मे मुसल्मानो का प्रमुख हाथ था, और दूसरी ओर मुसल्मान अंग्रेजी शासन के फायदों को समझने लगे। इसी ध्येय को अपने सामने रख कर सर सैयद अहमद ने १८५७ में 'असबाबे बगावते हिन्द' नाम की एक पुस्तक लिखी और १८६०-६१ मे 'हिन्दुस्तान के राजभक्त मुसल्मान' शीर्षक से धारावाही रूप से लिखते रहे। १८६९-७० की इङ्गलैंड-यात्रा ने तो उन्हें अंग्रेजी सभ्यता का और भी कट्टर समर्थक बना दिया।[1] उनके शिक्षा-प्रयत्नो के पीछे भी यही उद्देश्य काम कर रहा था। एम० ए० ओ० कॉलेज के उद्घाटन के अवसर पर, लॉर्ड लिटन के सामने, सर सैयद ने कहा कि उक्त कॉलेज की स्थापना का उद्देश्य "पूर्व की

१-सर सैयद ने लन्दन पहुंच कर अपने एक पत्र में लिखा, "शिक्षा-प्रचार और चरित्र की दृष्टि से अच्छे से अच्छे हिन्दुस्तानी अंग्रेजों की तुलना में ऐसे ही हैं जैसे गन्दा जानवर किसी योग्य और सुन्दर मनुष्य की तुलना में।"
Graham : Life and work of Sir Syed Ahmad Khan

शिक्षा को पश्चिम के साहित्य और विज्ञान से संश्लिष्ट कर देना, भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजी-राज्य के योग्य प्रजाजन बनाना व उनमे एक ऐसी राजभक्ति की भावना को विकसित करना था जिसका जन्म विदेशी शासन की गुलामी को आख मींच कर स्वीकार कर लेने में नही, परन्तु एक अच्छे शासन की खूबियो को समझ लेने में होता है।"

इस बीच, हिन्दू समाज में धार्मिक-सुधार की प्रेरणा से नवयुग (Renascence) की जिस धारा ने जन्म लिया था वह, समाज-सुधार के रास्ते होती हुई, राजनैतिक समस्याओं से टकराने लगी थी। स्थान-स्थान पर राजनैतिक दलों का संगठन होने लगा था। पहिले उनका कर्म-क्षेत्र अपने-अपने प्रान्तो तक ही सीमित था। कलकत्ते का इण्डियन एसोसिएशन, मद्रास की महाजन सभा, पूना की सार्वजनिक सभा आदि संस्थाए इसी कोटि की थीं। पढ़े-लिखे भारतीयों की सिविल सर्विस में प्रविष्ट होने की आकाक्षा ने इन प्रान्तीय प्रवृत्तियो को अखिल भारतीय रूप दे दिया। १८७७-७८ मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने समस्त भारत मे जो यात्रा की थी, उसका मुख्य उद्देश्य सिविल सर्विस की परीक्षाओ में भारतीय विद्यार्थियों की असुविधाओ को दूर करने के सम्बन्ध मे आन्दोलन करना था, पर उसका परिणाम यह निकला कि अबतक प्रान्तीय आधार पर जो राजनैतिक कार्य किया जा रहा था उसे अखिल-भारतीय रूप मिल गया। राजनीति के अखिल-भारतीय रूप लेते ही एक अखिल-भारतीय राजनैतिक सस्था के निर्माण की दिशा मे प्रयत्न होने लगा। इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप १८८५ ई० मे काग्रेस का जन्म हुआ। काग्रेस बहुत शीघ्र ही पढे-लिखे हिन्दुस्तानियों की राजनैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली एकमात्र सस्था बन गई। सब प्रान्तो और सब सप्रदायो में राजनैतिक प्रवृत्ति रखने वाले सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को उसने अपनी ओर आकर्षित किया। यद्यपि उसके निर्माण में ह्यूम और वेडरबर्न आदि अंग्रेजों का हाथ भी था, और अनुमान तो यह भी है कि उसकी स्थापना की प्रेरणा उस समय के बडे लाट डफरिन से प्राप्त हुई थी, पर आरम्भ से ही एक निर्भीक रवैया इख्तियार करने के कारण काग्रेस शीघ्र ही सरकार की कृपादृष्टि से केवल हाथ ही न धो बैठी, उसकी आखों में खटकने भी लगी। स्वय लॉर्ड डफरिन अपने शासन के अन्तिम दिनो में उसके प्रति बहुत क्षुब्ध रहे।

काग्रेस के प्रति सर सैयद अहमद का क्या रवैया होगा, यह जानने के लिए लोगबाग उन दिनों उत्सुक रहा करते थे। भारतीय राष्ट्रीयता और भारतीय आकाक्षाओं से सर सैयद की पूरी सहानुभूति थी। १८६० ई० मे ही उन्होने भारतीयों के धारा-सभाओं में लिए जाने के संबध मे अपनी आवाज उठाई थी। १८६६

मे ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना के समय उन्होने भय की वृत्ति को छोड़ देने और स्पष्टता और ईमानदारी से अपनी शिकायतें सरकार के सामने रख देने की सलाह दी थी। सर सैयद स्वय बड़े निर्भीक और बेधड़क व्यक्ति थे। लॉर्ड लिटन के पञ्जाब यूनिवर्सिटी बिल का उन्होने बडा जोरदार विरोध किया था। आगरा-दर्बार से वह उठकर चले गए थे, क्योंकि वहां बैठने की व्यवस्था मे हिन्दुस्तानियों और अग्रेजो के बीच भेद-भाव रखा गया था। १८७७ मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने सिविल सर्विस आन्दोलन के सम्बन्ध मे अलीगढ़ मे जिस सभा मे बोले थे, सर सैयद ने ही उसका सभापतित्व किया था। १८८४ में, पञ्जाब मे एक सार्वजनिक भाषण देते हुए, उन्होने सभी सप्रदायों के सामान्य-हितो पर जोर दिया, और सहयोग और सगठन की भावना से कार्य करने की अपील की। उन्होने कहा, 'हम (हिन्दू और मुसल्मान) एक दिल और एक आत्मा हैं, और हमें मिलजुल कर काम करना चाहिए। इस प्रकार हम एक-दूसरे की बहुत अधिक सहायता कर सकेंगे। यदि हम एक न हो सके तो दोनो का ही पतन और सर्वनाश निश्चित है।' सर सैयद प्रायः हिन्दू और मुसलमानों को 'एक खूबसूरत दुलहिन की दो आंखे' कहा करते थे। वह न केवल साम्प्रदायिक भावना से ही मुक्त थे, प्रान्तीय विद्वेष भी उन्हें छू न गया था। बंगालियो को वह देश का गौरव मानते थे। वह कहा करते थे कि हमने स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता की भावना बगाल से ही प्राप्त की है।

सर सैयद के सम्बन्ध में इन तथ्यो को जान लेना बड़ा जरूरी है। साप्रदायिक विद्वेष की भावना उनमे तनिक भी न थी। प्रांतीयता की सकुचितता से वह सर्वथा मुक्त थे। राष्ट्रीयता की भावना से वह ओत-प्रोत थे। निर्भीकता उनके चरित्र का मुख्य अङ्ग थी। चरित्र की ऊचाई के साथ बुद्धि की प्रखरता भी उनमे थी। यह कहना उनके व्यक्तित्व का अपमान करना है कि साप्रदायिकता की ओर उनके झुकाव का कारण उन पर बैक, मॉरीसन आदि उन अग्रेजो का प्रभाव था, जिन्हें उन्होने समय-समय पर अलीगढ कॉलेज के प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त किया था। भारतीय साम्प्रदायिकता जैसे व्यापक आन्दोलन की उत्पत्ति व्यक्तिगत कारणो मे ढूंढ़ना, इतिहास मे विचारो का जो बवण्डर बड़े-से-बड़े व्यक्तियो को अपने साथ उड़ा ले जाता है, उसका निरादर करना है। सच तो यह है कि हम यदि भारतीय-साम्प्रदायिकता के मूल-कारणो को जान लेना चाहते है तो हमे ऐतिहासिक घटनाओ की गहराई में कुछ अधिक प्रवेश करना होगा। वे कारण क्या थे जिन्होने सर सैयद अहमद जैसे राष्ट्रवादी व्यक्ति के सिर साप्रदायिकता के नेतृत्व का सेहरा बाध दिया? क्यो सर सैयद अहमद ने यह निश्चय

किया कि भारतीय राष्ट्रवाद की जिस प्रबल धारा ने कांग्रेस को जन्म दिया, वह भारतीय मुसलमानों को उससे अलहदा रहने की सलाह दें ?

साम्प्रदायिकता का सूत्रपात

इस बात को समझने के लिए हमें एक ओर तो कांग्रेस के निर्माण की मनोवृत्ति को जान लेना होगा और दूसरी ओर उन प्रवृत्तियों से अवगत हो लेना होगा, जिन्होंने सर सैयद अहमद के व्यक्तित्व को बनाया था। कांग्रेस के सामने शुरू से ही राष्ट्रीयता का वह विशद और प्रखर रूप नहीं था, जिससे हम आज परिचित हैं। राष्ट्रीयता कई युगों को बीतती हुई अपनी आज की स्थिति तक पहुंच सकी है। कांग्रेस का प्रारम्भ भारतीय समाज के एक वर्ग-विशेष के सगठन से हुआ। वह वर्ग था पश्चिम की विचार-धाराओं के सपर्क में आया हुआ हिन्दुस्तान का पढ़ा-लिखा समुदाय। पढ़े-लिखे लोगों में ही राजनैतिक विचारों ने जन्म लिया था। वे ही इस बात के लिए बेचैन थे कि उन्हें ऊंचे सरकारी ओहदे और शासन में अधिक-से-अधिक अधिकार मिल सकें। पढ़े-लिखों में सप्रदाय का भेद-भाव नहीं था, पर क्योंकि हिन्दू-समाज ने ही अंग्रेजी शिक्षा से सबसे अधिक लाभ उठाया था, यह स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस में आरम्भ से ही हिन्दुओं का बहुमत होता। यों तो, कांग्रेस के पहिले अधिवेशन में दो मुसलमान शामिल थे, दूसरे में उनकी संख्या ३३ और तीसरे में १५६ तक पहुँची। पारसी, सिख, हिन्दुस्तानी ईसाई और यूरोपियन भी उसके साथ थे, पर प्रधानता हिन्दुओं की ही थी। जहा तक मुस्लिम-समाज का संबंध था, शिक्षा के क्षेत्र में वह बहुत अधिक पिछड़ा हुआ था। सर सैयद के सामने सबसे बड़ा ध्येय यह था कि वह उसे शिक्षा की दृष्टि से हिन्दुओं का समकक्ष बनादें। हिन्दुओं को तो ऊंची नौकरिया और शासन में अधिकार मिलना आरम्भ हो गए थे, इसलिए वह 'और अधिक' के लिए आन्दोलन करने का साहसपूर्ण क़दम उठा सकते थे। मुस्लिम-समाज अभी उस स्थिति में नहीं था। बड़े धीरज और बड़ी लगन से, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के मुक़ाबिले में, सर सैयद अहमद मुस्लिम-समाज के प्रति शासकों के अविश्वास को हटा पाये थे, और स्वयं मुसलमानों में सहयोग की वृत्ति को जन्म दे सके थे। कांग्रेस की स्थापना ने सर सैयद अहमद को एक कठिन परिस्थिति मे ला खड़ा किया। यदि सर सैयद अहमद कांग्रेस का साथ देते तो वह सहज ही मुसलमानों को शासकों के अविश्वास का पात्र बना लेते—और इस प्रकार अपने जीवन-व्यापी कार्य को अपने हाथों ही खत्म कर देते। इसी कारण, कांग्रेस के आदर्शों से पूरी सहानुभूति रखते हुए भी सर सैयद ने मुसलमानों को उससे अलहदा रहने की सलाह दी।

कांग्रेस के प्रति सर सैयद अहमद ने जिस नीति को अपनाया था, उसके पीछे राजनैतिक, आर्थिक और व्यक्तिगत कारण थे, सांप्रदायिकता की मलीनता नहीं थी। जैसा कि शिबली नोमानी ने लिखा, "प्रकृति ने उन्हे समस्त देश का नेता होने की पात्रता दी थी, परन्तु परिस्थितियों और उनके वातावरण ने उन्हें मुसल्मानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलहदा रखने की नीति धारण करने पर मजबूर कर दिया।" सर सैयद अहमद का कांग्रेस के प्रति विरोध मुसल्मानो का राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति विरोध नहीं था। वह तो मध्यम श्रेणी के एक पिछड़े हुए वर्ग द्वारा, जो अनिश्चितता की गहरी खाई के किनारे खडा था, उस आगे बढ़ने वाले वर्ग का विरोध था, जो अब खतरनाक स्थिति मे नही रह गया था, और जिसे यह विश्वास हो चला था कि आंदोलन करने से ऊंची नौकरिया मिल सकेंगी। यह तो परिस्थितियो का परिणाम था कि आगे बढ़े हुए दल मे हिंदुओ की सख्या अधिक थी, और जो दल पिछड गया था उसमें मुसल्मान ज्यादा थे। सच तो यह है कि बजाय यह कहने के कि मध्यम वर्ग के मुसल्मान मध्यम वर्ग के हिंदुओ के मुकाबिले मे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए और राजनैतिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन के अधिक सम्पर्क में थे, यह कहना अधिक ठीक होगा कि देश का मध्यम वर्ग दो भागो मे बट गया था। एक अपनी शक्ति पहिचानने और शासन मे दोष निकालने लगा था और दूसरा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और अंग्रेजी शासन का समर्थक था, और इन दोनो दलो मे से पहिले मे हिंदुओ की सख्या अधिक थी और दूसरे मे मुसल्मानो की।[1]

सर सैयद का व्यक्तिगत साहस कितना ही बढ़ा-चढा क्यो न रहा हो, उनकी राजनीति भीरुता की राजनीति थी। १८८७ मे, जब कांग्रेस मद्रास मे एक मुस्लिम सभापति के नेतृत्व में अपना अधिवेशन कर रही थी, सर सैयद अहमद ने "अवध के तालुकदारों, सरकारी नौकरो, फौजी अफसरो, वकीलों और अखबार नवीसो" की सभा मे भाषण करते हुए कहा कि मुसलमानो को कांग्रेस से अलह्दा रहना चाहिए "ताकि उनके प्रति राजद्रोह का सदेह न किया जा सके"। सर सैयद जानते थे कि वह समय की गति के विरुद्ध काम कर रहे हैं, पर वह उस जमीन पर से अपनी जड़े नही समेट सकते थे जिस पर उनके समस्त जीवन का विकास हुआ था। सर सैयद ने आरम्भ से ही मुस्लिम-समाज की उन्नति को अपने जीवन का ध्येय बनाया था। वह प्रधानतः समाज-सुधारक थे, न कि राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता। उन्नीसवीं शताब्दी मे समाज-सुधार की जितनी प्रवृत्तियो ने जन्म लिया उनका कार्यक्षेत्र हिंदू और मुस्लिम समाजो की सीमाओं मे

१–W C Smith Modern Islam in India.

बधा था, क्योंकि उनका आधार धर्म मे था। हिन्दुओं का समर्थन और मुसल्मानों के विरोध की अंग्रेजी नीति ने भी इस सामाजिक भेद को पुष्ट ही बनाया। सर सैयद अहमद का प्रयत्न मुसल्मानों को शिक्षित बनाकर उन्हें सरकारी कृपादृष्टि का योग्य पात्र बना देना था। वह कैसे किसी ऐसे आंदोलन का समर्थन कर पाते जो सरकार के विरोध में खड़ा किया गया हो? यह जानते हुए भी कि वह समय की गति के विरुद्ध काम कर रहे हैं, वह अपने उन उद्देश्यों पर डटे रहे, जिनकी प्राप्ति के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। उनके व्यक्तित्व के लिए दूसरी राह नहीं थी। जिस नीति को सर सैयद ने स्वीकार किया था उस पर चलते हुए वह एक ओर न तो अपने को सरकारी पक्ष में ला खड़ा करने से रोक सकते थे और न दूसरी ओर मुसल्मानों मे साम्प्रदायिकता की भावना को पुष्ट करने से। कांग्रेस की स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद उन्होंने उसका विरोध करने के उद्देश्य से बनारस के राजा शिवप्रसाद के साथ 'यूनाइटेड पैट्रियोटिक असोसियेशन' की नींव डाली। सर सैयद काफी दिनों तक मुसल्मानों की शैक्षिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के सङ्गठन पर ही जोर देते रहे। १८७७ मे अमीर अली द्वारा कलकत्ते के स्थापित किये गए 'नेशनल मोहम्मडन असोसियेशन' में उनका सहयोग नहीं था। पर १८९३ में जब उत्तरी भारत मे 'मोहम्मडन डिफेंस असोसिएशन' की स्थापना हुई तो उसमे सर सैयद ने पूरा सहयोग दिया। इस संस्था का उद्देश्य केवल मुसल्मानो के स्वार्थों की रक्षा करना था।

उदार प्रवृत्तियां

सर सैयद अहमद का प्रभाव पढ़े-लिखे लोगों के एक छोटे वर्ग तक ही सीमित था। राजनैतिक क्षेत्र में नरम विचारों के होते हुए भी धर्म और समाज-सुधार के क्षेत्र में उनके विचार बड़े उग्र थे, और इसलिए एक रूढ़िवादी समाज में उनके अधिक व्यापक होने की आशा नहीं थी। मुस्लिम समाज के हृदय तक तो वे लोग पहुंच सकते थे जो अपने कार्यों का आधार धर्म मे रखकर चलते। धार्मिक दृष्टि से, सर सैयद ने ईसाई मिशनरियों के आक्रमण से इस्लाम का बचाव करने की चेष्टा की, पर इस्लाम का कोई आकर्षक रूप वह जनता के सामने नही रख सके। स्वयं धर्म से अधिक तर्क में उनका विश्वास था। 'तकलीद' अथवा स्मृतियों पर आंख मींच कर विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति की उन्होंने कड़ी आलोचना की। जनता धर्म के संबंध में तनिक भी आलोचना सह सकने के लिए तैयार नहीं थी। सर सैयद ने मुस्लिम समाज मे प्रगतिशीलता की जिस धारा को जन्म दिया था, वह लोकप्रिय न बन सकी। उनके निकट अनुयायियों के लिए भी उन प्रतिक्रियावादी विचार-धाराओं के प्रभाव से

अपने को बचा रखना कठिन होगया, जो हिन्दू-समाज की अनेकानेक प्रवृत्तियों के समान इस्लाम में भी व्यापक होती जा रही थीं। जनता के मन की तो वही चीज थी, जनता अपना आत्मविश्वास खोना नही चाहती थी। इस सम्बन्ध मे अमीरअली की रचनाओ का बड़ा प्रभाव पड रहा था। उनकी 'स्पिरिट ऑफ़ इस्लाम' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक का पहिला सस्करण १८६१ ई० में निकला था। इस्लाम के प्राचीन गौरव का विशद चित्र भारतीय मुसल्मानो के सामने रख देने, और इस्लाम में उनके आत्मविश्वास को जाग्रत् करने में अमीरअली का बहुत बडा हाथ रहा है। उन्होने पैग़म्बर के व्यक्तित्व का कोमल पक्ष सुन्दर से-सुन्दर रूप मे अपने पाठकों के सामने रखा। पैगम्बर व प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के मस्तिष्क की प्रखरता, भावनाओ की उदारता और आचार की पवित्रता अमीरअली के शब्द-चित्रों मे जीवित हो उठी। इस्लाम मे मुसल्मान जनता का ममत्व जागा। अमीरअली ने जिस काम को शुरू किया था, खुदाबख्श आदि लेखको ने उसे और आगे बढाया।

सर सैयद अहमद के निकट अनुयायियों पर भी हम इस नई विचार-धारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से पाते हैं। चिराग़ अली और मोहसिनुल्मुल्क ने तो सर सैयद के नेतृत्व का ही अनुकरण किया। वे दोनो पश्चिमी विचारों और अंग्रेजी शासन के उतने ही कट्टर समर्थक थे जितने सर सैयद। पर और लोग जो उम्र में कम थे, तेज कदम रखने के लिए तैयार थे। इनमें अल्ताफ हुसैन हाली, शिबली नोमानी, नजीर अहमद आदि के नाम मुख्य हैं। सर सैयद ने मुसल्मानो को एक नयी राह पर चलने का आदेश दिया था, पर वह राह मुसल्मानो की अपनी राह नहीं थी, पश्चिम की राह थी। अल्ताफ हुसैन हाली ने सबसे पहिले मुसल्मानो के आत्म-विश्वास को जाग्रत किया। हाली भी सर सैयद के समान मुसल्मानो के वर्तमान जीवन से दुःखी थे, पर उनमें और सर सैयद मे एक बडा अन्तर था। सर सैयद सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रेरणा पश्चिम से प्राप्त करना चाहते थे; हाली के सामने मुस्लिम सस्कृति का प्राचीन वैभव था। हाली ने मुसल्मानो की अपनी जबान में ही उन्हे नव-विर्माण का संदेश दिया। सर सैयद का उर्दू को विकसित करने का प्रयत्न बहुत दिनो न चल पाया था, पर इस बीच जकाउल्ला और नजीर अहमद जैसे लेखको ने उर्दू को साज-सवार दिया था। इस मंजी हुई भाषा मे हाली का धारा-प्रवाह अपने पूरे वेग से चला। हाली सर सैयद के रास्ते से हट कर अपना अलग रास्ता बना चुके थे। शिबली नोमानी ने इस नये रास्ते को और भी प्रशस्त बनाया। शिबली नोमानी का दृष्टिकोण भी वही था जो हाली का था। सर सैयद इस्लाम को

पश्चिम की वैज्ञानिक दृष्टि से कसना और परखना चाहते थे। हाली और शिबल नोमानी ज्ञान, कला, संस्कृति सब कुछ इस्लाम की कसौटी पर कसते थे। शिबली एक बडे साहित्यकार और राष्ट्र-निर्माता थे। उनका 'शैर-उल-अजम' फारसी कविता के गहरे अध्ययन का परिचायक है। 'सिरातुन्नबी' के नाम से उन्होंने पैग़म्बर की एक महान् जीवनी लिखी। शिबली ने इस्लाम के कई अन्य महान् व्यक्तियो के भी बडे प्रभावशाली जीवन-चरित्र लिखे हैं। १६०८ में वह लखनऊ के 'नदवत-उल-उल्मा के प्रिंसिपल नियुक्त होगए थे, पर वहा से जल्दी ही अलहदा होगए, और आजमगढ में उन्होंने एक लेखक सघ—'दार-उल-मुसन्निफीन'—की स्थापना की, जिसका उद्देश्य इस्लाम के आदर्शों का प्रचार करना था। आज भी यह सस्था, सुलेमान नदवी के नेतृत्व मे, बड़ा अच्छा काम कर रही है। सर सैयद के समान शिबली भी अंग्रेजी शासन में विश्वास रखते थे, पर अन्तर यह था कि शिबली की इस्लाम-भक्ति उनकी राजभक्ति से कहीं बढी हुई थी। १६०८ के बाद से उन्होंने अपनी इन दोनो प्रवृत्तियो में विरोध पाया,और तबसे वह, खुले-आम, अंग्रेजी शासन के विरोध में, और इस्लाम के पक्ष में, आ खड़े हुए थे। जमाना तेजी से करवटे ले रहा था। मुस्लिम समाज में भी आत्म-विश्वास और राजनैतिक जागृति की भावनाए फैलती जा रही थीं।

इक़बाल

इन्हीं दिनों भारतीय इस्लाम में एक महान् व्यक्तित्व अपनी अटूट प्रतिभा लेकर आया, जिसने अपने प्रभाव की अमिट छाप आने वाली पीढियों पर लगादी। यह थे डॉ० इक़बाल। डॉ० इक़बाल का जन्म १८७३ ई० मे, पञ्जाब में, हुआ। कवि के नाते तो वह अपने कॉलेज-जीवन से ही प्रसिद्ध हो चले थे—यद्यपि उनकी पहिली प्रसिद्ध कविता 'कोहे हिमाला अप्रैल १६०१ के 'मख़जन' मे प्रकाशित हुई। एक नई फिलॉसफी के सदेशवाहक के रूप में इक़बाल हमारे सामने १६०८ के बाद ही आये। इस्लाम में अडिग विश्वास उन्हे अपने लाहौर के शिक्षको और साथियों—टी० डब्ल्यू० आर्नोल्ड, मौलाना मीरहसन आदि—से मिला था। १६०५ से १६०८ तक इक़बाल इंग्लैंड व जर्मनी मे रहे। यहा रह कर उनका यह विश्वास और भी मजबूत बना। पश्चिमी सभ्यता की सारहीनता और खोखलेपन का भी उन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उस सभ्यता के पीछे शक्ति की व्यापकता से भी वह प्रभावित हुए बिना न रह सके। इक़बाल ने देखा कि यह शक्ति ध्वसात्मक कार्यों में लगाई जा रही है। व्यक्तिगत जीवन में उसका कोई उपयोग नहीं है। सामूहिक जीवन संघर्षमय है। व्यक्ति का व्यक्ति से, वर्ग का वर्ग से, और राष्ट्र का राष्ट्र से सघर्ष चल रहा है।

उन्होंने यह भी देखा कि पूर्व मे आदर्शवादिता और मिल-जुल कर काम करने की प्रवृत्ति है, पर पूर्व में शक्ति नही है। इकबाल ने अपने सरल पर सशक्त व्यक्तित्व का समस्त बल अपने देशवासियो मे शक्ति का सचार करने में लगा दिया।

इकबाल का शक्ति का संदेश हमे स्वामी विवेकानन्द की याद दिलाता है। अपने देशवासियो के लिए विवेकानन्द का सन्देश भी यही था। विवेकानन्द ने कहा था, "सबसे पहिले बलवान बनो। सशक्त बनो। मेरे मन में तो दुष्ट व्यक्ति के लिए भी आदर है, यदि उसमे पुरुषत्व और शक्ति है, क्यों कि शक्ति उसे किसी भी दिन अपनी दुष्टता छोड़ने पर मजबूर कर सकती है, और उसे यह प्रेरणा दे सकती है कि स्वार्थ की दृष्टि से किये जाने वाले अपने सब कामों को छोड़ दे, और इस प्रकार उसे चिरन्तन सत्य से तदाकार कर सकती है।" इकबाल का यह भी कहना था कि जिन्दादिल बुतपरस्त काफ़िर भी उस मुसल्मान से अच्छा है जो हरम मे सोया पड़ा रहता है। विवेकानन्द ने जैसे झाँझ, करताल, मृदङ्ग आदि के साथ भक्ति की सस्ती भावप्रवण अभिव्यक्ति को बुरा बताया था वैसे ही इकबाल सूफ़ियों की इसी किस्म की बहुत सी बातों के खिलाफ़ थे। उनका मत था कि यह सब अरब की पुरुषत्व-प्रधान सभ्यता पर यूनान की स्त्रैण सभ्यता के प्रभाव का परिणाम था। व्यक्तित्व की महानता मे इकबाल का विश्वास था। अभूतपूर्व प्रतिभा वाला एक महान् सशक्त, व्यक्तित्व—उनका आदर्श था। नीत्शे की Super-Man की कल्पना का उन पर स्पष्ट प्रभाव था। इकबाल की कविताओं मे—चाहे हम उनके किसी भी सग्रह को उठा लें—शक्तिशाली व्यक्तित्व के निर्माण पर जोर दिया गया है। उनके इस सन्देश से भारतीय मुसल्मानों को निःसन्देह एक नया बल प्राप्त हुआ।

राष्ट्रीयता का विकास

इस बीच, मुसल्मानो मे राष्ट्रीय भावना प्रबल होती जारही थी। इस राष्ट्रीयता का आधार भारतीय मुस्लिम-समाज की वैसी ही प्रतिगामी प्रवृत्तिया थीं, जिन्होंने हिन्दू-समाज मे राष्ट्रीयता को जन्म दिया था। इस्लाम की महानता में एक अमिट विश्वास को आधार बनाकर मुसल्मानो मे राष्ट्रीयता की भावना फैली। अमीरअली आदि उसके प्रवर्त्तकों में हैं। शिबली नोमानी का उसके निर्माण में बड़ा गहरा हाथ था। १६१२ के बाद इस राष्ट्रीयता ने जोर पकड़ा। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से उसे प्रोत्साहन मिला। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, टर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद के नेतृत्व में, इस्लाम के एक

विश्व व्यापी सगठन का जो आन्दोलन चला, उसका उद्देश्य राजनैतिक अधिक था, धार्मिक कम। उस समय तो भारतीय मुसल्मानों पर इस आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, पर १६१२ के आस-पास जब टर्की पर योरोपियन राष्ट्रों का आक्रमण होने लगा और मुसल्मानों का एक ऐसा देश, जिस पर वह नाज कर सकते थे, नष्ट होता दिखाई दिया, तो उनमें सहानुभूति की एक लहर दौड़ गई। इस नये राष्ट्रीय उत्साह ने उर्दू के उन दिनों के साहित्य में एक नया जीवन ला दिया। अकबर ने अपने तीखे व्यग, शिबली ने पैनी चुटकियां व इकबाल ने फड़का देने वाली कविताओं से मुसल्मानों मे अग्रेजो की उपेक्षा, उनकी सस्कृति के प्रति अवज्ञा और राष्ट्रीयता की एक नई लहर पैदा कर दी। इन्हीं दिनो उच्चकोटि के कुछ पत्र भी सामने आये। अबुल कलाम आजाद का 'अलहिलाल' बड़ी जोरदार शैली में सामाजिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों मे बड़े उग्र विचारों को व्यक्त किया करता था। जफरअली खा के 'जमींदार' ने तो उत्तरी भारत के उर्दू जानने वालों मे अखबार पढने का एक नया शौक ही पैदा कर दिया। मोहम्मदअली अपने अंग्रेजी के 'कॉमरेड' व उर्दू के 'हमदर्द' द्वारा इस नये इन्किलाब मे पूरा हाथ बटा रहे थे। मोहम्मदअली क्रियात्मक राजनीति मे भी प्रमुख भाग ले रहे थे—१६१२ में उन्होंने डॉ० अनसारी के नेतृत्व में एक मिशन टर्की भेजा। महायुद्ध में जब अंग्रेजी सेनाए टर्की के खिलाफ लड़ रही थीं तब तो हिन्दुस्तान के मुसल्मानों में हुब्बुलवतनी का एक नया जोश मौजें लेने लगा। सरकार का दमन-चक्र उसे रोक तो सका, पर कुचलने मे असमर्थ रहा। आजाद, मोहम्मदअली आदि सब जेलों मे थे, पर जन-साधारण में राष्ट्रीयता की भावना फैलती जारही थी। १६१६ मे मुस्लिम-लीग और कांग्रेस ने एक समझौते पर दस्तखत किये। १६१७ में अग्रेजी सरकार को हिन्दुस्तान मे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की नीति घोषित करने पर मजबूर होना पड़ा। परन्तु असन्तोष सुलगता रहा। युद्ध समाप्त हुआ तो काला कानून आया और उसके साथ गाधीजी के सत्याग्रह की धमकी, और अमृतसर का हत्याकाण्ड! राजनैतिक आन्दोलन की लपटें आकाश को चूमने के लिए बढ़ीं—और हिन्दुस्तान के मुसल्मानो ने देश के लिए बड़ी-से-बड़ी बलि देने की तैयारी कर ली।

१६२०-२१ में देशव्यापी एक बड़े राजनैतिक आन्दोलन का होना अनिवार्य था—पर गाधीजी के नेतृत्व ने उसकी रूपरेखा को बदल दिया। बिखरे हुए हत्याकाण्डों के स्थान पर एक सगठित अहिंसात्मक आन्दोलन का विकास हुआ। मुस्लिम-समाज ने खुले दिल से गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार किया।

देशभर मे खिलाफ़त कमेटिया बन गई और एक केन्द्रीय खिलाफत कमेटी के नेतृत्व मे उन्होने टर्की के प्रति अंग्रेजी सरकार की नीति का खुला विरोध आरम्भ कर दिया। १६१६ के अन्त मे गांधीजी के प्रयत्न से, जब अलीबधु जेल से छूटे तब इस आन्दोलन को एक नया बल मिला। उलमाओ का हार्दिक समर्थन उसे पहिले से ही प्राप्त था—अंग्रेजो के खिलाफ़। खिलाफ़त के पक्ष मे जो आन्दोलन किया जा रहा था उसे देश के कोने-कोने तक फैलाने में उनका बड़ा हाथ रहा है। १६२० मे जब अबुल कलाम आजाद जेल से निकल कर आये, तब आन्दोलन का वेग और भी प्रबल होगया। मई १६२० में अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी ने गांधीजी के 'अदम-तआवुन' (असहयोग) के कार्यक्रम को अपनाया—कांग्रेस ने इस कार्यक्रम को कई महीने बाद स्वीकार किया। मुस्लिम-लीग के लिए भी पीछे रहना कठिन होगया। मौलाना शौकतअली की प्रेरणा से मुस्लिम-लीग ने भी असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया—पर वास्तविक काम खिलाफ़त-कमेटी के नेतृत्व मे ही हुआ। १६२०-२१ मे भारतीय राष्ट्रीयता की स्वतन्त्र रूप से विकसित होने वाली दो विभिन्न धारायें—गङ्गा और यमुना के समान—एक दूसरे से जा मिली, और उनके इस सम्मिलन से राष्ट्रीय आन्दोलन को एक अभूतपूर्व बल प्राप्त हुआ। अंग्रेजी शासन की जड़े हिल उठी। यह सच है कि बहुत कम हिन्दू या मुसल्मान यह जानते थे कि वह किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सघर्ष और बलिदान कर रहे हैं, वह तो सघर्ष मे ही एक नये गौरव का अनुभव कर रहे थे। १६२०-२१ का वह स्वातंत्र्य-युद्ध हमारी राजनीति के इतिहास मे सचमुच एक गौरवशाली स्मृति है!

साम्प्रदायिकता की प्रगति

आन्दोलन का धार्मिक पक्ष बिल्कुल स्पष्ट था। आजाद और मोहम्मदअली उसके दो प्रमुख नेता थे, दोनो के जीवन की प्रेरणा का मूल-स्रोत धर्म था। आजाद के लिए तो यह मुसल्मान का फर्ज था कि वह या तो अपने को खत्म करदे या अपनी आजादी कायम रख सके। मोहम्मदअली भी कम धार्मिक न थे। राष्ट्रीय-खिलाफत आन्दोलन के दिनो की दो प्रमुख घटनाओ—१६२० की हिजरत और १६२१ के मोपला-आदोलन—से भी इस धार्मिक प्रवृत्ति का पता लगता है। १६२१ के अंत में आजाद और अलीबन्धु फिर गिरफ्तार कर लिए गए। फर्वरी १६२२ में, चौरीचौरा के हत्याकाण्ड के बाद, गाधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। नवम्बर १६२२ में मुस्तफा कमाल के उस समय के सुल्तान-खलीफा को पदच्युत करके टर्की के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही खिलाफत आदोलन का सारा आधार ही खत्म होगया। आने वाले

वर्षों में निराशा और खीझ हमारी राजनीति का मुख्य विषय बन गई। साम्प्रदायिकता के आधार पर होने वाले कौंसिलो के नये चुनाव ने साम्प्रदायिक विद्वेष को प्रोत्साहन दिया। गलतफहमियों के इस वातावरण में दूसरों के दोष ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं था। हिन्दुओं में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि खिलाफत का साथ देकर उन्होंने एक सकुचित धार्मिकता का समर्थन किया था। मुसल्मानों का खयाल था कि हिन्दुओ के दब्बूपन की वजह से उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय-शक्ति का साम्प्रदायिकता की धाराओं में वह निकलना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजी सरकार से जब बस न चला तो हिन्दुओं ने मुसल्मानो के कान उमेठने की कोशिश की। और मुसल्मानों ने भी हिन्दुओं पर अपना ग़ुस्सा निकालना चाहा। साम्प्रदायिकता के इस प्रबल झन्झा वात में राष्ट्रीय नेतृत्व का एक बहुत बडा अश डिग उठा। मौलाना मोहम्मद अली ने १६२३ मे जेल से छूटने पर कहा कि अब वह एक छोटे कैदखाने से बडे कैदखाने में आगये हैं। उसी वर्ष कोकोनाडा काग्रेस के वह सभापति बने। पर, उनकी राजनीति उतनी उग्र नहीं रह गई थी, और धीरे-धीरे वह क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र से हटते गए, यद्यपि वह अपने अन्तिम दिनों तक भी साम्प्रदायिकता के कट्टर समर्थक नहीं बन सके थे। पर, मौलाना शौकतअली ने तो अपने को सांप्रदायिकता के हाथ बेच ही दिया। उधर स्वामी श्रद्धानन्द ने, जो दिल्ली मे मशीनगनो के सामने छाती खोलकर खड़े होगए थे और जिन्हें मुसल्मानो ने जामामस्जिद में भाषण देने पर मजबूर किया था, हिन्दू साम्प्रदायिकता का नेतृत्व अपने हाथो में लिया। और, लाजपतराय जैसे कट्टर और मजे हुए देशसेवी भी साम्प्रदायिकता की ओर झुक चले। इन घटनाओं की प्रतिक्रिया मुस्लिम-जनता पर होना स्वाभाविक ही था। बड़े-बडे लेखक भी इस प्रभाव से बच न सके। अमीरअली ने अग्रेजों की आलोचना करना बन्द करदी, और खुदाबख्श खुले आम हिन्दुओं को गालिया देने लगे।

इकबाल के शक्तिशाली व्यक्तित्व की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इकबाल क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र मे कभी नहीं रहे, पर उनके प्रभावशाली साहित्य और सशक्त व्यक्तित्व का प्रभाव मुसल्मान राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के जीवन और आदर्शों पर बहुत गहरा पड रहा था। यह प्रभाव, यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, राष्ट्रीयता के सर्वथा विरुद्ध था, और सामाजिक-सगठन के मार्ग में भी रुकावट डालने वाला था। इकबाल अपने योरुप-प्रवास से लौटने के बाद से ही राष्ट्रीयता के कट्टर विरोधी होगए थे। उन्होंने योरुप में राष्ट्रीयता का नग्न-ताण्डव देखा था और तभी से अन्तर्राष्ट्रीयता में वह

विश्वास करने लगे थे, यद्यपि उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता की कल्पना एक अखिल-मुस्लिम-सगठन की सीमाओ से बधी थी। जबकि कुछ मुसलमानो ने अपनी राष्ट्रीयता की प्रेरणा धर्म से प्राप्त की, इकबाल का मत था कि राष्ट्रीयता धर्म की शत्रु है। उन्होने कहा—

इन ताजा खुदाओ मे 'बडा सबसे वतन है,
जो पैरहन उसका है वह मजहब का कफ़न है।

और—

चीनो अरब हमारा हिन्दोस्तां हमारा ।
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहा हमारा ॥

इस विचार-धारा से राष्ट्रीयता का अहित और साम्प्रदायिकता का समर्थन होना स्वाभाविक था। इकबाल की अन्तर्राष्ट्रीयता भी कभी शुद्ध रूप न ले सकी। सच तो यह है कि इकबाल पर विचारो का अधिक प्रभाव पडता था, वस्तु-स्थिति का कम। इस्लाम के वह प्रशसक थे—पर उसके और मुस्लिम समाज के वर्त्तमान संगठन के अन्तर को वह न देख सके, एक विश्व-व्यापी सगठन मे उनका विश्वास था—इस्लाम मे भी उन्हे इस सगठन का रूप मिला। उन्होंने यह सोचने की चिन्ता नहीं की कि उनके सामने इस्लाम का जो रूप था, उसमें विश्व-व्यापी सगठन का आधार बनने की पात्रता रह नहीं गई थी, न उन्होने यही सोचा कि उनके सामने भी किसी ऐसे ही विश्व-व्यापी संगठन का एक कोई विशद प्रयोग किया जा रहा है। इकबाल प्रधानतः कवि थे। भावनाये उन्हे उडा ले जाती थीं। इस्लाम को उन्होने आदर्श माना और इसलिए राजनैतिक क्षेत्र मे उन्होने राष्ट्रीय सस्थाओं के बदले मुस्लिम सस्थाओ का—काग्रेस के बदले मुस्लिम लीग का—समर्थन किया। इकबाल ने भारतीय मुस्लिम समाज के सामने शक्ति का एक नया आदर्श रखा, पर उसके प्रयोग की दिशा के सम्बन्ध मे वह मौन रहे। इकबाल का शक्ति का सन्देश व्यक्ति के लिए था—उसका आदर्श व्यक्तित्व को विकास की चरम सीमा तक ले जाना था, पर समाज-सेवा का कोई आदर्श उन्होंने व्यक्ति के सामने नही रखा। विवेकानन्द और उनमे यही अन्तर था—और इसी कारण जहा हम एक ओर हिन्दू-समाज का नेतृत्व विवेकानन्द के बाद गाधी के हाथो मे पाते हैं, जो जीवन मे बडी से बडी शक्ति प्राप्त तो करना चाहता है पर उसे समाज की सेवा मे लगा देता है, मुस्लिम-समाज मे इकबाल के बाद जिस व्यक्ति का सबसे अधिक प्रभाव रहा वह हैं मुहम्मदअली जिन्ना जो सारी शक्ति अपने आपमें केन्द्रित कर रखना चाहते हैं।

राष्ट्रीयता का पुनरुत्थान

सांप्रदायिकता के इन अंधेरे दिनो में भी कुछ प्रमुख मुसलमान नेता राष्ट्रीयता में अपना विश्वास अडिग बनाये रह सके। इनमे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ० अन्सारी, हकीम अजमल खा, चौधरी ख़लीकुज्ज़मा आदि के नाम मुख्य हैं। जमीयत-उल-उल्मा, जिसकी स्थापना १६१६ में मौलाना मोहम्मद-उल-हसन के नेतृत्व में हुई थी, और जिसने १६२१ में मुसल्मानो को असहयोग का मार्ग स्वीकार करने का प्रसिद्ध 'फतवा' दिया था, मुफ्ती किफ़ायतुल्ला के नेतृत्व में, अनवरत रूप से, राष्ट्रीयता का समर्थन करती रही। मुस्लिम लीग भी राष्ट्रीयता का समर्थन कर रही थी—यद्यपि इन दिनो उसकी शक्ति अधिक नहीं थी। १६२७ मे सायमन-कमीशन की नियुक्ति के बाद मुस्लिम-लीग में दो दल होगए। सरकार-परस्त दल ने फीरोजखा नून और डॉ० इकबाल के नेतृत्व मे अपना सगठन किया, पर एक बड़े दल ने मुहम्मदअली जिन्ना के नेतृत्व में कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। १६२८ मे नेहरू रिपोर्ट के प्रकाशन से राष्ट्रीय विचार रखने वाले मुसल्मानो की स्थिति कुछ और कमज़ोर हो गई। प्रथम-श्रेणी के कुछ मुसल्मान नेताओं ने, जिनमे मौलाना मुहम्मद-अली मुख्य थे, उसका विरोध किया। मुसल्मानों के एक सर्वदल सम्मेलन ने, जिसमें लीग का वह दल भी शामिल हुआ था जिसके नेता मि० जिन्ना थे, नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत कर दिया—पर, इसका परिणाम भी यह हुआ कि काग्रेस के समर्थक मुसल्मानो ने फौरन ही एक 'राष्ट्रीय मुस्लिम दल की स्थापना कर ली। १६३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे मुसल्मानों ने बड़ी सख्या में भाग लिया। १६३१ मे लखनऊ में सर अली इमाम के नेतृत्व में देश भर के राष्ट्रीय मुसल्मानों की एक बहुत बडी कान्फ्रेंस हुई, जिसमे कई हजार व्यक्तियो ने भाग लिया। इसके कुछ ही दिनों पहिले इलाहाबाद में डॉ० इकबाल के सभापतित्व में मुस्लिम-लीग का वार्षिक उत्सव होकर चुका था, जिसमें ७५ से भी कम व्यक्ति शामिल थे।

१६२६-३० के विश्वव्यापी अर्थ-सकट के बाद से प्रायः प्रत्येक देश और वर्ग मे दो परस्पर विरोधी विचार-धाराएं एक दूसरे से टकराने लगी थीं। एक ओर तो प्रगतिशील शक्तिया थीं, जो समाज के वर्तमान ढाचे को तोड़ फेंकना, और एक नये समाज का निर्माण करना, चाहती थीं, और दूसरी ओर प्रतिक्रियात्मक शक्तिया थीं, जो अपना सारा बल उसे न केवल सुरक्षित रखने, पर अधिक सशक्त बनाने में, लगाना चाहती थी। हमारे देश में, और देश के मुस्लिम-समाज में भी, १६३० से १६३७ तक प्रगतिशील शक्तियो का प्राधान्य रहा। इन वर्षों मे

मुसल्मान एक बडी संख्या मे काग्रेस का साथ देते रहे। हुसैन अहमद मदनी और उबैदुल्ला सिधी जैसे प्रमुख उलमा बराबर काग्रेस के साथ रहे। काग्रेस के मुस्लिम नेताओ मे मौलाना आजाद, हकीम अजमल खा, डॉ० किचलू, डॉ० अन्सारी आदि मुख्य थे। अपने धार्मिक चिन्तन, प्रगाढ विद्वत्ता, और प्रभावशाली वक्तृत्वशक्ति से मौलाना आजाद ने सदा ही समझदार मुसल्मानो के एक बहुत बडे तबके को काग्रेस के साथ रखने में सहायता पहुचाई है। काग्रेस के साम्यवादी वर्ग मे तो मुसल्मानों की एक बड़ी संख्या थी। यूसुफ़ मेहरअली का नाम इस सम्बन्ध मे अनायास ही याद आजाता है। मैकडोनल्ड के 'साप्रदायिक निर्णय'के प्रति काग्रेस के अनिश्चय के रवैये ने जहां एक ओर कुछ हिंदुओं को असतुष्ट किया था, वहा उससे कुछ मुसल्मान भी नाराज हुए, और अन्सारी, खलीकुज्जमा आदि ने काग्रेस को छोड देने की धमकी भी दी। काग्रेस मे मुसल्मानो की तादाद जरूर कम होगई, पर अधिकतर मुसल्मान बहुत-सी ऐसी मुस्लिम सस्थाओ मे शामिल होगए, जिनके आदर्श काग्रेस से मिलते-जुलते थे।

इनमे पजाब का अहरार दल प्रमुख था। इसकी स्थापना १६३० मे हुई। '३० और '३२ के आन्दोलनो और कुर्बानियों मे अहरार पार्टी ने क्रियात्मक भाग लिया। तब से वह देश की एक प्रमुख सस्था बन गई है। राजनैतिक आदर्शों में काग्रेस से समानता रखते हुए भी सामाजिक विचारो मे अहरार दल उससे आगे बढ़ा हुआ है। राजनीति में उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। १६३६ मे जब वर्तमान महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, अहरारो ने सबसे पहिले साम्राज्यवादी युद्ध होने के नाते उसकी आलोचना की, और अपने इन विचारो के कारण अहरार दल के बहुत से सदस्य जेलो मे गए। सीमाप्रात में इसी प्रकार ख़ान अब्दुल गफ्फारखा के नेतृत्व मे खुदाई ख़िदमतगारो का सगठन हुआ। सदियों से जिन पठानो के हाथ ख़ून से रङ्गे रहे हैं उनके हृदयो मे अहिंसा का सफल प्रवेश किस प्रकार हो सका, यह इस युग की एक आश्चर्य-घटना है। १६३० के आन्दोलन मे खुदाई ख़िदमतगारों ने अपने अहिंसात्मक अनुशासन का बड़ा ज्वलन्त परिचय दिया। तब से यह सारा आन्दोलन काग्रेस के सरक्षण मे चलता रहा है, परन्तु पठानों तक ही सीमित है, और सीधा काग्रेस के अन्तर्गत नही है। ख़ान अब्दुल ग़फ्फारखा के व्यक्तित्व द्वारा ही वह उससे सम्बद्ध है। मुसल्मानो के निम्न-वर्ग, विशेषकर जुलाहों, में भी राष्ट्रीय जीवन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। इन लोगो ने 'अखिल भारतीय मोमिन कान्फ्रेंस की स्थापना की। उनका दावा है कि यह सस्था देश के ४॥ करोड मुसल्मान कारीगरो का प्रतिनिधित्व करती है। इसके अलावा मुसल्मानो में, शिया पोलिटिकल कान्फ्रेंस

आदि अन्य राजनैतिक दल भी हैं जिनका झुकाव राष्ट्रीयता की ओर है। कुछ प्रातीय प्रवृत्तिया भी समय-समय पर सगठित होती रही हैं। इनमे शेख मोहम्मद अब्दुल्ला द्वारा सगठित जम्मू और काश्मीर की मुस्लिम कान्फ्रेंस, बगाल की कृषक-प्रजा पार्टी, व पजाब की यूनियनिस्ट पार्टी प्रमुख हैं।

१६३७ का चुनाव प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो पर प्रगतिशील प्रवृत्तियों के प्राधान्य का स्पष्ट प्रतीक था। प्रोफेसर हुमायू कबीर के शब्दो मे, "हिंदुओ में जगह-जगह काग्रेस की जीत हुई, और पुराने विचारों के समर्थक बड़े-से-बडे व्यक्ति उसके सामने टिक न सके। मुसल्मानो में भी प्रतिक्रियावादी तत्त्व पीछे धकेल दिये गए, यद्यपि वे नष्ट नही किये जा सके। बगाल में लीग, जिसे पूंजीवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व प्राप्त था, प्रजा पार्टी के टिकट पर खडे होने वाले फजलुलहक के सामने टिक न सकी। पजाब में कट्टर साप्रदायिकता की समर्थक लीग सर सिकदर के नेतृत्व में हिन्दू और मुसल्मान नरम राजनीतिज्ञो का जो सगठन किया गया था उससे हारी। युक्तप्रात में लीग, कुछ प्रगतिशील तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करने के कारण, नवाब छतारी और उनके प्रतिक्रियावादी समर्थको पर विजय प्राप्त कर सकी। सीमाप्रात मे कांग्रेस ने लीग को उखाड फेंका, और सिंध में भी वह अधिक सफल न हो सकी।"[1] दूसरे शब्दों में, १६३७ में देश के सामने एक ऐसा अवसर था जब यदि हिंदू और मुसल्मान प्रगतिशील शक्तिया मिल जातीं तो बहुत कुछ काम कर सकती थीं। पर १६३७ की इन राजनैतिक घटनाओं के पीछे इतिहास की जो प्रबल शक्तिया काम कर रही थीं, उन्हें कौन रोक पाता? कुछ लोगों का अनुमान है कि चुनाव के बाद ही यदि काग्रेस सभी प्रातो मे मन्त्रिमण्डल बनाने पर तैयार होजाती तो चुनाव से प्राप्त की गई इस शक्ति को सयोजित किया जा सकता था। बगाल मे फजलुलहक काग्रेस के क्रियात्मक सहयोग के लिये बेचैन थे, पर जब काग्रेस ने पद-ग्रहण न करने का निश्चय कर लिया, तो उन्हें मजबूर होकर लीगकी शरण लेनी पडी। सर सिकंदर को भी ऐसी ही परिस्थितियों मे लीग का सहारा टटोलना पडा। लीग को उसकी वर्तमान स्थिति तक पहुचाने में फजलुलहक और सर सिकदर का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उन प्रातों में भी, जिनमे काग्रेस का बहुमत था, उसकी इस अनिश्चयात्मक नीति ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल दिया। मुस्लिम-लीग चुनाव के दिनो की करारी हार से अब उभरने लगी थी, और अपने संगठन मे जुट गई थी। उसे आशा थी कि मन्त्रिमण्डल बनाने में काग्रेस उसका सहयोग चाहेगी, पर जब काग्रेस ने उसकी अवज्ञा की, उसने अपनी सारी शक्ति

१-प्रो० हुमायूं कबीर : Muslim Politics, 1906-42, पृ० १४-१५।

मुसल्मानों को उसके खिलाफ़ संगठित करने में लगादी । अनुभव की कमी, और राष्ट्रीयता के शुद्ध-स्वरूप को न पहिचान पाने के कारण कांग्रेस मंत्रियो ने कुछ गलतिया भी कीं । मुस्लिम-लीग ने कांग्रेस को बदनाम करने, और मुसल्मानों को उसके खिलाफ भड़काने में इन ग़लतियो से पूरा लाभ उठाया। इन्हीं दिनो, अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नो को लेकर, कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार के बीच सघर्ष एक व्यापक रूप ले रहा था । कांग्रेस की शक्ति को कुचलने के लिए सरकार के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों का समर्थन प्राप्त करना अनिवार्य होगया। लीग ने इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया। इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग मे अंग्रेजी सरकार और मुस्लिम साप्रदायिकता दोनो ने मिलकर एक दुर्भेद्य प्रतिक्रियावादी मोर्चा स्थापित कर लिया। अगले अध्याय मे हम इस मोर्चे की बारीकियो से अवगत होने का प्रयत्न करेंगे।

: ४ :

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की मांग

इक़बाल का स्वप्न

यह बात साधारणतया मानी जाती है कि हिन्दुस्तान के बटवारे का विचार सबसे पहिले डॉक्टर इक़बाल ने मुस्लिम लीग के १९३० के इलाहाबाद-अधिवेशन के सामने रखा था। इस सम्बन्ध मे कुछ बातें जान लेना ज़रूरी है। डॉक्टर इक़बाल ने इस भाषण में कहा था कि ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय मुसलमानो का भाग्य उन्हें मुस्लिम उत्तर-पश्चिमी प्रातों के एक राजनैतिक संगठन की ओर ले जा रहा है। यह कल्पना ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के उनके अपने अध्ययन का परिणाम थी। इस कल्पना के पीछे एक विश्व-व्यापी मुस्लिम-संघ का उनका स्वप्न तो पृष्ठ-भित्ति का काम कर ही रहा था, पर हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों पर दृष्टि रखते हुए भी इक़बाल का यह विश्वास हो चला था कि प्रान्तों के पुनः सगठन से हमारी साम्प्रदायिक समस्या का हल प्राप्त हो सकेगा। साप्रदायिक चुनाव के वह कट्टर विरोधी थे, और उनका विश्वास था कि यदि प्रातो का फिर से संगठन किया जाय, और मुस्लिम-प्रातों को पूर्ण स्वायत्त-शासन दे दिया जाय तो मुसलमानो के लिए दूसरी कौमों से समझौता कर लेना आसान हो जायगा। इस तरीके को साम्प्रदायिक चुनाव पर वह तरजीह देते थे।

इक़बाल ने अपने भाषण में यह तो बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया था कि यह विचार केवल उनकी अपनी 'व्यक्तिगत इच्छा' है। वह जानते थे कि जहा तक मुस्लिम-जनता का प्रश्न है, वह निस्सदेह सघ-शासन का समर्थन करेगी। 'व्यक्तिगत-इच्छा' की दृष्टि से भी इक़बाल देश के बंटवारे का समर्थन नहीं कर रहे थे। वह तो केवल इस सिद्धान्त का विश्लेषण कर रहे थे कि हिन्दुस्तान की आबहवा, वर्ण, भाषा, धर्म और सामाजिक सगठन की विभिन्नताओं को देखते हुए यह सभव हो सकता है कि उसके अन्तर्गत भाषा, वर्ण, इतिहास, धर्म और आर्थिक स्वार्थों की एकता के आधार पर कई ऐसे छोटे राज्यों की स्थापना की जा सके, जो एक बडी सीमा तक स्वाधीन हों। इसी सम्बन्ध में उन्होने यह विचार भी व्यक्त किया था कि मुस्लिम उत्तर-पश्चिमी प्रान्त अखिल-भारतीय सघ-शासन के अन्तर्गत एक राजनैतिक इकाई का रूप ले सकेगा। हम इस बात को भुला नहीं सकते कि डॉक्टर इक़बाल सारे देश के लिए एक सघ-शासन की स्थापना के पक्ष में थे। पर, वह एक 'सच्चा सघ-शासन' चाहते थे, जिसमें वे सब अधिकार जो केन्द्रीय-शासन को सौंपे न गए हों, प्रातीय सरकारों के हाथ में

रहे, और केन्द्रीय-शासन केवल उन्हीं अधिकारो का प्रयोग कर सके जो प्रान्तीय शासन द्वारा स्पष्टतः उसे दे दिये गए हो। अपने इन विचारो मे इकबाल निस्सदेह अपने समय से बहुत आगे बढे हुए थे।

कैम्ब्रिज : पाकिस्तान की जन्मभूमि

यह एक दिलचस्प बात है कि पाकिस्तान का विचार सबसे पहिले कैंब्रिज-यूनीवर्सिटी के मुस्लिम विद्यार्थियो के एक छोटे से दल मे उत्पन्न हुआ। जनवरी १६३३ में, जब पार्लमेण्ट की एक सयुक्त-कमैटी हिन्दुस्तान के भावी शासन-विधान के संबन्ध मे खोजबीन कर रही थी, कैम्ब्रिज के चार मुसल्मान विद्यार्थियो ने—जिनके नाम थे, मोहम्मद असलम खां, रहमतअली, शेख मुहम्मद सादिक और इनायतुल्लाखां—'अब या कभी भी नहीं' के नाम से चार पृष्ठोका एक पैम्फ-लेट छापा, जिसमे, पहिली बार, हिन्दुस्तान को दो हिस्सो में बाटने का विचार प्रगट किया गया था। दलील यह थी कि हिन्दुस्तान के मुसल्मान गैर-मुसल्मानो से हर तरह से मुख्तलिफ है। उनका खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना, रस्म-रिवाज, शादी के तरीके वगैरा सब अलहदा हैं, और इन कारणो से वह एक अलग राष्ट्र मान लिए जाने के हकदार हैं। अलग राष्ट्र होने के नाते उनका यह अधि-कार होजाता है कि वह अपने एक अलग राज्यका संगठन करे। प्रकृति ने पञ्जाब, काश्मीर, सिन्ध और सीमा-प्रदेश के प्रान्तों को इसके लिए निर्धारित किया है। इन प्रान्तो को मिलाकर यदि एक राज्य का निर्माण किया जाय तो उसकी भौगोलिक सीमा फ्रास से दुगुनी और आबादी लगभग बराबर होगी। कैम्ब्रिज के इन विद्यार्थियो ने डॉक्टर इकबाल से अपना मत-भेद स्पष्ट शब्दो मे प्रगट किया। उन्होने कहा कि इकबाल की कल्पना तो केवल यही थी कि इन प्रान्तो को मिला कर एक राज्य बना दिया जाय, और वह अखिल-भारतीय सघ-शासन के अन्तर्गत हो। उसके विरुद्ध, यह लोग चाहते थे कि इन प्रान्तो को मिलाकर एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जाए, देश के अन्य भागो से जिसका राजनैतिक सम्बन्ध केवल अ तर्राष्ट्रीय ढग का हो। यदि देश मे सघ-शासन की स्थापना हुई तो उसमे हिन्दुओ की प्रधानता अनिवार्य है और मुसल्मानो को ऐसे सघ में शामिल होना पडा तो उनकी हालत गुलामो से भी बदतर होगी। यह विचार काफी दिनो तक केवल कुछ खब्ती-दिमागो की उपज माने जाते रहे। गोलमेज-परिषद् मे शामिल होने वाले प्रमुख मुसल्मान प्रतिनिधियों से जब उसके सम्बन्ध में पूछा गया तो एक ने तो बताया कि वह 'कुछ लडकों की योजना है और दूसरे ने 'काल्पनिक और अव्यावहारिक कह कर उसकी आलोचना की।

इस पैम्फलेट पर दस्तखत करने वाले चार व्यक्तियो मे से एक, रहमतअली,

ने अपने इस प्रचार को पूरे जोर के साथ जारी रखा। जुलाई १६३५ में उन्होंने एक नया पैम्फलेट छापा, जिसमें उन्होने अपनी पुरानी दलीलों को फिर से दोहराया, और इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया कि जबकि बर्मा हिन्दुस्तान से अलहदा किया जा सका तो पाकिस्तान के एक स्वतन्त्र राज्य बनाये जाने में क्या कठिनाई हो सकती है। १६४०मे कराची में 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेण्ट' के तत्वावधान में की गई एक सभा में उन्होंने एक बयान दिया जो 'इस्लाम की मिल्लत और भारतीयता का खतरा' के नाम से बाद में प्रकाशित किया गया। इस पैम्फलेट में उन्होंने बताया कि 'मिल्लत' के सामने जो सबसे बड़ा काम है, वह 'हिन्दुस्तान को तोड़ना और एशिया का पुनर्निर्माण' करना है। उन्होंने भारतीयता को इस्लाम के लिए घातक बताया। और लिखा कि 'मिल्लत' के बचाव के लिए यह जरूरी है कि वह हिन्दुस्तान से अपने सम्बन्ध तोड दे। उनका विश्वास था कि हिन्दुस्तान न तो कभी मुसलमानों की मातृभूमि था, न कभी होगा। इस बीच, रहमतअली के आन्दोलन की सीमाएं उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों से बहुत आगे बढ चुकी थीं। वह एक मुस्लिम राज्य की नहीं, कई मुस्लिम राज्योंकी कल्पना करने लगे थे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाने की जो योजना थी, उस पर तो रहमतअली पूरा जोर दे ही रहे थे, परन्तु उन्होंने अब इस बात का प्रचार करना आरम्भ किया कि बगाल और आसाम मिलकर 'बगे-इस्लाम' का रूप ले लें, और हैदराबाद की रियासत 'उसमानिस्तान' के रूप में एक स्वतन्त्र राज्य बन जाय, और ये तीनों स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य अपना एक सघ कायम कर लें।[1]

डाक्टर लतीफ़ की योजना

१६३८ई० में उसमानिया यूनीवर्सिटी के एक भूतपूर्व अध्यापक,डॉक्टर लतीफ, पाकिस्तान के विचार को सस्ती भावप्रवणता के क्षेत्र से निकाल कर विद्वत्तापूर्ण विचार-विनिमय के क्षेत्र में ले आये। १६३८ ई० में उन्होंने 'भारतवर्ष का सास्कृतिक भविष्य' और 'भारतवर्ष के विभिन्न सास्कृतिक प्रदेशों का एक सघ' नाम की दो विद्वत्तापूर्ण पुस्तिकाएं लिखीं। १६३६ ई० मे उन्होंने 'भारतवर्ष में मुस्लिम समस्या' नाम की एक पुस्तक में अपने इन विचारो को बडे विशद रूप

1—१७ मार्च १६४५ को लन्दन में एक भाषण में मुस्लिम लीग से अपने 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट' का अतर बताते हुए रहमतअली ने कहा, "मुस्लिम लीग दो पाकिस्तानी राज्य चाहती है, हम आठ चाहते हैं, लीग ३-२॥ करोड मुसल्मानों को हिन्दुस्तान के अन्तर्गत छोड देने के लिए तैयार है। हम उनके छः और राज्य बना लेना चाहते हैं। लीग हिन्दुस्तान को हिन्दू और मुसल्मान दोनों की सामान्य मातृभूमि मानती है। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं।"

से उपस्थित किया।' डाक्टर लतीफ इस विश्वास को लेकर चले थे कि हिंदुस्तान एक अविभाज्य राष्ट्र नही है, परन्तु वह इस निष्कर्ष पर कभी नहीं पहुँचे कि इसीलिए उसके टुकडे कर दिये जाने चाहिए। डॉक्टर लतीफ ने समस्त देश के लिए एक सयुक्त शासन का आदर्श सामने रखा, परन्तु इस एकता का आधार था भारतीय राष्ट्र के अन्तर्गत छोटी-छोटी राष्ट्रीयताओ मे उनकी अपनी भौगोलिक सीमाओं के आधार पर पूर्ण स्वायत्त-शासन की स्थापना। डॉक्टर लतीफ़ का प्रस्ताव था कि हिंदुस्तान को १५ सास्कृतिक क्षेत्रो मे बाट दिया जाय, जिनमे ४ मुसल्मान व ११ हिंदू हो, और प्रत्येक 'क्षेत्र को अपना स्वतन्त्र-शासन अपने-आप निर्धारित करने की पूरी आजादी हो।

डॉक्टर लतीफ कुछ नये सिद्धातो को सामने लाये, पर उन्होने उन सिद्धातो की व्याख्या नही की। उन्होने इस बात को बिलकुल स्पष्ट नहीं किया कि केन्द्रीय शासन और इन स्वतन्त्र 'क्षेत्रो' मे शक्ति का बटवारा कैसे होगा। उन्होने सांस्कृतिक स्वाधीनता की दृष्टि से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में चले जाने की कल्पना भी की है, पर इसमे क्या कठिनाइया सामने आयगी, इसके सम्बन्ध मे नही सोचा। उन्होने सक्राति-काल के लिए भी कुछ सुझाव पेश किये है, जिनमे प्रमुख ये हैं—(१) केन्द्रीय शासन की शक्ति को बिलकुल कम कर दिया जाय, (२) प्राती और केन्द्र दोनो स्थानो पर अग्रेजी ढग के मन्त्रिमण्डल के स्थान पर मिश्रित और स्थायी मन्त्रिमण्डल बनाये जाय; (३) केन्द्रीय धारा-सभा मे कम से कम ३३ प्रतिशत मुसल्मान हो। मुस्लिम धर्म, व्यक्तिगत कानून और संस्कृति के सम्बध में जो प्रश्न सामने आये उनके सम्बध मे उनका सुझाव था कि उनका अतिम निर्णय धारासभा के मुसल्मान सदस्यो की एक विशेष समिति के हाथ मे हो।

'एक पंजाबी' के विचार

डॉक्टर लतीफ ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तको द्वारा वाद-विवाद की ऐसी आग भड़का दी, जिसकी आखिरी चिनगारिया अभी तक बुझ नही पाई हैं। १६३६ मे पजाब के दो बडे स्तभ नवीन योजनाये लेकर हमारे सामने आये। इनमे से एक थे नवाब सर मोहम्मद शाहनवाज खा, जिन्होने 'एक पंजाबी' के नाम से अपनी 'A Confederacy of India' नाम की पुस्तक प्रकाशित की। 'एक पजाबी' ने सिद्धातो की दृष्टि से डॉक्टर लतीफ की योजना का समर्थन किया है, परन्तु उनकी कुछ अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। हिदुस्तान को १५ भागोमे बाटने के स्थान पर उन्होने यह सुझाव रखा है कि उसे ५ देशो में बाटा जाय। इनमे से प्रत्येक कई प्रातो का संघ हो, और स्वय एक अखिल-भारतीय सघ का सदस्य

हो। एक बात जो हमे यहा ध्यान मे रखना चाहिए वह यह है कि नवाब साहब ने कहीं इस बात का समर्थन नहीं किया है कि हिंदुस्तान का कोई हिस्सा उससे अलहदा कर दिया जाय। इस्लाम के एक विश्व-संघ की कल्पना तो उनके मन में भी थी। उनका विचार था कि इस प्रकार का सघ 'योरुप के हाथों से एशिया की आजादी की दिशा में पहिला कदम' होगा, और इससे इस्लाम के विश्व-संघ का जो प्रिय आदर्श मुसल्मानों के सामने था, उसे प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। नवाब साहब ने अपनी पुस्तक में बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि भारतीय मुसल्मानों में विदेशी तत्त्व बिल्कुल नगण्य है, और हिंदुस्तान की जमीन के जर्रे-जर्रे के वे भी उतने ही हक़दार हैं, जितने हिंदू। उनका निश्चित विश्वास था कि भारतीय मुसल्मानों का भाग्य और भविष्य हिंदुस्तान में ही है, उसके बाहर कहीं नहीं।

सर सिकन्दर हयात खां योजना

एक दूसरी योजना भी पजाब से आई। इसके निर्माता थे सिकन्दर हयात खा, वहा के प्रधान मन्त्री। उन्होंने १६३६ के आरम्भ में पंजाब की धारा-सभा में एक भाषण दिया, जो 'भारतीय संघ-शासन की योजना की बाह्य-रेखा' के नाम से प्रकाशित भी हुआ। सर सिकन्दर हयात खा की योजना के अनुसार हिन्दुस्तान को सात भागों या 'क्षेत्रों' में बाटा जाना चाहिए। इन सात क्षेत्रों में से दो मुसल्मान व पाच हिंदू 'क्षेत्र' होगे। प्रत्येक 'क्षेत्र' का आंतरिक सगठन सघ-शासन के सिद्धातों के आधार पर होगा, और वे सब एक अखिल भारतीय सघ-शासन के अग भी होंगे। सर सिकन्दर का मत था कि अग्रेजी प्रातों और रियासतों को एक साथ ही रखना चाहिए। उन्हें आशा थी कि इस प्रकार से पडौस के प्रातो और रियासतों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ेगी, और वे सब अखिल-भारतीय केन्द्र के कार्यों में भी एक सयुक्त आधार पर शामिल हो सकेंगे। सर सिकन्दर हयात खा की योजना के अनुसार राजनैतिक शक्ति के तीन विभिन्न स्तरों की कल्पना की गई है। केन्द्रीय शासन के क़ायम रखने में तो उनका प्रगाढ विश्वास था ही। प्रातीय शासन के खत्म किये जाने के वह खिलाफ थे। पर इनके अलावा कुछ प्रातों को मिलाकर वह शासन के एक माध्यमिक स्तर की स्थापना भी करना चाहते थे। हिंदुस्तान को इस प्रकार के सात भागों में बाट देने का उनका प्रस्ताव था। प्रत्येक भाग में जिस नये शासन की स्थापना होगी, सर सिकदर की कल्पना के अनुसार, उसे एक ओर तो केन्द्रीय शासन के बहुत से अधिकार मिल जायगे, और दूसरी ओर बहुत से ऐसे अधिकार होंगे जो प्रांतीय शासन के साथ-साथ उपयोग में लाये जा सकेंगे। शासन का मूला-

धिकार प्रात मे रखने में ही सर सिकंदर का विश्वास था।

सर सिकदर हयात खा की योजना बडी दोषपूर्ण थी। यह समझना कठिन है कि वह किस सिद्धात के आधार पर देश को सात भागो मे बाटना चाहते थे। उनकी योजना के पीछे न तो समस्या के सास्कृतिक पक्ष का कोई गहरा अध्ययन था, न आर्थिक पक्ष की जानकारी। दक्षिण भारत को वह दो भागो मे बाटना चाहते थे। मद्रास-प्रात, ट्रावन्कोर, मद्रास की देशी रियासते और कुर्ग को एक भाग मे रखने का उनका प्रस्ताव था, और बम्बई प्रांत, हैदराबाद, पश्चिम की देशी रियासते मिलकर एक दूसरे समूह का निर्माण करने वाली थीं। इस प्रकार बंटवारे मे सास्कृतिक समानता का तनिक भी ध्यान नही रखा गया है। एक ओर तो हम गुजराती और मलयालम भाषाओ का प्रयोग करने वाले व्यक्तियो को एक ही समूह में पाते हैं, और दूसरी ओर मराठी, तेलगू और कन्नड भाषा-भाषी विभिन्न समूहो मे बाट दिये गए है। यह समझना भी बडा कठिन है कि मध्यप्रात के देशी राज्यो का मध्यप्रांत से अलहदा किया जाना किस बड़े उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए है। राजपूताना के देशी राज्यो को भी कई भागों मे बाट देने का प्रस्ताव है। बीकानेर और जैसलमेर पंजाब वाले समूह मे मिला दिये जायंगे। शेष रियासते एक ऐसे अस्तव्यस्त समूह में शामिल होगी जो करधनी के समान देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला होगा, जिसमें ग्वालियर, मध्य-भारत के देशी राज्य, बिहार और उडीसा के देशी राज्य, और मध्यप्रात और बिहार के सूबे होगे। सर सिकदर की योजना अस्पष्ट और कई दोषोसे पूर्ण है, पर उसका महत्त्व इसमे है कि उसने पहिली बार हिदुस्तान को कई भागो मे बाट देने के विचार को क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र मे ला खडा किया। सर सिकदर की योजना किसी पंडित की अपने अध्ययन-कक्ष मे तैयार की गई सैद्धातिक योजना नही थी, एक राजनीतिज्ञ का गम्भीरता से पेश किया गया प्रस्ताव था।

मुस्लिम-लीग का निर्णय

यह है पाकिस्तान के विचार के विकसित और पल्लवित होने का एक संक्षिप्त इतिहास। इस अवसर पर मुस्लिम-लीग ने अचानक इस क्षेत्र में प्रवेश किया, और बडे उत्साह के साथ इस विचार को अपना लिया। जब कि पाकिस्तान के सम्बन्ध में दुनिया भर की काल्पनिक योजनाये बनाई जारही थीं, मुस्लिम-लीग उनके सम्बन्ध मे बिल्कुल तटस्थ थी। १९२८ मे, अपने उद्देश्यो को स्पष्ट करते हुए लीग ने अपने एक प्रस्ताव मे घोषित किया कि "भारतीय परि-स्थितियो मे केवल एक ही ढंग की शासन-व्यवस्था उपयुक्त हो सकती है, और वह है सघ-शासन, जिसके अतर्गत प्रातो में पूर्ण स्वायत्त-शासन हो, व उस

शासन को वे सब अधिकार प्राप्त हों जो उसने स्पष्टतः केन्द्रीय शासन को सौंप न दिये हों।" इकबाल की कल्पना का 'सच्चा सघ-शासन भी यही था। जब १९३५ का एक्ट पास हुआ, जिसमें स्वायत्त-शासन के सिद्धात के आधार पर प्रातों का सगठन किये जाने व उनके एक केन्द्रीय-शासन से सबद्ध-सश्लिष्ट कर दिये जाने की योजना थी, तो लीग ने उसे, 'उसका जो भी उपयोग हो सके कर लेना चाहिए' की नीति को दृष्टि में रखते हुए, प्रयोग मे लाना स्वीकार किया—यद्यपि उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "उसमें बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जो एतराज के क़ाबिल हैं, और जो शासन और व्यवस्था के सारे क्षेत्र पर वास्तविक नियत्रण और मन्त्रियों और धारासभा द्वारा सच्चे उत्तरदायित्व के निर्वाह को असम्भव बना सकती हैं।" १९३६ में चुनाव के अवसर पर, मुस्लिम-लीग ने अपने उद्देश्यों के सम्बध मे जो घोषणा की थी, उससे भी उसकी नीति पर प्रकाश पडता है। लीग ने अपने उन प्रतिनिधियों के सामने, जो धारा-सभा में जाकर काम करने वाले थे, दो उद्देश्य रखे थे—एक तो यह कि मौजूदा प्रातीय शासन और प्रस्तावित केन्द्रीय शासन दोनों को हटाकर उनके स्थान पर 'प्रजातन्त्रात्मक स्वराज्य' की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाय, और दूसरे, जहा तक वर्त्तमान धारा-सभाओं का सम्बध है, "राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जनता के लाभ के लिए उनका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके।" इस प्रगतिशील घोषणापत्र में यह भी कहा गया है कि "जब तक साम्प्रदायिक चुनाव हैं, मुस्लिम-लीग को अपनी अलग स्थिति तो रखना है ही, पर वह किसी भी ऐसे दल के साथ जिसके उद्देश्य और आदर्श लगभग वही हैं, जो लीग-पार्टी के, पूरे सहयोग की भावना में काम करेगी।" इस घोषणा-पत्र में हम कोई बात ऐसी नहीं पाते जिसे साम्प्रदायिक, प्रतिक्रियावादी अथवा सकुन्चित कह सकें। प्रगतिशीलता उसमें कूट-कूट कर भरी है। वह हमे एक सोनहले भविष्य का विश्वास दिलाता है, जिसमें देश की समस्त प्रगतिशील शक्तिया मिल-जुल कर काम करेंगी। प० नेहरू ने कांग्रेस की ओर से भी यही आश्वासन दिया—"कांग्रेस धारासभाओं में एक निश्चित कार्यक्रम और एक निश्चित नीति के साथ प्रवेश कर रही है। वह धारासभाओं में, बहुमत मे हो या अल्पमत में, अपने इस कार्यक्रम और नीति को आगे बढाने में दूसरे दलों के साथ बडी खुशी के साथ सहयोग करेगी।"

पर, सूर्यास्त के रङ्गीन बादलों की तरह, आशा और विश्वास की यह कल्पना अधिक दिनों नहीं टिक सकी। कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बना लेने के बाद से ही सारा दृश्य बदल चला। मि० जिन्ना ने घोषणा की कि "कांग्रेसी शासन से

मुसल्मान न तो न्याय की आशा कर सकते हैं और न भलमनसाहत की ही।" जून १६३८ मे लीग ने कांग्रेस के सामने ११ मांगें रखीं जिनमे एक यह भी थी कि "लीग को भारतीय मुसल्मानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था मान लिया जाय।" अक्तूबर १६३८ मे सिंध की प्रांतीय मुस्लिम लीग कान्फ्रेंस ने, जिसके सभापति मि० जिन्ना थे, यह मांग की कि 'भारतीय महाद्वीप में स्थायी शान्ति रह सके और उसके अन्तर्गत हिन्दू और मुसल्मान जो दो राष्ट्र हैं वे अपना सांस्कृतिक विकास कर सकें और आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकें। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हिन्दुस्तान को दो संघ-शासनों में बांट दिया जाय—एक मुस्लिम राज्यों का संघ हो और दूसरा ग़ैर-मुस्लिम राज्यों का। '३९ के आरम्भ मे मुस्लिम-लीग की वर्किङ्ग-कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे शासन-विधान के प्रांतीय पक्ष की भर्त्सना की गई थी, और यह कहा गया था कि वह विभिन्न प्रांतों मे मुसल्मानों के साधारण अधिकारों की रक्षा करने मे भी सर्वथा असमर्थ रहा है। ५ अगस्त '३९ को मि०जिन्ना ने घोषणा की कि एक ऐसे देश मे जिसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रीयताएं हों पार्लमेंटरी ढंग के प्रजातंत्र का सफल होना असंभव है। २८ अगस्त १६३९ को लीग वर्किङ्ग-कमेटी ने प्रस्ताव किया कि "विरोध मे एक स्थायी सांप्रदायिक बहुमत के होते हुए केवल वैधानिक संरक्षण से काम नहीं चल सकता।" सितम्बर १६३९ मे वर्किङ्ग-कमेटी ने घोषणा की कि मुस्लिम भारत किसी भी ऐसे संघ-शासन की स्थापना का जोरदार विरोध करेगा जिसमे पार्लमेंटरी ढंग के प्रजातन्त्र शासन की आड मे एक बहुमत वाले सम्प्रदाय का शासन हो।" इसी प्रस्ताव मे यह भी कहा गया था कि इस प्रकार का शासन-विधान इस देश मे, जहां जनता विभिन्न राष्ट्रीयताओं में बटी हुई है, और इसीलिए जहां 'एक राष्ट्र के आधार पर एक राज्य' की स्थापना का आदर्श प्रयुक्त नहीं हो सकता, सर्वथा अनुपयुक्त होगा।

नवम्बर १६३९ मे, युद्ध-सम्बंधी नीति मे मतभेद होने के कारण, कांग्रेस ने अपने प्रांतीय मन्त्रिमण्डल हटा लिए। कांग्रेसी शासन के हट जाने की खुशी मे मुस्लिम-लीग ने २२ दिसम्बर १६३९ को देशभर में 'मुक्ति-दिवस' मनाया, पर कांग्रेस के साथ मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने के प्रयत्न को अभी भी लीग ने नहीं छोड़ा था। फर्वरी १६४० मे जिन्ना साहब ने कहा कि "हिंदुस्तान के मुसल्मान अपनी क़िस्मत का फैसला अपने आप करेंगे, उसे किसी दूसरे के हाथों मे, चाहे वह अंग्रेज हो या हिंदुस्तानी, हरगिज न छोड़ेंगे।" परन्तु, जान पड़ता है, उन्होंने अभी तक देश को दो हिस्सों में बांटने की बात नहीं सोची थी। जनवरी १६४० मे "टाइम एण्ड टाइड" के एक लेख में उन्होंने लिखा, "एक

ऐसी योजना बननी चाहिए, जिसका आधार इस सिद्धान्त में हो कि हिन्दुस्तान में दो राष्ट्र हैं, परन्तु, ये दोनों राष्ट्र अपनी सामान्य मातृभूमि के शासन में साझीदार रह सकें। इस प्रकार के शासन-विधान के निर्माण में मुसलमान अंग्रेजी-सरकार, कांग्रेस या किसी भी दल से समझौता करने के लिए तैयार हैं, जिससे वर्तमान का पारस्परिक द्वेष खत्म हो सके, और हिन्दुस्तान दुनिया के दूसरे बड़े देशों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके।' इन शब्दों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यद्यपि जिन्ना साहब का यह विश्वास तो बन चुका था कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र नहीं है, पर अभी तक वह उसमें एक ही शासन की स्थापना की कल्पना कर रहे थे। पर, इसके कुछ ही हफ्तों के बाद लीग ने पाकिस्तान-सम्बन्धी अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव सामने रखा, जिसमें यह कहा गया था कि "ऐसी कोई वैधानिक योजना इस देश में कार्यान्वित नहीं हो सकती और न मुसलमानों को स्वीकृत हो सकती है जिसे निम्न मूलभूत सिद्धान्तों पर न बनाया जाय : भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरी के समीप-स्थित इकाइयों की ऐसी हदबन्दी हो कि, आवश्यक प्रादेशिक हेरफेर के बाद, जहा मुसलमान बहुसख्या में हों, जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी भागों में हैं, वहा उन्हें मिलाकर स्वाधीन राज्यों की स्थापना की जाय, जिनमें शामिल होने वाली इकाइया स्वशासन-भोगी और सार्वभौम रहें।' यह था मुस्लिम-लीग का पाकिस्तान सम्बन्धी ऐतिहासिक लाहौर-प्रस्ताव।

प्रस्ताव अस्पष्ट और अनिश्चित है। उसमें बहुत-सी बातें बिना किसी व्याख्या अथवा विश्लेषण के छोड दी गई हैं। इस प्रस्ताव से पाकिस्तान की भौगोलिक सीमाए क्या होंगी, यह समझना बडा कठिन है। क्या इसका अर्थ यह माना जाय कि मुस्लिम बहुसख्या वाले प्रान्त अपना एक सघ क़ायम कर लेंगे अथवा यह कि उनमें से प्रत्येक एक स्वतन्त्र और सार्वभौम राज्य होगा? प्रस्ताव में 'प्रादेशिक हेरफेर' की बात कही गई है, पर उसमें यह नहीं बताया गया है कि यह हेरफेर किस सिद्धात के आधार पर होगी। जनता का मत लिए जाने का कहीं भी ज़िक्र नहीं है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि नये बनने वाले राज्य, या राज्यों में, किस प्रकार का शासन-विधान अमल में लाया जायगा। ऐसी दशा में, यदि देश ने इस प्रस्ताव को बहुत गम्भीरता के साथ नहीं लिया तो उसमे आश्चर्य की बात क्या है! आम तौर से इसका असर यही पडा कि लीग ने यह प्रस्ताव किसी विश्वास के आधार पर नहीं परन्तु केवल अपनी राजनैतिक सौदे करने की शक्ति को बढ़ाने के विचार से किया है। इन दिनों भारतीय राजनीति में मुस्लिम-लीग का जो स्थान बन गया था, उसे देखते हुए यह सदेह

लोगों को काफी सप्रमाण दिखाई दिया, तो इसमे भी क्या आश्चर्य था ! कांग्रेसी मंत्रिमण्डलो के इस्तीफ़ा देने के बाद मुस्लिम-लीग का महत्त्व अचानक, और तेजी से, बढ चला था—यह अंग्रेजी सरकार की नई नीति का परिणाम था। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलो के इस्तीफा दे देने से पहिले तो अंग्रेजी शासन को आश्चर्य और कुछ दुःख हुआ। कुछ दिनो तक उसे आशा रही कि कांग्रेस अपना रवैया बदल देगी। तब उन्होने मुस्लिम-लीग और दूसरी साप्रदायिक सस्थाओ की ओर सहयोग का हाथ बढाया। सरकारी प्रचार की दिशा फौरन बदल दी गई। कांग्रेस को बदनाम किया जाने लगा। यह कहा जाने लगा कि वह अल्प-सख्यक जातियों के विकास के मार्ग मे बाधक है—यहां हम यह न भूले कि जब तक कांग्रेस ने पद न छोडे थे कभी किसी गवर्नर ने उस पर साप्रदायिकता का दोष नहीं लगाया था और कांग्रेस के इस्तीफा दे देने के बाद भी कई गवर्नरो ने कांग्रेसी मंत्रिमण्डलो के असाप्रदायिक होने का समर्थन किया था, परन्तु अब क्योंकि अंग्रेजी नीति में परिवर्त्तन हो चुका था, लीग अचानक भारतीय मुसल्मानों की एकमात्र प्रतिनिधि बन गई थी !

पाकिस्तान का मनोविज्ञान

मि० जिन्ना के सामने यह एक अभूतपूर्व अवसर था, और उन्होने उससे पूरा लाभ उठाया। वह अंग्रेज़ी शासन के दृष्टिकोण से अपना महत्त्व समझ गए थे, और उसे अधिक से अधिक बढा लेने का कोई अवसर छोडना नहीं चाहते थे। लीग के लाहौर-अधिवेशन मे उन्होंने कहा भी—"आप लोग यह न भूले कि युद्ध की घोषणा के अवसर तक वायसराय गाधी, और केवल गाधी, की बात ही करते थे।" अब मि० जिन्ना का मौका आया था ! उन्होंने अपने आपको अंग्रेजी नीति का साधन बन जाने दिया—क्योंकि इससे उनके अपने साप्रदायिक स्वार्थों की पुष्टि होती थी। उन्होने अब अंग्रेजी शासन पर जोर डाला कि वह स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा कर दे कि वह किसी ऐसे विधान को स्वीकृत नही करेगा जिसके लिए मुस्लिम भारत की स्वीकृति पहिले से प्राप्त न कर ली गई हो। अंग्रेजी सरकार ने उनकी यह बात फ़ौरन मान ली। १६४० की अगस्त-घोषणा मे यह बात अस्पष्ट रूप से मान ली गई कि विधान मे किसी भी प्रकार का स्थायी, अथवा अस्थायी परिवर्तन, बिना मुस्लिम-लीग के समर्थन और स्वीकृति के नहीं किया जायगा। अंग्रेजी सरकार के लिए तो यह एक अच्छा अवसर था। विदेशा मे जनमत तेजी से भारतीय स्वाधीनता के पक्ष मे होता जा रहा था—उसे इस भुलावे मे रखा जा सकता था कि अंग्रेज यदि भारतवर्ष को स्वाधीनता नहीं दे रहे हैं तो

इसका कारण यही है कि भारतीय मुसलमान एक-राय से उसका विरोध कर रहे हैं। भारत-मन्त्री एमेरी यह कहते हुए थकते न थे कि अंग्रेजी सरकार भारतीयों को शासनाधिकार सौंप देने के लिए बेचैन है, पर सवाल यह है कि उसे सौंपे किसके हाथों में। भारतीय राजनैतिक दलों में जहां एका हुआ, वह फौरन भारतीयों के हाथ मे शासन के सब अधिकार दे देंगे। जिन्ना साहिब के लिए मुस्लिम-लीग की ताकत को बढा लेने का यह बड़ा अच्छा मौका था। अंग्रेज़ी सरकार और जिन्ना दोनों अपनी-अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की दृष्टि से एक मैत्री के सूत्र में बंध गए। यह समझौता कांग्रेस के खिलाफ था। उसके पीछे केवल कूटनीतिज्ञता थी, विश्वास अथवा सिद्धांतों की सामान्यता न थी। यह तो वैसा ही समझौता था जैसा कुछ महीनों पहिले नात्सी जर्मनी और सोवियट रूस में हुआ था। जर्मनी और रूस के समझौते के समान इस समझौते से भी अंग्रेज़ी सरकार और लीग दोनों की स्थिति अधिक दृढ हो सकी।

भारतीय राजनीति की इस पृष्ठभूमि पर पाकिस्तान के प्रस्ताव को रख कर ही हम उसके वास्तविक महत्त्व को समझ सकते हैं। हमें यह बात भूलना नहीं चाहिए कि पाकिस्तान का प्रस्ताव कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग के चार महीने बाद—एक ऐसे समय जब अंग्रेजी सरकार को कांग्रेस के खिलाफ सभी राजनैतिक तत्त्वों को सशक्त बनाने की नीति स्वीकार करने पर, विवश होना पड़ा था—हमारे सामने आया। यह कहना ठीक न होगा कि जिन्ना साहिब अंग्रेजी शासन के हाथ में कठपुतली का काम कर रहे थे—सच तो यह है कि वह अंग्रेजों की कमजोरी का पूरा लाभ उठाने में लगे हुए थे। वह जर्मनी के फ्यूरर से भी अधिक तेजी के साथ अपने हाथों में शक्ति संग्रहीत कर रहे थे। गैर-कांग्रेसी सूबों मे उनकी धाक ऐसी थी जैसी किसी ज़माने में शायद मुग़ल-सम्राट की भी न रही हो। मन्त्रिमण्डलों का निर्माण और पतन उनके इशारे पर निर्भर रहता था। पंजाब और बंगाल के मुस्लिम-प्रांत भक्ति, बल्कि भय से, जिन्ना साहब की आज्ञाओं का पालन कर रहे थे। वायसराय की रक्षा-समिति (Defence Council) से वह बड़े से बड़े मुसल्मान नेताओं को अलहदा रखने में सफल हुए—और जिन्होंने आसानी से उनका कहना नहीं माना उन्हें लीग से निकाल बाहर करने की उन्होंने धमकी दी। मध्य-कालीन युद्धों में जिस प्रकार सिपाहियों के जोश को ताज़ा रखने के लिए मारू बाजे बजते रहते थे, वैसे भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि पर मुस्लिम-लीग व उसके प्रमुख नेताओं द्वारा पाकिस्तान की मांग बराबर दोहराई जाती रही—और कांग्रेस के खिलाफ लड़ाई अपने पूरे जोर में चलती रही। अप्रैल १६४१ में लीग ने मद्रास अधिवेशन में अपनी

इस मांग को फिर से दोहराया, और लाहौर-प्रस्ताव के क्षेत्र को और भी विस्तीर्ण बना लिया।

मुस्लिम-लीग की शक्ति दिन ब दिन बढ़ती जा रही थी। दिसम्बर १६४१ मे लीग की वर्किङ्ग-कमैटी ने अपने नागपुर-अधिवेशन मे इस बात पर अपना 'गहरा असन्तोष और विरोध' प्रकट किया कि 'अंग्रेजी अख़बारो और राजनीतिज्ञो मे कांग्रेस को सतुष्ट करने की नीति पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है,' और घोषित किया कि "यदि ८ अगस्त १६४० की नीति और गम्भीर घोषणा में अथवा मुसल्मानो के साथ किए गए वायदो मे किसी प्रकार का अतर पडा तो हिन्दुस्तान के मुसल्मान उसे अपने प्रति एक बडे विश्वास-घात के रूप मे देखेंगे, अथवा यदि नीति मे कोई ऐसा परिवर्त्तन हुआ या कोई ऐसी नई घोषणा हुई जिससे पाकिस्तान की माग पर बुरा असर पडा अथवा जिसके परिणाम-स्वरूप एक ऐसी केन्द्रीय-सरकार का संगठन हुआ जिसमे हिन्दुस्तान को एक इकाई माना गया और मुसल्मानों को अल्प-संख्या में डाल दिया गया, तो मुसल्मानो को इससे बडा क्षोभ पहुचेगा और वे अपनी समस्त शक्ति लगाकर इसका ऐसा जोरदार विरोध करेंगे जिसका प्रभाव, इस नाजुक स्थिति मे देश के युद्ध-प्रयत्नो पर, बहुत बुरा पडना अवश्यम्भावी है......।" कांग्रेस भी अपनी धमकियो मे कभी इतनी दूर तक न गई थी! इसके बाद, अंग्रेजी सरकार की ओर से, क्रिप्स प्रस्ताव के रूप मे, जो नई वैधानिक योजना रखी गई उसमे देश को दो भागो में बाट देने की मुस्लिम-माग का जितना अधिक समर्थन किया जा सकता था, मौजूद था।

अगस्त १६४२ मे, नेताओं की गिरफ्तारी के बाद, देश भर मे विद्रोह और विक्षोभ की जो आधी उठी, मि० जिन्ना के नेतृत्व मे मुस्लिम-लीग उस समय भी अपनी नीति को अडिग रख सकी—राष्ट्रीयता का यह अभूतपूर्व उत्कर्ष मुस्लिम-लीग का स्पर्श न कर सका। किसी भी परिस्थिति मे, और किसी भी नैतिक कीमत पर, अपनी पार्टी को सशक्त बनाने (real-politik) की जिस पश्चिमी नीति को मि० जिन्ना ने अपनाया था, क्रान्ति के उन सुलगते हुए दिनो मे भी वह उसे छोडने के लिए तैयार न हुए। जिन्ना साहिब ने घोषणा की कि "काग्रेस का निश्चय"—उनका इशारा अगस्त प्रस्ताव की ओर था—"न केवल अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ बगावत की घोषणा है, यह एक गृह-युद्ध की खुली चुनौती भी है, और यह आन्दोलन चलाया ही इसलिए गया है कि अंग्रेजी सरकार को काग्रेस की माग स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया जाय, और हमारा विश्वास है कि काग्रेस की माग हमारी मागों के प्रतिकूल

है।" उन्होंने भारतीय मुसल्मानो को आन्दोलन से अलहदा रहने की सलाह दी—यद्यपि उस आन्दोलन के पीछे भारत की सपूर्ण जनता के लिए शक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा थी, साम्प्रदायिकता का उसमें अंश भी नहीं था, और मुस्लिम-हितो का उससे कोई विरोध नहीं होता था। मैं यह जानता हूं कि उन सक्रामक घड़ियो में देश में अनेकानेक मुसल्मान ऐसे थे जो क्रान्ति की उन खतर-नाक लहरो से खिलवाड़ करने के लिए बेचैन थे जो देश को अपने प्रबल आघातो से हिला रही थीं। पर इसे मि० जिन्ना और मुस्लिम-लीग का उन पर प्रभाव ही मानिए कि उनके आदेश पर इनमें से अधिकाश ने अपने को उस समय की राजनैतिक घटनाओं से अलहदा रखा। पर, यह शक्ति और प्रभाव किन साधनों द्वारा, किन परिस्थियों में, मि० जिन्ना और उनकी लीग ने प्राप्त किया था, यह बहुत कम लोग जानते थे।

अगस्त १९४२ के बाद तो यह दशा हुई कि एक ओर तो सरकार का दमन-चक्र अपने पूरे वेग से राष्ट्रीयता पर प्रहार कर रहा था और उसके आघातों से काग्रेस की मशीनरी टूटती जा रही थी, और दूसरी ओर मुस्लिम-लीग अपनी शक्ति बढाने के एकाकी-प्रयत्न में दत्तचित्त थी। 'आन्दोलन' के प्रारम्भ होने के एक हफ्ते बाद ही लीग की वर्किङ्ग-कमेटी ने अग्रेज़ी-सरकार से माग की कि वह मुसल्मानो को इस बात का आश्वासन दे कि उन्हें आत्म-निर्णय का पूरा अधिकार होगा, और यदि मुसल्मानों का बहुमत पाकिस्तान के पक्ष में हुआ तो वह उसे मान लेगी। मुस्लिम-लीग ने यह प्रस्ताव भी रखा कि वह दूसरे ऐसे दलों के साथ जो सहयोग के लिए तैयार हों, एक ऐसी अस्थायी सरकार बनाने के लिए भी तैयार है, जो देश की समस्त शक्तियों का उपयोग उसके बचाव, और युद्ध के सफल सञ्चालन, के लिए कर सके—पर शर्त्त यह होगी कि मुसल्मानों की माग पूरी कर दी जानी चाहिए। मुस्लिम-लीग की नीति में यह एक नया परिवर्त्तन था—अब वह काग्रेस के राजनैतिक क्षेत्र से हट जाने से जो परिस्थिति पैदा होगई थी उसका पूरा लाभ उठाना चाहती थी। अब तक तो जिन्ना साहिब की दलील यह थी कि जब तक पाकिस्तान की मांग स्वीकार न कर ली जाए, विधान मे, स्थायी अथवा अस्थायी, किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जाना चाहिए, पर, अब उन्होंने यह माग पेश की कि सम-झौता हो या न हो, मुसल्मानों को शासन के अधिकारों से केवल इसलिए वञ्चित नहीं रखना चाहिए कि काग्रेस जेल में है। मुस्लिम बहुमत वाले प्रातो में तो मुस्लिम-लीग ने अपने मन्त्रि-मण्डल बना ही लिए थे। सिध में, खान बहादुर अल्लाबख्श को बिना किसी कारण के हटा दिया गया, और मुस्लिम-

लीग का मन्त्रिमण्डल कायम कर दिया गया। बंगाल में फजलुलहक से जबर्दस्ती त्याग-पत्र पर दस्तख़त कराए गए, और सर नज़ीमुद्दीन, जिन्ना और बंगाल गवर्नर के संयुक्त आशीर्वादों के साथ, प्रधान-मन्त्री की गद्दी पर बैठे। जिन्ना साहिब ने पंजाब में भी यूनियनिस्ट-पार्टी के प्रभाव को कम करने, व सर सिकंदर हयातखां को लीग के अधिक कड़े अनुशासन में लाने, की चेष्टा की। सर सिकंदर मजे हुए खिलाड़ी थे—परन्तु फिर भी पंजाब में मुस्लिम जनता पर अपने प्रभाव को मि० जिन्ना ने बहुत बढ़ा लिया। सर सिकंदर की असामयिक मृत्यु, और खिजर हयात खां तिवाना के नेतृत्व में एक नए मन्त्रिमण्डल के निर्माण, से मि० जिन्ना को पंजाब में अपनी शक्ति बढ़ाने का फिर एक अवसर मिला। मि० जिन्ना इन दिनों शक्ति और प्रतिष्ठा के ऊंचे आकाश में थे, और उनकी शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जारही थी, मुस्लिम-लीग की जड़ें गहरी और मजबूत बनती जारहीं थी—परन्तु, अंग्रेज अधिकारी इस स्थिति से अब कुछ चिन्तित हो चले थे। एडगर स्नो ने अपनी नई पुस्तक ('Glory & Bondage', 1945) में लिखा है कि अप्रैल १९४३ में जब वह अपने ६ महीने के रूस के प्रवास से लौटे, 'मुस्लिम लीग के मुगल-सम्राट कायदे आज़म' अपनी शक्ति के शिखर पर थे। वायसराय के एक अफ़सर ने उनसे कहा, "जिन्ना इस समय देश की सबसे अच्छी मखमली घास पर बैठे हैं। सारा क्षेत्र उनके हाथ में है। गांधी को जितने ज्यादा दिन जेल में रखा जायगा, जिन्ना की मौज है। लेकिन अब हम चिन्तित हो चले हैं। पाकिस्तान बर्फ की लुढ़कती हुई गेंद की तरह तेजी से बढ़ता जारहा है। वह समय शायद दूर नहीं है, जब उसे रोकना असम्भव होजाय।"

इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान के पीछे एक धार्मिक कट्टरता का वातावरण बन जाता। विभिन्न विचार-धाराओं के मानने वाले मुसल्मानों में से हर एक को उसमें अपने आदर्शों की पूर्ति होती दिखाई दी। मुस्लिम राजनीतिज्ञों को उसमें राजनैतिक सौदों का एक बड़ा अच्छा आधार मिल गया था। धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों ने कल्पना की कि पाकिस्तान के रूप में पृथ्वी पर एक ऐसे स्वर्गीय राज्य की स्थापना होने जा रही है जहां इस्लाम-धर्म के उच्चतम आदर्श जीवन के दैनिक व्यवहार की चीज बन जायगे। इन पंक्तियों के लेखक को उन दिनों अहमदिया-आंदोलन के एक प्रमुख नेता से बात करने का अवसर मिला, जो पाकिस्तान का समर्थन शुद्ध धार्मिक आधार पर कर रहे थे। मुस्लिम साम्यवादियों को उसमें एक साम्यवादी राज्य की झलक दिखाई दी। युवकों को संघर्ष के लिए एक राजनैतिक नारा

मिल गया था। जनता की आत्मा एक नए उत्साह से उद्वेलित हो उठी—उसने शक्ति का एक नया विस्तार, और भविष्य के सपनो का एक व्यापक आधार पा लिया था। ऐसे सनसनीखेज वातावरण मे, जब विवेक सोया हुआ था और भावुकता अपने रङ्गीन पखं को फैलाकर कल्पना के व्यापक आकाश में उड चली थी, पाकिस्तान के विचार ने मूर्त्त-रूप लिया। एक अनवरत प्रचार के द्वारा, जिसे एक विदेशी सरकार का समर्थन प्राप्त था, इस विचार ने विश्वास का रूप लिया, विश्वास ने धर्म का जामा पहिना, धर्म कट्टरता की शक्ल मे परिवर्तित होगया। परिस्थितियों की कठोर वास्तविकता से भाग निकलने का यह एक आकर्षक मार्ग था, परन्तु भावनाओं के तूफानी प्रवाह मे उसके समर्थक यह न जान सके कि इस मार्ग का अन्त होता था विद्वेष, अविवेक और आत्महत्या की एक अंधेरी गुफा मे।

: ५ :

अंग्रेजी शासन और हमारी वैधानिक प्रगति

भारत और अंग्रेज

भारत मे अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के सम्बन्ध मे कई भ्रांतिपूर्ण धारणायें फैली हुई है। इनमे से एक यह भी है कि यह एक आकस्मिक और दैवी घटना थी। अंग्रेज़ो के सामने इस देश मे अपने साम्राज्य का निर्माण कर लेने का कोई लक्ष्य नहीं था। यह सच है कि अंग्रेज केवल व्यापार के लिए ही आए थे, पर जब उन्होने देखा कि हिंदुस्तान की राजनैतिक स्थिति से लाभ उठाया जा सकता है तो उन्होने व्यापार को गौण और साम्राज्य-निर्माण को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया, और अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति मे अच्छे-बुरे कैसे भी साधनो को उठा न रखा। सशक्त ऐतिहासिक प्रवृत्तियां उनके इस काम के पीछे थी, जिनमे इगलैंड की औद्योगिक क्रांति मुख्य थी। जब तक मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति के शिखर पर रहा, अंग्रेज व्यापारियो को अपने वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र के बाहर दृष्टि डालने का साहस न पड़ा, पर उसके पतन के बाद हमारी राजनैतिक स्थिति मे जो अस्थायित्व आया उसका उन्होने पूरा लाभ उठाया। अपने योरोपियन प्रतिद्वंदियो, पुर्तगीज, डच, और विशेषकर फ्रासीसियो, से निबटने मे ही उन्हे काफी समय लग गया। इस बीच मराठे दक्षिण मे निजाम व उत्तर मे राजपूतो को पीछे हटाकर उस समय के भारतीय राज्यो मे सबसे प्रमुख स्थान ले चुके थे—और एक ओर सिखो व दूसरी ओर अवध और बगाल के नवाबो पर आक्रमण कर रहे थे। इसी बीच जब मराठे उत्तरी भारत की राजनीति मे अपने को खोए हुए थे, दूर-दक्षिण मे हैदरअली ने एक शक्तिशाली राज्य की नीव डाली। १७६१ ई० से १७७२ ई० तक पेशवा माधवराव प्रथम के समय मे—मराठे पानीपत की हार से उभरने की चेष्टा मे लगे रहे—अंग्रेज़ो ने इसका उपयोग बगाल मे अपनी शक्ति की स्थापना मे किया। मराठो और मैसूर के मतभेद का भी अंग्रेजो ने पूरा लाभ उठाया—और मराठो के साथ मिलकर मैसूर को समाप्त कर दिया। परन्तु, मैसूर के पतन के बाद मराठो ने देखा कि उन्होने स्वय ही अपने और अंग्रेज़ो के बीच की दीवार को ढहा दिया है, और तब उन्हे एक लम्बे समय तक अंग्रेजो के साथ जीवन और मरण के सग्राम मे जूझे रहना पड़ा। प्रथम-मराठा-

युद्ध (१७७६-८२ ई०) का अन्त स्वयं मराठा विजय में हुआ। कुछ अंग्रेज राजनीतिज्ञ तो यह भी सोचने लगे थे कि वे मराठों के साथ मिलकर हिंदुस्तान को दो टुकड़ों में बांट लें, पर तभी मराठा साम्राज्य का पतन एक अभूतपूर्व तेज़ी से शुरू होगया, और १८१८ में उनकी शक्ति का बिल्कुल अन्त होगया। मराठा-साम्राज्य के पतन के बाद अंग्रेज़ी-साम्राज्य के विस्तार का मार्ग अधिक सुगम होगया।

हिंदुस्तान में अंग्रेजी सल्तनत के फैल जाने के बारे में एक दूसरी गलत धारणा यह है कि उसे हिंदुस्तानियों की ओर से किसी बड़े मुक़ाबिले का सामना नहीं करना पड़ा। मैं यह मानता हूं कि यह मुक़ाबिला संगठित नहीं था, उसके पीछे राष्ट्रीयता जैसी किसी प्रज्वलनशील विचार-धारा का बल भी नहीं था, पर हिंदुस्तानियों ने किसी भी जगह आसानी से घुटने टेक दिए हों, यह बात नहीं थी। भारतीयों की ओर से अंग्रेज साम्राज्य-वादियों को एक बड़े विरोध का सामना करना पड़ा इसका प्रमाण तो इसी तथ्य से मिल जाता है कि उन्हें अपने काम में—पलासी से सत्तावन के विद्रोह तक—एक शताब्दी से अधिक का समय लग गया। हर कदम पर उन्हें एक कड़े मुक़ाबिले का सामना करना पड़ा। बंगाल में ही उन्हें काफी समय लग गया, मराठों के साथ संघर्ष आधी शताब्दी के लगभग चला, और अन्त में सिखों को अपने आधिपत्य में लेते-लेते उन्हें बीस वर्ष के क़रीब लग गए। देश भर में उनका साम्राज्य स्थापित होते ही असंतोष की एक देश-व्यापी लहर सत्तावन के विद्रोह के रूप में उठी। भारतीय विरोध को सफलता क्यों नहीं मिली, और कैसे मुट्ठी भर अंग्रेज इतने बड़े देश पर अपना शासन स्थापित कर सके, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर इतिहास के पृष्ठों में टटोलना होगा, इस स्थान पर उनका विश्लेषण अनुपयुक्त ही होगा।

अंग्रेजी-राज्य के भारत में स्थापित होने के सम्बन्ध में एक तीसरी बात जो बारबार दोहराई जाती है यह है कि अंग्रेज़ों के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के पहिले हमारा अपना शासन-तन्त्र, और हमारी अपनी राज्य-व्यवस्था, बिल्कुल टूट चुके थे, देश भर में अशान्ति और अराजकता फैले हुए थे, और इस अशान्ति और अराजकता से अंग्रेजों ने आकर हमें मुक्त किया, और बड़ी उदारता से, हमारे लिए एक नये शासन-तन्त्र की नींव डाली। इस सम्बन्ध में हमें यह बात हर्गिज नहीं भूलना चाहिये कि मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद देश में जो राजनैतिक टूट-फूट हुई थी उसके ध्वंसावशेषों पर एक नई राजनैतिक-व्यवस्था के निर्माण का कार्य भारतीय नेतृत्व में बहुत पहिले से प्रारम्भ हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास का वैसा अंधकारमय युग नहीं है, जैसा

साधारणतः माना जाता है। वह सिराजुद्दौला, हैदरअली और टीपू, पेशवा माधवराव, महादजी सिन्धिया, नाना फडनवीस, अहिल्याबाई होल्कर और कई अन्य प्रमुख सेनानायको और राजनीतिज्ञो की शताब्दी है। इन भारतीय नेताओ ने, अंग्रेजो से बहुत पहिले, भारतीय एकता की दिशा मे निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया था। यह सच है कि इनके सामने कार्य की रूप-रेखा बहुत स्पष्ट न थी, और इन लोगो के लक्ष्य प्रायः एक-दूसरे से टकरा भी जाते थे। पर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के पहिले ही मराठे अखिल-भारतीयता की भावना को एक काफ़ी विकसित रूप दे चुके थे। उनके अंग्रेजों से उलझे रहने के कारण हैदरअली को सशक्त होने का मौका मिल गया। यदि अंग्रेज बीच मे न आजाते तो मुझे पूरा विश्वास है कि मराठे टीपू की शक्ति का अन्त कर देते और वे निःसन्देह देश के एकमात्र शासक होते। मराठा राज्य के पतन के बाद जिस अंग्रेजी राज्य की स्थापना इस देश मे हुई न तो उसके शासन-तत्र मे ही कुछ नवीनता थी और न उसकी व्यवस्था पर पश्चिम की प्रगतिशील विचार धाराओ का कुछ प्रभाव था। वह तो तीसरे दर्जे के अंग्रेजी शासको के हाथ मे एक निम्नकोटि की तानाशाही थी। कोई भी हिंदुस्तानी शासन-व्यवस्था उससे कहीं अधिक प्रगतिशील होती।

एक बात और, और तब हम अपने वर्त्तमान वैधानिक विकास के सूत्रो को पकड सकेंगे। आम तौर से यह भी माना जाता है कि जब अंग्रेजो ने इस देश की राजनीति मे दिलचस्पी लेना शुरू की वह सास्कृतिक पतन के निम्न-स्तर तक जा पहुॅचा था। भारतीय सस्कृति अपने जीवन की अन्तिम सिसकियां ले रही थी, या वह सप्राण और सतेज थी, इसका अन्दाजा तो इसीसे लगाया जा सकता है कि राजनैतिक क्षेत्र मे पुनर्निर्माण के आरम्भ होने के बहुत पहिले ही सास्कृतिक क्षेत्र मे एक नवजीवन की चेतना का सचार होने लगा था। बगाल मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना की अगली पीढी मे ही बंगाली तरुणो के अंग्रेजी भाषा और साहित्य, कला और विज्ञान के संपर्क मे आने की उत्सुकता के प्रमाण मिलते है। भारतीय नवयुग (Renascence) का सूत्रपात उन्हीं दिनो हुआ।[1] जब कई मिशनरियो व जन सेवा की भावना से प्रेरित अन्य योरोपियन सज्जनो ने कलकत्ता नगर मे कई स्थानो पर, और श्रीरामपुर और आस-

१—देखिए इंडियन हिस्ट्री-कांग्रेस के १९३८ के इलाहाबाद-अधिवेशन में पढ़ा गया मेरा प्रबन्ध : An Early Chapter in the History of Indian Renascence —*Proceedings of the Indian History Congress*, 1938

पास के कई गावो मे अंग्रेजी स्कूल और छात्रावास खोले तो भारतीय विद्यार्थियो ने एक बहुत बडी सख्या मे वहा आना शुरू कर दिया। १८०१ मे कलकत्ते मे लॉर्ड वेलेजली ने कपनी के नौकरों के लिए फोर्ट-विलियम कॉलेज की स्थापना की। यह कॉलेज शीघ्र ही पूर्व और पश्चिम की विद्वत्ता और सस्कृतियो के लिए एक सपर्क-स्थल बन गया, और इसी सम्मिलन और पारस्परिक प्रभाव की नीव पर आज की भारतीय सभ्यता का विशाल भवन खडा है। १८१८ ई० मे, जब अंग्रेज भारत के सार्वभौम शासक बने भी नही थे, राजा राम मोहन राय ने लॉर्ड अम्हर्स्ट को अपना वह ऐतिहासिक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि हिंदुस्तान मे यदि शिक्षा का प्रसार करना हो तो वह पश्चिमी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा होनी चाहिए। सच तो यह है कि हमारे देश मे प्राचीन की अन्त्येष्टि के पहिले ही नवीन के निर्माण का शखनाद उद्घोषित हो उठा था। कभी-कभी तो विनम्रता को ताक पर उठा कर रख देने और चीख उठने को जी चाहता है—है ससार का कोई दूसरा राष्ट्र जिसने अधःपतन के दलदल में धसते हुए भी इतनी बडी जीवनी-शक्ति का परिचय दिया हो ?

इस आत्म-विश्वास की भावना के बल पर ही हमारी राष्ट्रीयता का विकास हुआ। पश्चिम के 'चैलेंज' का जवाब हमने सबसे पहिले धार्मिक क्षेत्र मे दिया। राममोहनराय ने उपनिषदों, दयानन्द सरस्वती ने वेदो, और सर सैयद अहमद और अमीरअली आदि ने इस्लाम की प्राचीन महानता, को पुनर्जीवित करके हमारे मन मे इस भावना को जन्म दिया कि हम धर्म के क्षेत्र में पश्चिम से किसी प्रकार कम नही है। भारतीय पुरातत्त्व मे दिलचस्पी रखने वाले शोपनहॉवर, मोनियर विल्सन आदि कई योरोपियन लेखको ने हमारे प्राचीन साहित्य की महानता में हमारे आत्म-विश्वास को जाग्रत किया। सामाजिक क्षेत्र मे भी हम परिवर्त्तन और सुधार के लिये बेचैन हो उठे, और धर्म और समाज के सुधार के कई मिले-जुले आन्दोलन देश के कोने-कोने मे उठ खडे हुए। राजनैतिक दृष्टि से गुलाम होते हुए भी हम यह महसूस करने लगे कि हम एक ऐसी महान् सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं जिसके नीचे से नीचे स्तर तक पश्चिम आज भी नहीं पहुच सका है, और तब हमारे मन में इस भावना का विकास हुआ कि यदि हम गुलामी के इस तौक को फेंक दें तो एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व हमारे हाथ मे आ सकता है। इस भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति हमें स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व मे मिलती है। उन्होंने पश्चिम को लक्ष्य करके कहा, "पार्थिव क्षेत्र मे तुमने हम पर विजय प्राप्त की है, हम आध्यात्मिक क्षेत्र मे तुम

पर विजयी होंगे।" इस आत्म-विश्वास, और चुनौती के साथ, हमारे राष्ट्रीय-जागरण का प्रारम्भ होता है। इन्हीं दिनो इटली के राष्ट्र-निर्माता मैजिनी का एक आध्यात्मिक राजनीति का सदेश भी हमारे हृदय के सवेदनशील तारो को झंकृत कर रहा था। भारतीय राष्ट्रीयता के पहिले युग मे मैज़िनी का प्रभाव भी लगभग उतना ही पड़ा जितना बंकिमचन्द्र या गीता के नए अध्ययन का। विवेकानद के शक्ति के सदेश ने जिन प्रसुप्त भावनाओ को जागृत किया था, और जिन्हे मैजिनी ने देश-प्रेम का ज्वलन्त रूप दिया था, बकिमचन्द्र के 'आनदमठ' ने उनके सगठित होने में मार्ग प्रदर्शन किया। भारतीय संस्कृति की महानता मे इस आत्म-विश्वास की जागृति के साथ ही साथ पश्चिम के प्रति एक महान् अवज्ञा का भाव भी हमारे मन मे विकास पाने लगा। अमरीका से लौटने के बाद के विवेकानन्द के भाषणों मे हम उसकी प्रतिध्वनि पाते हैं। १८८६ में अबीसीनिया द्वारा इटली पर विजय व १६०५ मे रूस पर जापान की विजय ने इस भावना को पुष्ट किया। पहिले महायुद्ध के दिनो मे, जब हिंदुस्तानियों ने पश्चिम के लोगो को साम्राज्य-लिप्सा और तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थो की पूर्ति के लिए कटते-मरते देखा, यह भावना अपनी चरम-सीमा तक जा पहुँची। गाधी के व्यक्तित्व मे, आध्यात्मिक और राजनैतिक दोनो क्षेत्रो मे, पश्चिम के प्रति विद्रोह की इस प्रवृत्ति को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली।

वैधानिक प्रयोगों का आरम्भ

भारतीय राष्ट्रीयता की इस बढती हुई शक्ति की पृष्ठभूमि पर ही हम उन वैधानिक प्रयोगो को ठीक से समझ सकेंगे जिन्हे हमारे अग्रेज शासको ने प्रजा-तन्त्र की स्थापना के नाम पर समय-समय पर हमारे देश मे क्रियात्मक रूप दिया। भारतीय जनता मे आत्म-विश्वास और नागरिक अधिकारो की चेतना के जाग्रत होते ही शासकों के सामने एक समस्या खडी होगई। साम्राज्यवाद का विषैला पोधा तो अज्ञान के अंधेरे मे ही अच्छा फूलता-फलता है, पर, भाग्य की बात, हमारे देश में इस अज्ञान को दूर करने मे स्वय साम्राज्यवादी शासको का ही हाथ रहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि अग्रेज़ी सरकार ने शिक्षा का प्रसार इस उद्देश्य से किया था कि उसे क्लर्कों की एक ऐसी सेना मिल सके जिसके सहारे वह शासन चला सके। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारतीय विद्यार्थी स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के पश्चिमी सिद्धातो के सपर्क में आए। जिन लोगों ने अंग्रेज़ी पढ ली थी वे सभी तो सरकारी नौकरियो मे खप नहीं सकते थे; न जिस किस्म की सरकारी नौकरिया उन दिनों मिल रही थी उनसे उन सबकी आकाक्षा तृप्त हो सकती थी। इस प्रकार नवीन विचार-धाराओ, आकाक्षाओं और स्वप्नो को

लिए पढ़े-लिखे व्यक्तियों का एक नया दल इस देश में खड़ा होगया, जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती थी। परन्तु, इसे उत्साहित भी नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उसका अर्थ होता ऐसी आकाक्षाओं को जन्म देना, जिनकी पूर्ति के लिए सरकार तैयार न थी। कुछ थोड़े से अंग्रेज़ तो दूर भविष्य में, जबकि हिन्दुस्तानियों के हाथ में शासन के अधिकार देना जरूरी हो जायगा बिना किसी भय के देख सकते थे, परन्तु अधिकाश के मन में हिन्दुस्तानियों के प्रति विश्वास अथवा सौहार्द्र का तनिक भी भाव नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के बीच तक तो अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों का सामाजिक सपर्क प्राय: मिट चुका था।

परन्तु, १८५७ के विद्रोह के बाद, जो अधिकाश अंग्रेजों के लिए एक अप्रत्याशित घटना थी, यह जरूरी दिखाई देने लगा कि सरकार को जनमत के सम्पर्क में रहना चाहिए। '५७ की घटनाओं ने यह स्पष्ट बता दिया था कि ऐसे सम्पर्क का न होना कितना खतरनाक हो सकता है। १८६१ का एक्ट, जिसके कारण पहली बार धारासभाओं की स्थापना हुई, इस उद्देश्य से बनाया गया था कि सरकार को कुछ प्रमुख गैर-सरकारी व्यक्तियों का सहयोग मिल जाय—जिससे एक ओर से सरकार भारतीय जनमत से अपना सीधा सपर्क रख सके और दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों की शासन में अधिकार पाने की बढ़ती हुई आकाक्षा को एक सीमा तक तृप्त किया जा सके। १८६१ के एक्ट का उद्देश्य इससे अधिक नहीं था। उसे भारतीय प्रजातन्त्र की ओर पहला क़दम कहना गलत होगा। इस एक्ट के बनने के ३१ वर्ष बाद, कांग्रेस द्वारा इंग्लैंड व हिन्दुस्तान दोनों में सात साल तक किये गए अनवरत परिश्रम और प्रचार के बाद, एक दूसरा एक्ट बना जिसमें चुनाव के सिद्धान्त को अव्यक्त रूप से माना गया व धारासभाओं की सदस्य-सख्या और अधिकारों को थोड़ा-सा बढ़ा दिया गया, पर उस समय भी लॉर्ड डफरिन ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि उक्त 'सुधारों' का मशा हर्गिज यह नहीं था कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी ढंग की पार्लमेण्ट स्थापित कर दी जाय। इस घोषणा से शासन-विधान सम्बन्धी इन दोनो योजनाओं के उद्देश्य का स्पष्ट पता चल जाता है।

१९०५ के बायकॉट व स्वदेशी आन्दोलनों व सरकार द्वारा दमन-चक्र का आरम्भ होने के बाद से ही धीरे-धीरे देश भर में फैल जाने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलनों के कारण भारत सरकार के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई थी। इसका मुकाबिला भी उन्होंने अपने उसी वैधानिक अस्त्र से किया। शासन में सुधारों की घोषणा हुई—नये प्रान्तों में धारासभाएं बनीं, पुरानो में उनके

सदस्यो की वृद्धि हुई, सभी जगह धारासभाओ को अधिक अधिकार मिले। चुनाव के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मान लिया गया। प्रान्तीय व केन्द्रीय कार्य-कारिणी सभाओ मे हिन्दुस्तानियो को नियुक्त किया गया, पर, इस बार भी सरकार का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि शासन मे अधिकार का लालच देकर वह नम्र-दल के राजनीतिज्ञो को अपने साथ ले ले, और तब इस नैतिक बल का उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्र प्रवृत्तियों को कुचलने मे करे। इस बार तो और भी स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया कि हिन्दुस्तानी यह आशा न रखें कि अंग्रेजी सरकार उन्हें पार्लमेण्टी ढंग का शासन देना चाहती है, वह तो उसकी प्रकृति के अनुकूल वस्तु थी ही नहीं। अनुदार दल के वायसराय लॉर्ड मिन्टो ने तो यही कहा था कि इन (१६०६ के) सुधारो का उद्देश्य "भारतवर्ष में पश्चिमी ढग के किसी प्रजातंत्रात्मक शासन की स्थापना नहीं है" परन्तु उदार-दल के भारत-मन्त्री मि० मॉर्ले ने एक कदम और आगे बढ कर कहा—"यदि यह धारणा किसी भी अंश मे ठीक निकली कि वर्त्तमान सुधार, व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी भी रूप मे पश्चिमी ढंग का शासन स्थापित करने मे सहायक होगे तो मैं उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना पसन्द न करूंगा।" ऐसी परिस्थिति मे यदि १६०६ के 'सुधारों' की धारा-सभाओ ने वाद-विवाद के अखाडों का रूप ले लिया तो इसमें आश्चर्य क्यो हो ! इससे बडे किसी उद्देश्य की उनसे अपेक्षा ही कब की गई थी ?

प्रजातंत्र की जड़ों पर आघात

परन्तु, अंग्रेज अधिकारियों ने प्रजातन्त्र-शासन को हिन्दुस्तान के लिए अनुप-युक्त माना हो, केवल यही बात नहीं थी, उन्होने जान-बूझ कर ऐसे साधनो का प्रयोग किया जिनसे प्रजातन्त्र-शासन हमारे देश मे कभी पनप ही न सके। पजातंत्र की स्थापना और विकास के लिए एक विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है—एकता, मैत्री और सहानुभूति के वातावरण की। उसकी सफलता के लिए यह जरूरी है कि देश मे रहने वाले विभिन्न समुदाय एकता की भावना से प्रेरित होते हों, और एक-दूसरे के साथ पूरी सहानुभूति और एक-दूसरे के दृष्टि-कोणों को समझने की पूरी क्षमता रखते हो—दूसरे शब्दों मे, जाति और सप्रदाय की सीमा को पार कर राष्ट्रीय भावना सब में समान रूप से व्याप्त हो। हमारे देश मे इस प्रकार की भावना जन्म ले चुकी थी, और विकास के पथ पर थी—१६०५-६ की देश-व्यापी राजनैतिक जाग्रति इसकी साक्षी थी। इस प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य भारतवर्ष मे पूर्ण-प्रजातन्त्र शासन की स्थापना ही था। परन्तु, अंग्रेजी सरकार ने अपनी नीति से राष्ट्रीयता के इस पनपते हुए पौधे को, प्रजातन्त्र की

और बढती हुई भारतीय जनमत की विचार-धारा को, बीच में ही काट डालना चाहा, और देश में ऐसा वातावरण बनाना चाहा जिसमे तानाशाही के अलावा किसी भी प्रकार की शासन-पद्धति का गुजर नहीं हो सकता था।

अपने भारतीय शासन मे अंग्रेजो ने बहुत पहले से भेद-भाव की नीति को बरतना शुरू कर दिया था। यों तो १८२१ में, 'एशियाटिक जर्नल' मे हम एक लेखक को लिखते हुए पाते हैं, "भारतीयों मे भेदभाव की सृष्टि हमारे शासन का मूल-मत्र होना चाहिए।" इसी अंक में एक दूसरे सज्जन ने लिखा, "हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि (भाग्यवश) इस देश में धर्म और जातियों की जो विभिन्नता है उसे स्थायित्व प्रदान करें, न कि यह कि उसके मिटाने की चेष्टा करें।" १८५८ में लॉर्ड एलफिस्टन को हम इस नीति का सरकारी रूप से समर्थन करते हुए पाते हैं। जहां तक हिंदुस्तान के दो बड़े समाजों का सबध था उन्नीसवी शताब्दी के प्रायः अन्त तक मुसलमानो पर सरकार की कोपदृष्टि थी और हिंदू उसके कृपापात्र थे, पर हिंदुओं मे ज्यों-ज्यो राष्ट्रीय-आदोलन जोर पकड़ता गया, सरकार की नीति मे परिवर्त्तन होता गया और अब उसने हिंदुओं के विरुद्ध मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करना चाहा। १९०४ के बग-भग के पीछे हिंदुओं और मुसल्मानो मे भेद डाल देने की नीति स्पष्ट थी। अपनी 'India in Transition' नाम की पुस्तक में सर हैनरी कॉटन ने स्पष्टतः लिखा है—"इस योजना का उद्देश्य एकता और सगठन की भावनाओ को कुचल डालना था—उसके पीछे शासन-सुविधा सबधी कोई कारण नहीं था। लॉर्ड कर्जन की स्पष्ट नीति यह थी कि राष्ट्र-प्रेम की उभरती हुई प्रवृत्ति को कुचल दिया जाय और राष्ट्रीयता की बढी हुई शक्ति को कमजोर बना दिया जाय।" कलकत्ते के 'स्टेट्समैन ने लिखा—"योजना के पीछे वास्तविक उद्देश्य यह था कि पूर्वी बगाल के मुसल्मानो की ताकत को बढाया जाय, जिससे हिंदुओं की तेजी से बढ़ती हुई ताकत को पूरे जोर के साथ रोका जा सके।'

१९०९ के 'सुधारों' के पीछे भी सप्रदाय को सप्रदाय के प्रति खड़ा कर देने की यही भावना काम कर रही थी, और स्पष्टतः इसी उद्देश्य से इन सुधारो के साथ साप्रदायिक चुनाव की योजना को क्रियात्मक रूप दिया गया। हिज-हाईनेस आगाखां के नेतृत्व मे जो डेपुटेशन लॉर्ड मिंटो से शिमला मे मिला था उसे मौ० मोहम्मदअली ने १९२३ में काग्रेस के सभापति के पद से "एक आदेश के अनुसार किया गया काम' कहा था। भारत-सरकार के एक बड़े कर्मचारी ने लॉर्ड मिंटो द्वारा साप्रदायिक चुनाव के सिद्धात को मान लिए जाने के बाद के एक पत्र में लिखा—"आज एक बहुत बड़ी बात हुई है। राजनैतिक

दूरदर्शिता का एक ऐसा काम हुआ है जिसका प्रभाव हिंदुस्तान और उसके इतिहास पर एक लम्बे समय तक रहेगा। यह काम है ६ करोड़ २० लाख व्यक्तियो (मुसल्मानो) को राजद्रोह की सफ़ो मे शामिल होने से रोक लेना।" यहा हम यह बात भी न भूले कि साप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत का देश-व्यापी विरोध होने पर भी सरकार उसे छोड़ने के लिए तैयार नही हुई। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के मन्त्री ने लिखा—"हमारी कमेटी इस निश्चय का विरोध करती है। यदि एक धार्मिक वर्ग के साथ पक्षपात किया गया तो दूसरे सब धर्मों के मानने वाले अपने-अपने लिए विशेष प्रतिनिधित्व की माग करेंगे।" इस आलोचना मे तनिक भी अतिशयोक्ति न थी—कई धार्मिक सप्रदायो ने अपने लिए अलहदा चुनाव की माग उपस्थित कर भी दी थी। मद्रास के लैंड होल्डर्स एसोसिएशन ने लिखा—"इससे उन विपमताओ के बढ जाने का भय है जो धार्मिक क्षेत्र को छोडकर हर जगह खत्म होती जा रही है, साथ ही यह जनता मे एकता की उस भावना के उन्नति की एक आवश्यक शर्त है; जो,विकास पाने मे बाधक होगा।' भारत-सरकार के १ अक्तूबर १६०८ के पत्र से भी स्पष्ट है कि वह जानती थी कि हिंदुओ मे साधारणतः यह माना जाता था कि "इन प्रस्तावो मे एक धर्म को दूसरे धर्म के खिलाफ खडा करने की कोशिश" है। बॉम्बे प्रेसीडेसी एसोसिएशन की राय मे, "सुधार के प्रस्तावो का मूल-सिद्धात पढे-लिखे वर्ग के प्रभाव के विरुद्ध एक नई शक्ति को खडा कर देना था।" गुजरात सभा के विचार मे इससे एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग के उठ खड़े होने, और भारतीय जनमत की शक्तियो के आपस मे ही लड कर बिखर जाने और एक दूसरे को नष्ट कर देने का भय था।' परन्तु इस देशव्यापी विरोध के बावजूद भी भारत-सरकार ने साप्रदायिक चुनाव के सिद्धात को हमारे शासन-विधान का एक प्रमुख अंग बना ही दिया।

साप्रदायिक चुनाव के भयकर परिणामो से भारतीय राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है, परन्तु एक लम्बे अर्से तक वह राष्ट्रीयता के अदम्य प्रवाह को रोक नही सका। हिंदू और मुसल्मानो मे भेद डालने की सरकारी नीति की प्रतिक्रिया के रूप मे हिंदू और मुसल्मानो मे राष्ट्रीयता के आधार पर एकता स्थापित करने की दिशा मे सगठित प्रयत्न आरम्भ होगए। मालवीय जी के प्रयत्न से इलाहाबाद व अन्य स्थानो मे हिंदू-मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने की दिशा मे कई एकता-सम्मेलन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तिया भी भारतीय मुसल्मानो को अंग्रेज़ शासको का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। टर्की के प्रति इग्लैंड की जो नीति थी वह भारतीय मुसल्मानो के असन्तोप व विक्षोभ को

बढ़ा रही थी। १९१२ के बाद से मुसलमानो मे राष्ट्रीय चेतना का जो निर्बाध स्रोत प्रवाहित हुआ उसका ज़िक्र ऊपर आचुका है। मुस्लिम-लीग जैसी प्रतिक्रियावादी सस्था भी इस प्रभाव से अपने को अलहदा न रख सकी। १९१३ में उसने भारतवर्ष मे स्व-शासन की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया। राष्ट्रीय विचार वाले असंख्य मध्यम-श्रेणी के मुसलमान लीग मे शामिल होगए। इन प्रगतिशील तत्त्वो के लीग में आजाने से काग्रेस व लीग के बीच का अन्तर बहुत कम हो गया। कई वषो तक प्रायः एक ही स्थान पर काग्रेस व लीग के वार्षिक अधिवेशन होते रहे। १९१६ मे दोनों के बीच एक वैधानिक समझौता भी होगया, जिससे काग्रेस ने मुसलमानो के अलहदा चुनाव का विरोध न करने और लीग ने 'होम-रूल' के आदोलन को अपना लेने का निश्चय कर लिया। ख़िलाफ़त के प्रश्न को लेकर मुसलमानो मे अंग्रेज़ी शासन के विरोध की भावना और भी तीखी होती जारही थी। सभी साप्रदायिक शक्तिया शासन के विरुद्ध एक निकट सगठन में बधती जा रही थी।

राष्ट्रीय आदोलन का विस्तार एक दूसरी दिशा मे भी हो रहा था। अबतक राष्ट्रीय आदोलन मध्यम-वर्गके पढे-लिखे व्यक्तियों तक ही सीमित था, परन्तु अब उसमें नई औद्योगिक श्रेणिया भी शामिल होती जा रही थी। भारतीय उद्योग-धधो क विकास के साथ यह स्थिति अनिवार्य थी। उन्नीसवी शताब्दी के अत तक सरकार ने भारतीय उद्योग धन्धो को पनपने ही न दिया था, पर उसके बाद नये साम्राज्यो की स्थापना और अंग्रेजी साम्राज्य से उनकी प्रतिद्वद्विता का लाभ उठाकर भारतीय उद्योग-धन्धे भी सगठित होने लगे थे। बम्बई मे कपडे व बगाल मे जूट की मिले तेजी के साथ खड़ी होती जा रही थी। इनके सहारे हमारे देश मे भी पूजीवादी वर्ग का निर्माण हो रहा था। इस वर्ग की सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ होना स्वाभाविक थी। एक ओर जैसे मध्यम-श्रेणी के पढे-लिखे हिन्दुस्तानी डॉक्टरी, वकीली, पत्रकार कला आदि क्षेत्रो से अंग्रेजो को हटा कर इन धन्धो को स्वय अपने हाथ मे ले लेने के लिए उत्सुक थे, उसी प्रकार पूजीपतियो के लिए भी यह स्वाभाविक था कि वह औद्योगिक क्षेत्र से अंग्रेजों को प्रमुख हटा कर स्वय उनका स्थान ले ले। राष्ट्रीय असन्तोष का प्रमुख अस्त्र स्वदेशी का आन्दोलन था। इस आन्दोलन का प्रभाव भारतीय उद्योग-धन्धो के विकास पर अच्छा पड रहा था। ऐसी दशा मे हमारे नये पूजीपतियो द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थन होना स्वाभाविक ही था। इनक अलावा विद्यार्थी, व्यापारी, छोटे-मोटे दुकानदार, दफ्तरो के क्लर्क और निम्न मध्यम श्रेणी के अन्य व्यक्ति भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे थे। महायुद्ध ने बड़े से लेकर

छोटे तक सभी वर्गों को भारतीय शासन के खिलाफ सगठित कर दिया। युद्ध के परिणाम-स्वरूप भी पूजीपतियो का धन व शक्ति दोनो बहुत बढ गए थे—इससे भी राष्ट्रीय प्रवृत्तियो का बल बढ़ा।' हिंदू और मुसलमान, पूजीपति और श्रमिक, किसान और व्यापारी, सभी वर्गों में सरकार के प्रति असतोष और सगठन की प्रवृत्ति, बढते जा रहे थे। वातावरण मे कम्पन और गति, और आने वाले विस्फोट की गध थी।

परिस्थितियो की चुनौती दिन-ब-दिन गम्भीर रूप लेती जा रही थी। उसे स्वीकार किये बिना चारा नही था, और एक सीमा तक सतुष्ट करते हुए दूसरी ओर से राष्ट्रीयता पर एक और भी बडा प्रहार करना अब जरूरी हो गया था। १६१६ के 'सुधारो' की यही पृष्ठभूमि थी। कहा यह गया कि युद्ध मे हिंदुस्तान ने *साम्राज्य की जो अमूल्य सेवाएं की हैं—उसकी सुरक्षा मे दस लाख से* अधिक व्यक्ति और लगभग ढाई अरब रुपया भेंट चढा दिया है—उसके पुरस्कार मे उसे ये अधिकार दिये जा रहे थे। परन्तु वैधानिक परिवर्तन का मुख्य कारण तो देश की राजनैतिक परिस्थिति ही हो सकती थी। २० अगस्त १६१७ को सम्राट की वह ऐतिहासिक घोषणा प्रकाशित की गई जिसमे कहा गया था कि "भारत मे अंग्रेजी राज्य का अन्तिम लक्ष्य शासन के प्रत्येक विभाग मे अधिक-से-अधिक हिंदुस्तानियो को शामिल करना व हिंदुस्तान में स्व-शासन की ऐसी क्रमबद्ध उन्नति, जिसके परिणाम-स्वरूप वह अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए पूर्ण उत्तरदायी शासन की ओर अग्रसर होसके, होगा।' भारत मे अंग्रेजी राज्य के इतिहास मे सचमुच यह एक नया दृष्टिकोण था। अब तक सभी दलों के प्रमुख अंग्रेज राजनीतिज्ञ इस बात से इन्कार करते रहे थे कि वे हिंदुस्तान मे जिम्मेदार हुकूमत के बनने में सहायक होना चाहते हैं। प्रतिनिधि संस्थाएं बन गई थीं, और उनके सदस्यों की सख्या व अधिकार भी धीरे-धीरे बढाये जा रहे थे, पर अब उत्तरदायी शासन को ही हिंदुस्तान मे अंग्रेजी राज्य का सीधा लक्ष्य मान लिया गया था। यह एक बडा आकर्षक आदर्श था, पर

३—१६०६ में भारतीय मिलें राष्ट्रीय आवश्यकता का केवल ६ फीसदी माल तैयार करती थीं, और ६४ फ़ीसदी विदेशों से, विशेषकर, इंग्लैंड से आता था। १६२१ में ४२ फीसदी आवश्यकता देशी माल से पूरी होने लगी थी, और आयात २६ फ़ीसदी रह गया था। इसी प्रकार १६१३ में हिन्दुस्तान में केवल १३,००० टन लोहा और फ़ौलाद तैयार किया जाता था, पर १६१८-१६ में यह सख्या १२३,८६० टन तक जा पहुंची थी। युद्ध के वर्षों में ही (१६१४-१८ तक) सूती कपडे पहले से दुगुने व जूट व ऊन के कपडे तिगुने बनने लगे थे।

जहा तक वस्तुस्थिति का प्रश्न था, यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस आदर्श की प्राप्ति "धीमी किश्तों" में होगी और "हर कदम का समय और माप" अंग्रेजी शासन द्वारा निर्धारित किया जायगा।

उत्तरदायी शासन की पहली किश्त के रूप मे हमें १६१६ का विधान मिला। प्रजातन्त्रीकरण के दिखावे के रूप में उसमें बहुत कुछ था। केन्द्रीय धारासभा के दोनों भागों मे चुने हुए सदस्यो को बहुमत दे दिया गया था—और उन्हे शासन की आलोचना करने व उस पर प्रभाव डालने के अधिक साधन दे दिये गए थे। प्रातीय धारा-सभाओं के सदस्यो की सख्या बहुत अधिक बढा दी गई थी—और उनमें भी चुने हुए सदस्यों को बहुमत दे दिया गया था। प्रातीय कार्यकारिणी मे भी परिवर्तन किये गए—उसका एक भाग, जिसके अन्तर्गत कुछ गौण-विभाग थे, चुने हुए मन्त्रियों को सौंपा गया। मत देने के अधिकार का विस्तार बढा दिया गया। परन्तु जहा एक ओर अंग्रेजी सरकार हिंदुस्तान में प्रजातत्र के नाम पर नई शासन-योजनाए बना रही थी, दूसरी ओर वह स्वय अपने हाथों देश के राजनैतिक जीवन से प्रजातन्त्र की जड़ो को ही उखाड फेंकने में व्यस्त थी। मौटफोर्ड कमेटी ने एक राय से साप्रदायिक चुनाव को बुरा बताया था, पर स्वयं उसने न केवल इस बात की सलाह दी कि मुसल्मानों के लिए उसका कायम रखना जरूरी है, पर सिखों के लिए भी उसी ढग के चुनाव की सिफारिश की। १६१६ के एक्ट में न केवल मुसल्मानो के लिए ही साप्रदायिक चुनाव कायम रहा, सिखो को भी अलहदा चुनाव के अधिकार दिये गए। मद्रास के अब्राह्मणों और मराठों और कुछ अन्य जातियो के अधिकारों को भी माना गया, दलित जातियों के प्रतिनिधित्व के लिए कुछ विशेष सदस्यों को नामजद किया गया, सगठित उद्योगों को प्रतिनिधित्व दिया गया, और भारतीय ईसाइयों, ऐंग्लो-इण्डियन और योरोपियन जातियो को अलग चुनाव का अधिकार मिला। साप्रदायिक चुनाव का सिद्धात विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लिए मान लिया गया। इस बीच मॉन्टेग्यू के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण नरम दल के नेता काग्रेस से अलग होगए थे—और उन्होने अपनी एक अलहदा सस्था, लिबरल फैडरेशन, का निर्माण कर लिया था। अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियो को भी अपने साथ लेने के प्रयत्न में सरकार लगी हुई थी। वह देशी राजाओं के प्रति भी अपनी नीति बदल रही थी। उन्हें अब साधारण सामन्त की स्थिति से उठाकर सार्वभौम सत्ताधीशों की श्रेणी में लाया जा रहा था। १६२१ मे 'नरेन्द्र मण्डल' का सगठन हुआ।

यह कहना सत्य नहीं है कि १६१६ की शासन-योजना को विकसित होने के

लिए उचित वातावरण नहीं मिला। उसका प्रारम्भ तो निस्सदेह एक अशुभ घड़ी मे हुआ था, जब काले कानून, जलियानवाला बाग और गाधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन पर देश की दृष्टि जमी थी। परन्तु, यह नही कहा जा सकता कि देश ने उसे विकास का पूरा मौका नहीं दिया। नरम दल के नेता शुरू से ही उसका समर्थन कर रहे थे। सप्रू वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य बने। चिन्तामणि ने युक्तप्रान्त मे शिक्षा-मन्त्री का पद ग्रहण किया। सुरेन्द्रनाथ बगाल मे मन्त्री बने। काग्रेस का उग्र दल भी, स्वराज्य पार्टी के रूप में, कौंसिलो मे प्रविष्ट हो गया। काग्रेस के विट्ठलभाई पटेल केन्द्रीय धारासभा के प्रथम चुने हुए अध्यक्ष बने। परन्तु नये सुधारो का खोखलापन जल्दी ही लोगों पर प्रगट हो गया—और नरम दल वाले भी अधिक दिनों तक उसे अपना सहयोग न दे सके। सप्रू और चिन्तामणि दोनो को इस्तीफ़ा देने पर बाध्य होना पड़ा। लोगो ने देखा कि १६१६ के सुधारो का एकमात्र परिणाम यह निकला कि गवर्नर की शक्ति पहले के मुकाबिले मे कई गुना अधिक बढ गई। केन्द्रीय सरकार द्वारा जितने अधिकार प्रान्तीय सरकार को सौंपे गये वे सब उत्तरदायी मन्त्रियों के स्थान पर गवर्नर के हाथ मे आ गए, और उत्तरदायी मन्त्रियों का स्थान वही रह गया जो किसी विभागीय अध्यक्ष का होता है—वे सर्वथा गवर्नर के अधीन थे और अपनी धारासभाओं के प्रति किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं रह गए थे। मद्रास के एक मन्त्री, सर के० वी० रेड्डी द्वारा एक कमीशन के सामने दी गई गवाही १६१६ के शासन-विधान पर अच्छा प्रकाश डालती है। उन्होंने कहा—"मैं राष्ट्रीय सपत्ति के विकास का मन्त्री हूं, पर जगल मेरे अन्तर्गत नहीं हैं। मैं औद्योगिक विभाग का मन्त्री हू, पर कल-कारखानो से मेरा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह गवर्नर के स्वतन्त्र अधिकार मे है, और कल-कारखानो के बिना औद्योगिक विभाग की कल्पना करना कठिन है। मै कृषि का मन्त्री हूं, पर आबपाशी से मेरा कोई सम्बन्ध नही। मैं औद्योगिक विभाग का मन्त्री हू, पर उसमे भी बिजली के कारखाने से मेरा सम्बन्ध नहीं, वह तो सुरक्षित विभाग है। मजदूर और मशीनरी के विषय भी सुरक्षित हैं।"

१६३५ की शासन-योजना

हमारे वैधानिक इतिहास मे अगला महत्वपूर्ण प्रयोग १६३५ की शासन-योजना है। उसके निर्माण मे जितना समय और श्रम लगा, ससार के किसी भी देश की शासन योजना मे उसका चौथाई भी शायद ही लगा हो। बरसों तक विचार-विनिमय, वाद-विवाद, कमेटी—कान्फ्रेंस, गवाही और व्हाइट पेपर का क्रम रहा। सायमन-कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने हिन्दुस्तान भर मे दौरा किया।

अपनी रिपोर्ट पेश की। वह उठाकर एक ओर रख दी गई। एक, दो, तीन गोलमेज-परिषदें हुईं। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की अनेको मीटिंग हुईं, पार्लमेण्ट में महीनों बहस की गई, तब जाकर १६३५ का विधान बना। ऐसी दशा में यदि हम उसमें राजनीतिज्ञता की पराकाष्ठा की आशा करें तो इसमे आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पर, शेवलकर ने उसे "साम्राज्यवादी कूटनीतिज्ञता की पराकाष्ठा" कहा है—"एक ऐसी व्यापक और प्रतिभाशाली योजना जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र भारत की कल्पना को ही समाप्त कर देना और जहा तक वैधानिक उपायों द्वारा हो सकता था, अंग्रेजी साम्राज्य को उन परिस्थितियों के बदल जाने पर भी जिनमें उसकी स्थापना हुई थी, कायम रखना था।" १६३५ का विधान देखने में बड़ा आकर्षक है, उसके द्वारा प्रान्तीय शासन, न्याय और रक्षा के विभागों समेत, ऐसे मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिया गया था जो सयुक्त रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी थे। अंग्रेजी शासन के इतिहास मे यह पहला अवसर था जब प्रान्तीय शासन में भी कुछ वास्तविक अधिकार जनता के मनोनीत व्यक्तियों के हाथ में दिये गए हों। भौगोलिक सीमाओं व जन-सख्या की दृष्टि से हमारे प्रान्त रूस के अतिरिक्त योरुप के अन्य बड़े देशो से किसी प्रकार कम नहीं हैं। इतने बड़े प्रदेशों में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना के महत्त्व को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार केन्द्रीय शासन में भी रक्षा और वैदेशिक विभाग को छोड़कर, शासन का प्रायः सारा शेष भाग एक उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथों में दिये जाने का प्रस्ताव था। मत देने का अधिकार भी लगभग ४ करोड़ व्यक्तियों को, जिनकी सख्या १६१६ के विधान की तुलना में लगभग पांचगुनी थी, दे दिया गया था। परन्तु, एक ओर जहा शासन के एक बड़े अश को उत्तरदायित्व-पूर्ण बनाने का आयोजन था, दूसरी ओर 'विशेष उत्तरदायित्वों' के नाम पर अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल को इतने अधिकार दे दिये गए थे कि, सर बैरीडेल कीथ के शब्दों में, उससे उत्तरदायी शासन के खत्म हो जाने का ही डर था। इसी कारण तो सर सेम्युएल होर जैसा अनुदार राजनीतिज्ञ इग्लैण्ड की साधारण-सभा को यह आश्वासन दिला सका कि १६३५ के विधान के अन्तर्गत उग्र दल के व्यक्तियो के केन्द्रीय शासन पर अधिकार पा जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इंग्लैण्ड के अनुदार दल में भारत के प्रति सदा से जो अविश्वास रहा है, १६३५ के विधान में उसकी अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति हुई है। यों तो प्रत्येक वैधानिक परिवर्तन के अवसर पर उत्तरदायी शासन पर अधिक-से-अधिक प्रतिबंध लादने की चेष्टा की गई है, पर १६३५ के विधान में इन प्रतिबंधों का

हम एक अम्बार-सा पाते हैं, न्यूयॉर्क के आकाश चुम्बी प्रासादो के समान, एक के ऊपर एक। प्रांतीय शासन मे भी गवर्नर के हाथ मे बहुत बडी शक्ति दे दी गई है—वह अपने 'विशेष अधिकारो' के नाम पर शासन में जब चाहे तब हस्तक्षेप तो कर ही सकता है, बिना मन्त्रिमण्डल से पूछे, कलम की हल्की-सी गति से, वैधानिक शासन को बिल्कुल समाप्त करके अपने हाथों मे सारी शक्ति केन्द्रित कर लेने का तानाशाही अधिकार भी उसे प्राप्त है। केन्द्रीय शासन तो प्रजातन्त्र का मख़ौल है। प्रमुख विभागो मे उत्तरदायी शासन के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु जिन थोडे से विभागो मे उसका प्रवेश है उनमे भी गवर्नर जनरल द्वारा 'विशेष उत्तरदायित्व' के नाम पर हस्तक्षेप की पूरी सुविधा है। गवर्नर जनरल को यह भी अधिकार है कि वह देशी राजाओ और अल्पसख्यक दलो के समुचित प्रतिनिधित्व के नाम पर मन्त्रिमण्डल की एकता को नष्ट कर सके। जिस धारासभा के प्रति यह मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी माना जाता था स्वयं उसकी रचना कुछ अनोखे सिद्धान्तों के आधार पर की गई है। उसके दोनो भागो मे एक तिहाई से अधिक देशी राजाओ द्वारा नियुक्त सदस्य होंगे, कौंसिल ऑफ स्टेट के ब्रिटिश भारत से आने वाले सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा रखा गया है, यद्यपि उस चुनाव मे भाग लेने का अधिकार बहुत अधिक धनी व्यक्तियों को ही दिया गया है। नीचे के चैंबर में जो सदस्य ब्रिटिश भारत के होंगे उन्हें चुनने का अधिकार साम्प्रदायिक चुनाव के आधार पर चुनी गई प्रान्तीय धारासभाओ के सदस्यो को होगा। चुनाव के इस अभूतपूर्व तरीके से चुने जाने के बाद भी केन्द्रीय धारासभा को बहुत कम अधिकार दिये गए हैं। रक्षा, विदेशी नीति, राष्ट्रीय कर्जे का लेनदेन, सिक्के और विनिमय-दर, रेलवे—यह सब उसके अधिकार के बाहर हैं। केन्द्रीय बजट की ८० फीसदी से अधिक रकम के सम्बन्ध मे उसे मत देने का अधिकार नहीं है। कानून बनाने अथवा शासन पर नियत्रण आदि क्षेत्रो मे वह गवर्नर जनरल के अधिकारो से बधी हुई है। जहा तक व्यापार और अर्थनीति का सम्बन्ध है, वर्षों के परिश्रम से ऐसे प्रतिबंध विधान मे पिरो दिये गए हैं कि भारतीयो के लिए उनका स्पर्श करना भी असम्भव होगा। दूसरी ओर, गवर्नर-जनरल के हाथ मे सार्वभौम सत्ता दे दी गई है। उस पर जनता द्वारा चुनी गई धारासभाओं का कोई नियंत्रण नहीं है। वह न केवल धारासभाओ के प्रत्येक निर्णय को अस्वीकृत ही कर सकता है, बल्कि स्वयं अपने अधिकार से अस्थायी और स्थायी दोनो प्रकार के कानून बना सकता है। मन्त्रियों से असहयोग की स्थिति में उसे सारे शासन-तन्त्र को ख़त्म करने का पूरा अधिकार है। न तो गवर्नर जनरल और न प्रान्तीय गवर्नर ही

उस सलाह को मान लेने के लिए बाध्य हैं जो उन्हें जनता के प्रतिनिधि-मन्त्रियों द्वारा दी जाय।

वैधानिक प्रयोगों की विशेषताएं : एक विश्लेषण

हमारे देश में '१८६१ के एक्ट से १९३५ के शासन-विधान, और १९४२ की क्रिप्स योजना और १९४५ के वेवल प्रस्तावों तक, प्रत्येक वैधानिक परिवर्त्तन के पीछे कुछ प्रमुख भावनाएं काम करती रहीं हैं। प्रत्येक वैधानिक प्रस्ताव एक विशेष परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से उठाया गया। १८६१ मे शासन के जन-मत के सम्पर्क मे रखने की ज़रूरत, १८९२ में कांग्रेस की दिन-ब-दिन बढती हुई मांगो को कहीं-न-कहीं रोक देने की इच्छा, १९०९ मे राष्ट्रीय आंदोलन मे एक ओर तो सांप्रदायिक आधार पर भेद डाल देने और दूसरी ओर नरम और उग्र राजनीतिज्ञो को एक दूसरे से अलहदा कर देने की नीति, १९१९ में स्वराज्य की राष्ट्रीय मांग को कमजोर बनां देने की इच्छा, और १९३५ मे दिन-प्रति-दिन सशक्त बनते जाने वाले राष्ट्रीय आंदोलन का किसी रूप में मुकाबिला करना—इस प्रकार प्रत्येक वैधानिक परिवर्त्तन के पीछे देश की राजनीति का एक विशेष युग रहा है। १९४२ और '४५ के असफल प्रस्तावों के पीछे भी भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में बढते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का प्रभाव स्पष्ट था। प्रत्येक 'सुधार' के पीछे घटनाओं का एक लम्बा चक्र रहा है, परन्तु राष्ट्रीयता की बढती हुई शक्ति सदा ही उसका प्रमुख कारण रही है, इसलिए प्रत्येक 'सुधार' मे हम राष्ट्रीयता की इस शक्ति के साथ समझौते की भावना तो पाते ही हैं, पर साथ ही, एक हाथ से कुछ थोड़े से अधिकार देते हुए, दूसरे से साम्राज्य की जडो को मजबूत बनाने की चेष्टा भी हम पाते है। सच तो यह है कि ये वैधानिक 'सुधार' उस संघर्ष के पथ पर मील के पत्थरो के समान हैं जो पिछली आधी शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के बीच एक बढते हुए वेग से चलता रहा है।

यद्यपि प्रत्येक वैधानिक प्रगति के साथ हमारे राजनैतिक अधिकारों का विस्तार हुआ है, पर वे अधिकार हमारी मांग और आशा की तुलना में सदा ही कम-से-कम रहे हैं। १८९२ की योजना कांग्रेस के सात वर्ष के अनवरत आन्दोलन का फल थी—किसी ने उसके सम्बंध मे ठीक ही लिखा कि वह पहाड खोदकर चूहा निकालने जैसा प्रयत्न था। १९०९ के सुधारो से, स्वयं मौंटफ़ोर्ड कमेटी के शब्दों में, भारतीय आकांक्षाओं की तृप्ति न तो हुई और न हो ही सकती थी। १९१९ का द्वैध-शासन सर्वथा असफल रहा। १९३५ के सब शासन की सराहना हिंदुस्तान में शायद ही किसी ने की हो। क्रिप्स-योजना, कांग्रेस, लीग,

महासभा, सिख कान्फ्रेंस, सभी ने अवज्ञा के साथ ठुकरा दी। वेवल प्रस्तावों का आरम्भ एक नाटकीय परिस्थिति में हुआ और अंत ग्रीक-ट्रैजिडी के समान। क्यों ऐसा होता रहा है ? इसका तो केवल एक ही उत्तर हो सकता है, और वह यह कि इन योजनाओं के बनाने वालों की नीयत कभी साफ नहीं रही है। ऊपर से वे राष्ट्रीय मांगों को पूरा करने की इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं, पर उनका केन्द्रीय विचार सदा ही अपने हाथों में सत्ता को रोके रहना रहा है। उन्होंने परछाईं से लुभाना चाहा है, ठोस मौलिक वस्तु कभी नहीं दी हैं।

अपनी इस नीति को उन्होंने तरह-तरह के बहानों से छिपाना चाहा है। १६१६ तक तो बहाना था कि पार्लमेंटरी ढंग का प्रतिनिधिक व उत्तरदायी शासन हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। परन्तु, पिछले महायुद्ध के दिनों में प्रजावाद और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धांतों ने जो जोर पकड़ा उसके बहाव में यह बहाना टिक न सका, और अंग्रेजों ने उत्तरदायी शासन को भारत में अपनी नीति का अन्तिम लक्ष्य घोषित किया, परन्तु साथ ही वे इस बात का भी लगातार ऐलान करते रहते हैं कि अशिक्षा, साम्प्रदायिक मतभेद, राजनैतिक अपरिपक्वता, राष्ट्रीय मनोवृत्ति आदि-आदि ऐसे अनेक कारण हैं जो उत्तरदायी शासन के विकास में बाधक है। इसके अलावा अंग्रेजों का यह दावा भी लगातार बढ़ता गया है कि हिंदुस्तान के "सामाजिक व धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा" की जिम्मेदारी भी उन पर है। १६३७ के बाद से सांप्रदायिक मतभेदों के बहुत अधिक बढ जाने और उन्हें कायम रख सकने के अगम विश्वास के कारण, अब तो अंग्रेज सरकार ने इस आकर्षक सिद्धांत की सृष्टि भी करली है कि भारत के वैधानिक भाग्य-निर्णय का अधिकार भारतीयों को ही होना चाहिए। अंग्रेजी सरकार तो किसी भी देसी वैधानिक योजना को मान लेगी जिसे हिंदुस्तान के सब वर्गों और जातियों और प्रमुख राजनैतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो। इस सम्बंध में वह आश्वस्त है ही कि यह एक ऐसी शर्त है जिसको पूरा न होने देना स्वयं उसके हाथ में है। क्रिप्स और वेवल प्रस्तावों की असफलता से इस कथन का औचित्य स्पष्ट होजाता है।

इन सब वैधानिक 'सुधारों' का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में एक सम्प्रदाय के खिलाफ़ दूसरा सम्प्रदाय, एक जाति के खिलाफ दूसरी जाति और एक दल के विरुद्ध दूसरा दल, खड़ा होता गया और भारतीय समाज अनेकानेक टुकड़ों में बंटता गया। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जो प्रजावाद के बिल्कुल विरुद्ध जाती है। प्रजावाद का अर्थ जहां देश में एकता की स्थापना करना है, प्रजावाद के नाम पर हमारे शासकों द्वारा जो वैधानिक योजनाएं बनाई जा रही थीं, उनका

स्पष्ट उद्देश्य प्रजावाद की जड़ों को ही उखाड़ फेंकना था। १६०६ और १६१६ के विधानों ने मुसल्मानों को हिंदुओं से, और नरम विचारों के राजनीतिज्ञों को उग्र विचार वालों से, अलहदा करने की दिशा में बहुत सफलता प्राप्त की। १६२५ में बर्कनहेड ने लॉर्ड रीडिंग को स्वराज्य-पार्टी में फूट डलवाने के लिए प्रयत्न करने की सलाह दी, और १६२८ में इन्हीं सज्जन ने इन्हीं वायसराय को लिखा कि वह सायमन कमीशन के विरोध में जो शक्तियाँ एकत्रित हो गई थीं, उनमें मतभेद डालने की चेष्टा करें।[1] गोलमेज परिषदों का भी यही उद्देश्य था। "उसमे मुसल्मानों को हिंदुओ के खिलाफ, सिखों को मुसल्मानों के ख़िलाफ़, किसानों को जमींदारो के खिलाफ, और देशी नरेशोको अपनी प्रजा के ख़िलाफ— उभाड़ा गया था।"[2] मैक्डोनल्ड-निर्णय ने दलित जातियों को हिंदुओं के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश की। गाधी जी के उपवास और पूना पैक्ट के बन जाने से इसमें तो उन्हे पूरी सफलता नहीं मिली। परन्तु, अपनी एक-दूसरी चाल में वह सफल हो गए। वह मुस्लिम प्रातो को हिंदू प्रातों के ख़िलाफ खड़ा कर देने की योजना थी। पजाब और बगाल मे मुसल्मानों को विशेष अधिकार देकर उन्हें मुस्लिम बहुमत वाले प्रातों में परिणत कर दिया गया। सीमाप्रात में भी धारा-सभाओं की स्थापना करके मुस्लिम प्रातों में दो की वृद्धि की गई। अब मुस्लिम प्रातों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया जा सकता था। उधर, १६३५ की योजना ने देशी नरेशो को राष्ट्रीयता के विरुद्ध सगठित कर ही दिया था। कौंसिल ऑफ स्टेट में २६० में से १०४ और फैडरल एसेम्बली मे ३७५ में से १२५ सदस्य नियुक्त करने का अधिकार देशी राजाओं को दे दिया गया था। इन सदस्यों का सरकारी इशारे पर नाचना और प्रगति के रास्ते में एक बड़ी बाधा के रूप में खड़े होना एक निश्चिन्त बात थी।

यह है हमारी वैधानिक प्रगति का एक सक्षिप्त खाका, और उसकी विशेषताओं का एक सूक्ष्म विश्लेषण। अंग्रेज लेखक प्रायः इस बात का दावा करते हैं कि हमारे देश की वैधानिक प्रगति अंग्रेजी साम्राज्य के अन्य अगों, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि की तुलना में दुगुने वेग से हुई है। इस कथन में तात्त्विक दृष्टि से चाहे कितनी ही सचाई हो, इससे अधिक कठोर और ज्वलत सत्य यह है कि प्रजातन्त्र की दिशा में हमें ले जाने का दावा करने वाले इन 'सुधारों' की आड़ में लगातार हमारे देश में एक ऐसा वातावरण

१-के०वी० कृष्णा: The Problem of Minorities, पृ०सं० २०७-८

२-शार्दूलसिंह कवीशर: Non-Violent Non-co-operation, पृ० स० ३११।

खड़ा कर देने की घृणित चेष्टा चलती रही है जिसमे प्रजातन्त्र का विकास सर्वथा असम्भव हो जाय। मत देने का अधिकार पढ़े-लिखे लोगो मे से लगभग २५ फीसदी को मिल गया है, और प्रान्तीय शासन मे बहुत काफ़ी अधिकार मिल गए हैं। परन्तु प्रजातन्त्र की भावना को जो चीज़े दृढ बनाती हैं उनकी ओर बिल्कुल भी ध्यान नही दिया गया है। शिक्षा और समाज सुधार के क्षेत्र में विकास सर्वथा असंतोषजनक रहा है। हमारी सरकार ने शिक्षा में कभी दिलचस्पी नहीं ली, और समाज-सुधार उसके बाहर की बात रही है। पिछले १५० वर्ष के अग्रेजी शासन मे १० फ़ीसदी जनता भी शिक्षित नही बन पाई है। शिक्षा का कही अधिक प्रचार तो अग्रेजी शासन की स्थापना के पहले था। अग्रेजी शासन मे शिक्षा का विकास जिस गति से हुआ है उसे देखते हुए समस्त जनता के शिक्षित होने मे कम से कम ६-७ सौ वर्ष लगेगे। गति के इस धीमेपन से एक और भी खतरा है। राजनैतिक अधिकारो के साथ ही साथ यदि शिक्षा का प्रचार नहीं होता रहा तो स्वार्थी नेताओ के लिए अशिक्षित जनता की भावनाओ का उभाडना, और उसे स्वार्थ के लिए गलत दिशा मे प्रवृत्त कर देना बडा आसान हो जाता है। जैसा लेनर्ड ने लिखा है—"जनता द्वारा शासन" एक ऐसा आदर्श है जो हमे इस सिद्धान्त के परे ले जाता है कि अल्पसख्यक दलो की बात सुन ली जायगी और हर एक नागरिक को अपने विचारो को व्यक्त करने का अधिकार होगा। अधिकार, बिना उनका उपयोग करने की क्षमता के, अर्थहीन होते है।" यह क्षमता शिक्षा द्वारा ही आती है, परन्तु एक ऐसी शिक्षा के द्वारा जिसका जीवन से सीधा सम्बन्ध हो, और जो व्यक्ति मे समाज-सेवा की ऐसी आकाक्षा सुलगा दे कि वह उसे चैन से बैठने न दे। जबतक समाज मे विषमताए है, व्यक्ति के लिए सामूहिक रूप से सोचना दुःसाध्य ही रहेगा। एक विदेशी सरकार कभी समाज-सुधार के काम को अपने हाथ मे नहीं ले सकती। ऐसी दशा में यदि हमारी धारासभाए, जो अग्रेजी शासन के बोझ से दबी हुई हैं, अभी तक समाज-सुधार के क्षेत्र में कुछ नही कर सकी हैं तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? सच तो यह है—और यह एक कडवा और तीखा सत्य है—कि हमारे देश की सरकार प्रगतिशील शक्तियो की तुलना मे प्रतिक्रियावादी शक्तियो के सहारे पर अधिक निर्भर है। तभी तो वह कायम है।

हमारे देश में एक दल ऐसा है जो वस्तुस्थिति के इस विश्लेषण का आधार लेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि हमारे देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए उचित वातावरण नही है। वह यह मानने के लिए तैयार है कि इसका उत्तर-

दायित्व हमारी राष्ट्रीय मनोवृत्ति नहीं, विदेशी सरकार के अनवरत प्रयत्नों और अपरिवर्तनशील नीति पर है, पर वह यह भी मानता है कि कारण चाहे कुछ भी क्यो न रहे हों, वस्तुस्थिति आज ऐसी है कि हम प्रजातन्त्र शासन के योग्य अब रह नहीं गए हैं। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूँ—न मैं अपने देश मे पूर्ण प्रजातन्त्र शासन की सफलता के सम्बन्ध में अविश्वासी हूँ। मै यह जानता हूँ कि हमारे देश में एक ओर यह प्रयत्न चलता रहा है, और चलता जा रहा है, कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता होती है वह न बन सके, परन्तु, दूसरी ओर, पिछले डेढ सौ वर्षों में, धीमे, पर निश्चय के साथ, एक उत्फुल्ल, सप्राण, प्रगतिशील नागरिक-जीवन का विकास होरहा है, जो हमें पूर्ण प्रजातन्त्र के लिए तैयार कर रहा है। इन वर्षों में हमारे देश में अभूतपूर्व प्रतिभा वाले महान् व्यक्तियो के नेतृत्व मे सशक्त धार्मिक और सामाजिक और राजनैतिक आदोलन, ज्वार की फेनिल लहरों के समान, एक तूफानी वेग से आगे बढते रहे हैं—जिन्होंने एक ओर हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीनव मे साहस, कष्ट सहन और शुद्धता के अमर स्रोतों को जन्म दिया है, और दूसरी ओर उन प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर लगातार आक्रमण किया है जिनका आधार लेकर अंग्रेजी साम्राज्य का ऊपर से भव्य दीखने वाला, पर भीतर से खोखला, भवन खड़ा है।

राष्ट्रीयता हमारे आज के समस्त व्यापक जीवन का मूल-मन्त्र है, वह देश के सर्वांगीण जीवन, धर्म और कला, साहित्य और सस्कृति, को अपने गृद्ध जैसे सशक्त और व्यापक परवों के नीचे लिये है। धार्मिक प्रेरणा मे, इस राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार है। सामाजिक सुधार की विभिन्न प्रवृत्तिया उसके स्तम्भ है। ऐसी नींव और ऐसे स्तम्भों का आधार लेकर ही तो हमारी राष्ट्रीयता एक अपरिग्रही, सत्य और अहिंसात्मक राजनैतिक आदोलन में फलीभूत हो सकी है। गाधी, जो भारतीय राष्ट्रीयता के सबसे बड़े प्रतीक हैं, राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रानाडे और गोखले के व्यक्तित्वों का ही विकास हैं—जैसे एक ही आत्मा जन्म-जन्मातरो में विकास पाती चली जा रही हो—बोधिसत्त्वों की योनियो में होती हुई बुद्धत्व की पूर्णता तक। गाधी का हृदय समाज-सुधार की भावना से द्रवित है—हरिजनों की सेवा उन्हें प्रातीय मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से अधिक प्रिय है। उनके व्यक्तित्व की गहराई में हम और भी नीचे जाय तो उन्हें मूलतः एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में पायगे। गाधी, जिस राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं, वह आज हमारे जीवन के सभी अगों मे व्याप्त होगई है। कला और साहित्य मे हम उसी का स्पंदन पाते हैं। वह आज की भारतीय जनता को प्रेरित करने वाले विचारों में सब से प्रमुख है। वह भारतवर्ष के विभिन्न वर्गों और समुदायों में

समन्वय की भावना उत्पन्न कर सका है। राष्ट्रीयता की इस प्रबल विचार-धारा का ही यह फल है कि अली-बंधु वर्षों तक महात्मा गांधी के साथ काम करते रहे, और आज भी सीमा-प्रांत के गांधी, मौलाना आज़ाद और दूसरे नेता देश के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर हैं।

मैं यह जानता हूँ कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन निर्दोष नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि वह सदा ही समाज-सुधार की प्रवृत्ति के साथ अपने को संबद्ध नहीं रख सका है। कई बार उसने अपने को प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ का खिलौना बन जाने दिया है। प्रगतिशील शक्तियों को इससे हानि पहुँची है। मध्ययुग की प्रेरणाओं से भी वह सर्वथा मुक्त नहीं है। सांप्रदायिक दृष्टि-कोण भी कभी-कभी उसकी दृष्टि को धुंधला बना देता है, पर इन सब कमियों के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीयता आज के विश्व की एक स्वस्थ और सशक्त विचार-धाराओं में से एक है। उसकी यह शक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। देश के सभी वर्गों, हिंदू और मुसलमान, ग़रीब और अमीर, किसान और मजदूर, श्रमजीवी और पूंजीपति, का सहयोग उसे प्राप्त है, और इस सहयोग की व्यापकता और गहराई, और उस सहयोग के पीछे त्याग का भाव और कष्ट-सहन की क्षमता, दिन-प्रति-दिन बढ़ते जारहे हैं। साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन को मध्यकालीन प्रेरणाओं और सामाजिक विषमताओं से मुक्त कर देने का आंतरिक प्रयत्न भी अपने पूरे वेग पर है—हमारी राष्ट्रीयता दमन की लपटों में पड़कर कुन्दन की तरह निखरती रही है। ऐसी दशा में मैं निश्चय के साथ यह कह सकता हूँ कि अपनी सब कमियों के बावजूद भी, और उनसे अपना संघर्ष कायम रखते हुए आज भारतीय राष्ट्रीयता ने इतनी शक्ति और इतनी क्षमता अवश्य संग्रहीत करली है कि यदि देश के शासन का उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया जाय तो वह पूर्ण प्रजातन्त्र के सिद्धांतों पर सफलता पूर्वक उसका संचालन कर सकेगी।

———

: ६ :

भारतीय राजनीति के प्रमुख तत्व

पिछले कुछ वर्षों से विभिन्न राजनैतिक क्षेत्रों में यह विश्वास फैलता जा रहा था कि देश की राजनैतिक परिस्थितियो को देखते हुए प्रजातत्र शासन को ही हमारे राजनैतिक विकास का एकमात्र रास्ता मान लेना शायद ठीक न हो। हमारे वैधानिक विकास की निरर्थकता और वैधानिक प्रगति के साथ-साथ आपसी मतभेदों के लगातार बढते जाने से इस धारणा को अधिक बल मिल गया है। बहुत कम व्यक्ति उन विरोधी शक्तियो से, जो हमारे वैधानिक विकास के पीछे काम करती रही हैं, परिचित थे, और बहुत कम लोगो ने यह सोचा कि यदि हम किसी प्रकार के प्रजातन्त्र शासन की स्थापना अपने देश में नहीं करना चाहते, और यदि प्रजावाद हमारे लिए हितकर नहीं है, तो तानाशाही अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई शासन-तन्त्र हमारी विभिन्न राजनैतिक समस्याओं को किस प्रकार एक सफल समाधान की दिशा में ले जा सकेगा। इसी बीच, वर्त्तमान महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद से, और विशेषकर जब से हमारी राष्ट्रीयता की वास्तविक शक्ति का कुछ अन्दाजा हमारे साम्राज्यवादी शासक लगा सके, इंग्लैंड में एक सगठित आन्दोलन ही इस 'सिद्धान्त' को लेकर उठ खड़ा हुआ कि भारतवर्ष मे प्रजातन्त्र की स्थापना करना उसकी प्राचीन सस्कृति,वर्त्तमान राजनीति और समस्त राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विरुद्ध जाना है। इस सम्बन्ध में 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' के लेखकद्वय सर जॉर्ज शूस्टर व गाई विट, और 'भारतवर्ष की वैधानिक समस्या पर रिपोर्ट' के लेखक प्रो० सर रेजीनल्ड कूपलैंड का नाम सहज ही स्मरण हो आता है।

इस विचार-धारा को कूटनीति का जामा पहिनाने में हमारे भूतपूर्व भारत-मन्त्री मि० एमेरी ने तो कमाल ही हासिल कर लिया था। उन्होंने किस प्रकार उसे भारतवर्ष के वैधानिक विकास के मार्ग में एक स्थायी चट्टान के रूप में ला खड़ा किया, इसका कुछ अनुमान उनके असख्य भाषणों में से एक अवतरण से किया जा सकेगा। १६ नवम्बर १६४१ को मैंचेस्टर मे 'भारतीय वैधानिक समस्या' पर बोलते हुए मि० एमेरी ने कहा—"एक बात जो हम—और पहिले के अधिकाश भारतीय नेता भूल जाते हैं, वह यह है कि हमारे ढग का शासन-विधान एक ऐसे सयुक्त-समन्वित समाज में ही सफल हो सकता है जहा राज-

नैतिक दल निश्चित सार्वजनिक समस्याओं को लेकर अपने मतभेदों को व्यक्त करते हो, और उन्हें केन्द्र मान कर देश का व्यापक जन-समाज अपनी धारणाओ को बनाता और बदलता रहता हो, परन्तु जीवन के मूल-सिद्धांतो अथवा मूल-विश्वासो के संबध में कोई स्थायी वैषम्य न हो। दुर्भाग्यवश, ऐसी परिस्थितिया भारतवर्ष में, कम से कम आज के भारतवर्ष मे, मौजूद नही हैं।"[1] इन प्रमुख लेखकों और कूटनीतिज्ञो के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखक व अनुदार पत्रो के सम्वाददाता भी इसी आशय के विचारो का प्रचार करने मे लगे हैं, और क्योंकि बडी आकर्षक और वैज्ञानिक भाषा मे ये विचार पाठक के सामने आते हैं, इनका प्रभाव और भी भयकर रूप मे उसके मन पर पडता है।

प्रजातन्त्र शासन भारतवर्ष के लिए उपयुक्त नहीं है, इस विचार के फैलने में कुछ हमारी आंतरिक परिस्थिति, और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र, से सहायता मिली। पिछले कुछ वर्षों, और विशेष कर १९३७ के बाद से, हमारी सांप्रदायिक समस्या ने एक गम्भीर रूप ले लिया है। काग्रेस द्वारा पदग्रहण किए जाने के कुछ ही महीनो के बाद मि० जिन्ना ने, लीग के लखनऊ अधिवेशन मे इस बात की घोषणा की कि मुसल्मान काग्रेस से न तो ईमानदारी की आशा कर सकते थे और न भलमनसाहत की। मुस्लिम-लीग की शक्ति, और विरोध, लगातार बढते जा रहे थे। काग्रेस के शासन के पहिले ६ महीनो मे लीग की १७० नई शाखाएं खुल चुकी थी, जिनमे ९० सयुक्त प्रात मे व ४० पजाब मे थीं, और केवल सयुक्त-प्रांत में ही एक लाख से अधिक सदस्य बन चुके थे।[2] काग्रेस के पदत्याग करने पर लीग ने देश भर में एक 'मुक्ति दिवस' मनाने का आयोजन किया, और उसके कुछ ही महीने बाद उसने देश के बंटवारे की मांग सामने रखी। ऐसी परिस्थिति में उन लोगो के लिए जो हिंदू-मुस्लिम संबधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित न थे, यह धारणा बना लेना कि हमारे यहा प्रजातन्त्र के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है, सहज-स्वाभाविक था। उधर, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे भी प्रजातन्त्र के प्राचीर और दुर्ग एक-एक करके ढह रहे थे। दो महायुद्धो के बीच प्रजातन्त्र के जिस विरोध ने जर्मनी में एक सशक्त क्रियात्मक रूप ले लिया था, सितम्बर १९३९ मे उसका प्रताडन-चक्र अपने पूरे वेग मे चल पडा था। पोलैण्ड, नॉर्वे, डेनमार्क, बेल्जियम, हॉलैण्ड, योरुप के छोटे-छोटे देश जिन्होने प्रजातन्त्र की थाती को अपने प्राणों से सिमटा कर पोषित किया था, तानाशाही के थपेडों मे चकनाचूर होते जारहे थे। फ्रास का

१—एल० एस० एमेरी : India and Freedom, पृ० ४७।

२—प्रो० कूपलैंड : Indian Politics, 1936-42, पृ० १८२।

गौरवशाली साम्राज्य दो हफ्तों में धूल चाटने लगा था। इंग्लैण्ड पर विनाश के बादल मडरा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में प्रजातन्त्र में लोगों का विश्वास यदि डिग उठा था तो उसमे आश्चर्य ही क्या था ? महायुद्ध की प्राथमिक घटनाओं से प्रत्येक देश मे प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता मे जनता का जो विश्वास दृढतर होता जा रहा था, उसमे एक गहरी ठेस लगी। भारतीय परिस्थितियो का प्रभाव जैसे विदेशी चिन्तन की एक धारा-विशेष पर पड़ा वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भारतीय विचार-धाराओ पर पड़ना भी अनिवार्य था।

हमारे राजनैतिक दल : कांग्रेस

सबसे प्रमुख दलील जो प्रायः इस धारणा का समर्थन करने के लिए दी जाती है कि प्रजातन्त्र भारतवर्ष के लिए अनुपयुक्त है, वह यह है कि हमारे राजनैतिक दल अपने सगठन व आदर्शों मे पश्चिम के राजनैतिक दलो से बिल्कुल भिन्न है। इस सम्बध में सबसे बड़ी आलोचना जिस दल की की जाती है वह है हमारे देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था—काग्रेस। काग्रेस के सम्बंध में प्रायः यह कहा जाता है कि वह विभिन्न समूहों व समुदायों का सग्रह-मात्र है। उसके सामने कोई निश्चित आर्थिक अथवा राजनैतिक आदर्श नही हैं। 'भारतवर्ष और प्रजातत्र' के लेखक-द्वय शूस्टर और विट के शब्दों मे, उसमें "करोडपति और मजदूर, ज़मींदार और किसान, सत और ठग, शिक्षक और अशिक्षित, गवार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशारद, उदार विचारो वाले, क्रातिकारी, समाजवादी, सन्यासी, कट्टर मुसल्मान और रूढिवादी हिंदू" सभी शामिल हैं, और "अग्रेजी शासन के प्रति घृणा ही इन सब परस्पर-विरोधी तत्त्वों को एक दूसरे के साथ सयोजित किए हुए है।"[1]

इन लेखको के मतानुसार पार्लमेंटरी सस्थाओं में काग्रेस का विश्वास दिखावा-मात्र है। जब तक पार्लमेंटरी सस्थाओ में उसका बहुमत सुरक्षित है, तभी तक काग्रेस उनका समर्थन करेगी। यदि परिस्थितिया बदल गई तो वह उन्हें ठुकरा देगी। इसके समर्थन मे कहा जाता है कि अपने आतरिक मामलों में काग्रेस एक छोटे समूह के सपूर्ण नियत्रण में है, जो उस पर स्वेच्छाचारिता से शासन करता है। इस सबध में १६३६ की श्री० सुभाष बोस के चुनाव की घटना ही बार-बार दोहराई जाती है। यह भी काग्रेस की फासिस्ट मनोवृत्ति का ही परिचायक माना जाता है कि उसने अपने प्रातीय शासन के दिनो मे एक ओर तो देशी राज्यों में राजनैतिक असतोष को उकसाया, और दूसरी ओर मुस्लिम जनता से सीधा सपर्क स्थापित करके मुस्लिम लीग को खत्म करना चाहा। यह

१—शूस्टर और विट : India and Democracy, पृ० १६६

भी कहा जाता है कि पद-ग्रहण के दिनो मे काग्रेस-मन्त्रिमण्डल अपने क्षेत्र के डिक्टेटर के प्रति अधिक उत्तरदायी थे, प्रांतीय धारासभा के प्रति कम। इन लोगों ने तो यह कहने मे भी कसर नही रखी कि अपने शासन-काल मे कांग्रेस एक ऐसे षड्यन्त्र मे लगी हुई थी जिसका उद्देश्य राज्य को पार्टी के आधीन ले आना था। ये सब दलीलें कुछ इस ढंग से पेश की जाती हैं कि वे इस परिणाम पर जैसे अपने आप ही पहुच रही हो कि जब तक काग्रेस है हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र-शासन कभी सफल नहीं हो सकता।

कांग्रेस का विधान : एक दृष्टि में

सबसे पहिले कांग्रेस के विधान के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी है। काग्रेस के विधान का मूल-भूत सिद्धान्त 'प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीकरण' (Democratic Centralisation) कहा जा सकता है। स्थानीय सदस्य जिला-कमैटी का चुनाव करते है, जिला-कमैटिया प्रान्तीय काग्रेस-कमैटी के सदस्यों को चुनती हैं; प्रान्तीय काग्रेस-कमैटियां अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमैटी का निर्माण करती हैं। सभापति का चुनाव साधारण सदस्यो द्वारा होता है। प्रो० कूपलैण्ड ने कार्य-समिति की नियुक्ति के तरीके को काग्रेस की अ-प्रजातन्त्रीय प्रवृत्ति का एक उदाहरण बताया है १९३९ तक कार्य-समिति अखिल-भारतीय काग्रेस-कमैटी द्वारा चुनी जाती थी। तब से उसे नियुक्त करने का भार सभापति पर है। इस परिवर्त्तन को हम किसी प्रकार भी अ-प्रजातन्त्रीय नहीं कह सकते। प्रायः सभी प्रजातन्त्र-देशों मे मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति का अधिकार प्रधान को ही रहता है। अमरीका मे प्रेजीडेंट अपने सब मन्त्रियो को नियुक्त करता है। इग्लैंड में इस काम की जिम्मेदारी प्रधान-मन्त्री पर है। इस सम्बन्ध मे हमारे यहा कुछ स्वस्थ परम्पराएं (Conventions) भी बन गई हैं। कार्य-समिति मे देश के चुने हुए नेता रहते हैं, और साथ ही इस बात का ध्यान भी रखा जाता है कि सब प्रान्तो का समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

कांग्रेस और गांधीजी

एक दूसरा आक्षेप काग्रेस मे गांधीजी की अ-वैधानिक, अथवा विधान से ऊपर की, स्थिति के सम्बन्ध मे किया जाता है। जैसा कि सब जानते हैं, गांधीजी कांग्रेस के चार-आना सदस्य भी नहीं है, काग्रेस मे वर्षों से उन्होंने कोई पद-ग्रहण नही किया, पर काग्रेस शायद ही कभी उनके समर्थन के बिना किसी महत्त्व-पूर्ण निर्णय पर पहुची हो। क्या यह कांग्रेस की तानाशाही प्रवृत्ति का एक अच्छा उदाहरण नही है? यदि हम वस्तुस्थिति का विश्लेषण करें तो हम देख सकेंगे कि काग्रेस पर गांधीजी का प्रभाव किसी ऐसे शक्तिशाली दल के द्वारा नही

है जिसकी सृष्टि और जिसका सङ्गठन उन्होंने काग्रेस के भीतर ही भीतर कर लिया हो। काग्रेस पर उनके शासन का मुख्य कारण है भारतीय जनता के हृदयों पर उनका शासन—और यदि काग्रेस उनकी सलाह को मान्यता देती है तो इसलिए कि वह उसमें जनता की आकाक्षाओं की अभिव्यक्ति पाती है। गाधी ने काग्रेस को आरामतलब राजनीतिज्ञों की सभा से एक लड़ाकू सस्था के रूप में परिणत किया। गाधी ने हमारी प्रसुत जनता में राष्ट्रीयता की चेतना का प्रसार किया। गाधी ने ही हमे एक नई आशा और एक नया दृष्टिकोण दिया। काग्रेस यदि एक ऐसे व्यक्ति की सलाह के अनुसार काम करती है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये : वैसे तो ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जब काग्रेस ने गाधी जी के आदेश पर चलने में अपने को असमर्थ पाया।

साथ ही हमे यह भी न भूलना चाहिए कि काग्रेस पर गाधी जी का प्रभाव दो प्रकार का है। साधारणतः तो वह काग्रेस के कार्यों के सचालन से अपने को दूर ही रखते हैं। १९३४ में जब गाधी जी ने देखा कि उनका प्रभाव काग्रेस में अन्य विचार-धाराओं के विकास में बाधक है उन्होंने काग्रेस से इस्तीफा दे दिया। १९४४ में जेल से छूटने के बाद काग्रेस के कार्य-सचालन में वह उस समय तक मार्ग-निर्देश करते रहे जब तक कि राष्ट्रपति व कार्यसमिति के सदस्य जेल में थे। उनके बाहर आते ही गाधी जी ने राजनैतिक कार्यों से तटस्थता धारण करली। शिमला-कान्फ्रेंस में भी वह एक तटस्थ की हैसियत से ही मौजूद थे। पर, विशेष मौको पर, जब किसी राजनैतिक आन्दोलन का सचालन करना होता है, गाधी जी कांग्रेस की सपूर्ण-सत्ता अपने हाथ मे ले लेते हैं। युद्ध में स्वभावतः ही प्रजातन्त्र का रूप बदल जाता है। सिपाहियों को तो सेनानायक के इशारे पर ही चलना पड़ता है। उसका शब्द ही उनके लिए कानून है। इस कारण काग्रेस यदि आंदोलनो का सचालन गाधी जी के एकाकी नेतृत्व मे सौपकर अपने को उनके आदेशों के आधीन बना लेती है तो इसमे कोई ऐसी बात नही जो प्रजातन्त्र की भावना के विरुद्ध जाती हो।

शक्ति का केन्द्रीकरण

काग्रेस पर जो दो अन्य बड़े आक्षेप लगाए जाते हैं, वह है—शक्ति का केन्द्रीकरण और सर्वहर प्रवृत्ति (totalitarianism)। पहिले आक्षेप का मुख्य आधार काग्रेस के 'हाई कमाण्ड' द्वारा शासन के सब अधिकारो का अपने हाथ में केन्द्रित रखना है। काग्रेस के आलोचको को इस बात का दुःख है कि एक ऐसे समय जब कि सघ-शासन का प्रयोग इस देश में किया जारहा था, और प्रातों को पहिली बार स्वायत्त-शासन प्राप्त हुआ था, काग्रेस ने सब प्रातों

की शासन-सत्ता एक पार्लमेंटरी सब-कमेटी के हाथ में केन्द्रित करके उसके समुचित विकास मे बाधा डाली। इस सम्बन्ध में हम यह न भूलें कि पार्लमेण्टरी सब-कमेटी की नियुक्ति कुछ असाधारण परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए की गई थी। साधारणतः यह विश्वास किया जाता था—और अंग्रेजी शासन के पिछले इतिहास को देखते हुए यह विश्वास न किया जाता तो आश्चर्य होता—कि १६३५ की योजना का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की भावना को भङ्ग करना और प्रातीयता को प्रोत्साहन देना था। देश की आजादी के लिए सतत, प्रयत्नशील कांग्रेस जैसी संस्था के लिए इस प्रवृत्ति से सघर्ष करना जरूरी था। वह प्रातीयता के विषैले प्रभाव को अबाधगति से कैसे बढने दे सकती थी? साथ ही यह भय भी था कि प्रातीय मन्त्रि-मण्डलो को मुक्त, निर्बन्ध, रखा गया तो वे कहीं पार्लमेण्टरी शासन को गुत्थियो मे एक बड़े आदर्श को अपनी दृष्टि से ओझल न कर बैठे।

यह कहा जा सकता है कि इस केन्द्रीकरण के मुख्य कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो उसका प्रभाव यह पड़ा कि मन्त्रियो मे धारा-सभाओ के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का, जो प्रजातन्त्र-शासन का मुख्य आधार है, समुचित विकास नहीं हो सका। मन्त्रिमण्डल अपने आपको धारा-सभाओ व उनके चुनने वाले मत-दाताओ के प्रति उतना उत्तरदायी नही मानते थे जितना काग्रेस के 'हाई कमाण्ड' के प्रति। इससे प्रान्तीय शासन मे एक परोक्ष और अ-वैधानिक सत्ता का प्राधान्य होगया। पर, इस सम्बन्ध मे भी काग्रेस के आलोचक यह भूल जाते है कि प्रातीय व केन्द्रीय राजनीति पर इस प्रकार का 'राष्ट्रीय' नियन्त्रण प्रायः प्रत्येक देश में पाया जाता है। प्रातीय क्षेत्रो मे भी उम्मीदवार साधारणतः अखिल राष्ट्रीय राजनैतिक दलो द्वारा ही खडे किये जाते है, और जो लोग उनके पक्ष मे अपना मत देते हैं, वे प्रधानतः राजनैतिक दल को ही अपना मत देते है और केवल गौण-रूप से चुनाव मे खडे होने वाले व्यक्ति को। यह बात ससार के सभी प्रजातन्त्र-देशो में पाई जाती है। हमारे देश मे तो इस प्रवृत्ति के विकास के लिए और भी गुंजाइश थी। यहा प्रातों द्वारा शासन-अधिकार प्राप्त किये जाने से बहुत पहले ही अखिल-भारतीय राजनैतिक दल स्थापित होचुके थे। एक या दो शुद्ध प्रातीय राजनैतिक दलो को छोडकर हमारे सब राजनैतिक दलो का कार्यक्षेत्र देश-व्यापी है। काग्रेस के सम्बन्ध मे तो ससार के किसी भी राजनैतिक दल की तुलना मे यह बात और भी अधिक सच है कि जनता ने किसी व्यक्ति को नहीं, पर काग्रेस और उसके कार्यक्रम के लिए अपना मत दिया था। इस कारण कांग्रेस ही देश की समस्त प्रजा के प्रति जिम्मेदार थी। काग्रेसी मन्त्रिमण्डल सीधे मतदाताओं के प्रति जिम्मेदार नहीं थे।

सर्वहर प्रवृत्ति (Totalitarianism)

काग्रेस पर सर्वहर (totalitarianism) होने का जो आक्षेप लगाया जाता है, वह सचमुच बड़ा मनोरञ्जक है। इस सम्बन्ध में जो सबसे बडा प्रमाण दिया जाता है वह है काग्रेसी प्रातों और गैर-काग्रेसी प्रातों में मन्त्रि-मण्डलों के निर्माण की नीति का अन्तर। काग्रेस ने मिश्रित मन्त्रि-मण्डल बनाने से इन्कार कर दिया था, और क्योंकि काग्रेस के बहुमत खो देने की सम्भावना नहीं थी, उसके मन्त्रिमन्डल स्थायी थे। दूसरी ओर, पजाब को छोडकर, सभी गैर-काग्रेसी प्रांतों में मिश्रित मन्त्रिमण्डल थे, और सत्ता का आधार रोज-रोज बदलता रहता था। यह है काग्रेस के सर्वहर होने का एक बहुत बडा प्रमाण! कूपलैण्ड की राय में गैर-काग्रेसी प्रातो के शासन में (जहा मन्त्रिमण्डल प्रायः गवर्नर के हाथों में कठपुतली के समान नाचते थे) प्रजातन्त्र की भावना की अधिक रक्षा हो सकी। इस विचार के पीछे यह शरारत भरा सुझाव भी है कि काग्रेस ने अल्प-सख्यक दलो के प्रति उपेक्षा की भावना रखी, जबकि दूसरे मन्त्रिमण्डलो ने अल्प-सख्यक दलो को अपने साथ लेकर उनके प्रति अपनी शुभेच्छा का प्रदर्शन किया।

काग्रेस के सर्वहर होने के पक्ष में और भी बहुत से प्रमाण दिये जाते हैं। प्रो० कूपलैण्ड का कहना है कि सरकारी व म्युनिसिपल इमारतो पर राष्ट्रीय झडे लगाने में भी काग्रेस का उद्देश्य यही था कि वह दूसरी जातियो की भावना को ठेस पहुचाये। इसी प्रकार, कहा जाता है, काग्रेस ने राष्ट्रीय गीत के नाम पर एक ऐसे गीत को सरकारी प्रश्रय दिया जो सस्कृत शब्दों और हिन्दू धार्मिक भावनाओं से भरा हुआ था। सस्कृतमयी हिन्दी का प्रचार भी काग्रेस के सर्वहर होने का एक प्रमाण है। प्रो० कूपलैण्ड का विश्वास है कि काग्रेस ने विद्या-मन्दिर-योजना को अपना समर्थन देकर साम्प्रदायिकता की इस नीति को अपनी पराकाष्ठा तक पहुचा दिया। सच तो यह है कि काग्रेस के खिलाफ बुरे से बुरे इलजाम लगाने में प्रो० कूपलैण्ड तनिक भी नहीं झिझके हैं। उन्होंने तो यहा तक कहा है कि ग्राम-सुधार की योजना के पीछे भी काग्रेस का उद्देश्य यही था कि वह गावों में अपनी शक्ति की जडों को मजबूती से जमा ले। काग्रेस के प्रति प्रो० कूपलैण्ड का विद्वेष औचित्य और मनुष्यता की सभी सीमाओ को पार कर जाता है जब वह अपने अंग्रेज पाठकों के सामने बड़े निश्चय के साथ यह बात रखते हैं कि काग्रेस अपने शासन-काल मे चुपचाप अपनी एक अलहदा फौज खडी करने के काम मे लगी हुई थी, और इसके साथ ही साथ ऑक्स-फोर्ड के यह विद्वान प्रोफेसर अपने सहमे हुए पाठक-वर्ग के सामने जर्मनी और

इटली की उस भयंकर स्थिति का विषद चित्र भी खींच देते हैं, जो वहां पर इस प्रकार की अधकच्चरी सेनाओं के संगठित किये जाने से उपस्थित हो गई थी।

इनमे से बहुत से इलजाम ऐसे हैं जिनकी चर्चा करना भी समय नष्ट करना है। यहां कुछ थोडी-सी बातो को लिया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि काग्रेस विभिन्न जातियो की भावनाओं को कुचलने के स्थान पर उन्हें अधिक से अधिक सन्तुष्ट करने के प्रयत्न मे लगी रही। काग्रेस का झंडा कांग्रेस-द्वारा पद-ग्रहण करने के वर्षों पहले से—यह कहना चाहिए कि राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रियात्मकरूप लेने के समय से ही—मौजूद था। परन्तु जब काग्रेस ने देखा कि कुछ वर्गो की ओर से उसका विरोध किया जा रहा है तो उसने अन्य राजनैतिक दलो को भी काग्रेस के झडे के साथ अपना झडा लगाने की इजाजत दे दी, और उन दिनो कभी-कभी तो एक ही इमारत पर एक साथ चार या पाच झडे लहराते नजर आते थे। जर्मनी, इटली, या स्वय इंग्लैण्ड या अमरीका मे भी, क्या ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है? इसी प्रकार, जहा तक राष्ट्रीय-गीत का सम्बन्ध है, काग्रेस को आरम्भ मे तो ध्यान भी नही था कि 'वन्देमातरम्' का विरोध होगा। वर्षों से बडे से बडे मुसल्मान नेता उसके प्रति अपना आदर व्यक्त करते रहे थे। परन्तु जब काग्रेस ने देखा कि उसका विरोध किया जा रहा है तो उसने पहले तो यह निश्चय किया कि उसके केवल पहले दो पद—जिनमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना का स्पर्श भी नही था—गाये जायं और बाद मे उसे बिल्कुल ही बन्द कर दिया। इसी प्रकार जहां तक काग्रेस की भाषा-सम्बन्धी नीति का सम्बन्ध है, यह तो भारतीय राजनीति से जो व्यक्ति थोडा भी परिचित है वह जानता है कि काग्रेस ने कभी सस्कृत प्रधान भाषा के प्रचार का प्रयत्न नही किया। काग्रेस का उद्देश्य हिन्दुस्तानी अथवा एक ऐसी भाषा का प्रचार था जिसमे हिंदी और उर्दू के सरल और सर्वसाधारण मे बोले जाने वाले शब्दों का प्रयोग होता हो। यहा हमे यह भी भूल नही जाना चाहिए कि काग्रेस ने हिंदी या हिन्दुस्तानी के प्रचार की दिशा मे ठोस काम केवल मद्रास मे किया, जहां मुसल्मानों की सख्या बहुत कम है, और वहा पर भी हिंदी के प्रचार का विरोध मुसल्मानो की ओर से नहीं बल्कि अ-ब्राह्मण जस्टिस पार्टी की ओर से हुआ, और उस विरोध के कारण विशुद्ध राजनैतिक थे।

काग्रेस के विरुद्ध प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि उसने उन प्रातों में, जिनमे उसका बहुमत था, अपने मन्त्रिमण्डलो मे काग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था के सदस्यो को सम्मिलित नहीं किया। इस सम्बन्ध मे हमे कुछ बातें अपने ध्यान मे रखनी हैं। पहली बात तो यह है कि उन सब देशो मे, जहा

प्रजातन्त्र-शासन है, अधिकांश में वही राजनैतिक दल अपना मन्त्रिमण्डल बनाता है जिसका चुनाव में बहुमत रहा हो, और इस मन्त्रिमण्डल में उसी दल के प्रमुख व्यक्ति रहते हैं। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में यदि 'लेबर' पार्टी को बहुमत प्राप्त हो, या अमरीका में प्रेज़ीडेन्ट 'रिपब्लिकन' पार्टी में से चुना जाय, तो वे मन्त्रिमण्डल में केवल अपने ही दल के व्यक्तियों को स्थान देंगे, 'कन्जर्वेटिव' या 'डेमाक्रेटिक या किसी अन्य दल के व्यक्तियों को निमन्त्रित नहीं करेंगे। जेनिंग्स ने अपनी 'अंग्रेजी शासन-विधान' नाम की पुस्तक में इस पद्धति का समर्थन करते हुए लिखा है कि "इससे एक स्थायी सरकार का निर्माण होता है। सरकार 'हाउस ऑफ कामन्स' के बहुमत के प्रति उत्तरदायी होती है, और उसका नेतृत्व भी करती है। सरकार अपने प्रस्तावों के स्वीकृत किये जाने की आशा रखती है। .... वह अपने दल के बहुमत पर उस समय तक निर्भर रह सकती है, जब तक कि वह उसके सिद्धांतों के बिल्कुल ही खिलाफ कुछ न कर रही हो। (इसका परिणाम यह होता है कि) वह कम समय में और विश्वास के साथ काम कर सकती है, क्योंकि वह जानती है कि उसे आवश्यक समर्थन प्राप्त है। ये बहुत बड़े लाभ हैं. .. अल्प-संख्यक दलों की सरकार सदा कमज़ोर होती है, क्योंकि वह शासन कर ही नहीं सकती। मिश्रित सरकारें साधारणतः कमजोर होती हैं, क्योंकि उनमें आपसी मतभेद बहुत अधिक रहता है।"[1]

प्रजातन्त्र-देशों में मिश्रित मन्त्रिमण्डल किसी अभूतपूर्व परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए ही बनाये जाते हैं, और उस विशेष परिस्थिति का अन्त होने के साथ ही वह समाप्त कर दिये जाते हैं—इंग्लैण्ड में महायुद्ध को सफलता से चलाने की दृष्टि से एक सर्व दल सरकार का निर्माण हुआ था, पर जर्मनी के हथियार डालते ही दुबारा चुनाव हुए और एक दल की सरकार बन गई। १९३७ में हमारे देश के सामने कोई ऐसी असाधारण राजनैतिक परिस्थिति नहीं थी, जिसके कारण मिश्रित-मन्त्रिमण्डलों का निर्माण आवश्यक माना जाता। प्रत्युत, उस समय तो परिस्थितियों का तकाज़ा यही था कि एक दल वाले सशक्त मन्त्रिमण्डल बनाये जाय। कांग्रेस का ध्येय अंग्रेज गवर्नर और नौकरशाही के अनिच्छुक हाथों से सत्ता छीनना था। ऐसी स्थिति में संयुक्त मोर्चे की जरूरत थी, और वह मिश्रित मन्त्रिमण्डलों द्वारा संगठित नहीं किया जा सकता था। कांग्रेस द्वारा मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की नीति के विरोध का यही मुख्य कारण था। कांग्रेस के मन में अल्प-संख्यक वर्गों के प्रति उपेक्षा का भाव तनिक भी नहीं था। कांग्रेस का तो सभी वर्गों की प्रतिनिधि-संस्था होने का सदा

१—जेनिंग्स : The British Constitution, पृ० ६३।

से दाबा रहा है। कांग्रेस के शासन-काल मे प्रायः प्रत्येक प्रांत के मन्त्रिमण्डल में मुसल्मान लिये गए थे। उसकी पार्लमेंटरी कमेटी के सभापति व संयोजक मौ० आजाद थे। ऐसी स्थिति मे कांग्रेस ने यदि अपने मन्त्रिमण्डल बनाने मे अन्य पार्लमेण्टरी देशों की पद्धति को अपनाया, और अन्य दलो के प्रतिनिधियों को अपने मन्त्रिमण्डलो मे शामिल नहीं किया, तो इसमे अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति उपेक्षा की भावना ढूंढ निकालना बहुत ही हल्के ढंग का आक्षेप है।

आज तो मैं चारो ओर वैधानिक पण्डितों को यह कहते हुए सुनता हूं कि १६३७ मे कांग्रेस ने मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों को मन्त्रिमण्डलो में न लेकर एक बहुत बड़ी ग़लती की। मैं जानता हूं कि आज परिस्थिति बदल गई है। आज मुस्लिम-लीग इतनी शक्तिशाली बन गई है, और मुस्लिम हितो का इतना अधिक प्रतिनिधित्व उसमें आगया है, कि आज की परिस्थिति में कांग्रेस के लिए केन्द्रीय व प्रांतीय दोनो शासनो में मुस्लिम-लीग के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना वांछित हो सकता है, बशर्ते कि मुस्लिम'लीग इस सहयोग के लिए तैयार हो।[1] १६३७ में तो हमारे देश के राजनैतिक जीवन में मुस्लिम-लीग की कोई स्थिति थी ही नहीं। मुस्लिम-लीग द्वारा खड़े किये गए उम्मीदवारों में से जो सफल हुए उनकी संख्या प्रांतीय धारा-सभाओं के कुल सदस्यो की केवल ४॥ फीसदी और मुसल्मान सदस्यों की ११ फीसदी थी। किसी भी प्रांत मे मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों का काम-चलाऊ बहुमत भी नहीं था। यदि पंजाब और बंगाल मे मुसल्मान मन्त्रिमण्डल बनाये जा सके तो इसका कारण यूनियनिस्ट और कृषक-प्रजा-पार्टी का बहुमत था। सर सिकन्दर हयात खां और फजलुल-हक दोनों लीग के उम्मीदवारों के खिलाफ खड़े हुए थे, और उनके विरोध में ही जीते। सिंध मे मिश्रित-मण्डल बना। उत्तर-पश्चिमी-सीमा-प्रांत मे, जहां की प्रायः सारी आबादी मुसल्मान है, शुद्ध कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना। १६३७ में कांग्रेस मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी या उसे ऐसा करना चाहिए था, यह कहना उस समय की राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में अपना अज्ञान प्रगट करना है।

देशी-राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति

कांग्रेस के विरुद्ध, उस समय की नीति के सम्बंध में ही जो उसने पद-ग्रहण के दिनों में बरती, दो और बड़े इल्जाम लगाये जाते हैं। उनमे से एक यह है कि कांग्रेस ने अपने दल की शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से देशी राज्यों की प्रजा को

१–मुस्लिम-लीग के शिमला-कान्फ्रेंस के रवैये से यह स्पष्ट हो गया है कि वह कांग्रेस के साथ किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं है।

उकसाया। देशी राज्यों के प्रति काग्रेस द्वारा बरती जाने वाली नीति को देखते हुए इस दोषारोपण में अतिशयोक्ति दिखाई देती है। काग्रेस तो देशी राज्यों के आतरिक प्रश्नो में हस्तक्षेप करने से सदा बचती रही है। १९३४ में जब काग्रेस के एक पक्ष ने देशी राज्यों की राजनीति में काग्रेस द्वारा अधिक हस्तक्षेप करने का प्रश्न उठाया था तो उस समय के सभापति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस्तीफे की धमकी दी थी। १९३७ तक काग्रेस तटस्थता की अपनी इसी नीति पर जमी रही। परन्तु ब्रिटिश भारत में प्रातीय स्वायत्त-शासन की स्थापना का प्रभाव देशी राज्यों पर पड़ना स्वाभाविक था। देशी राज्य और ब्रिटिश भारत भौगोलिक, सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टियों से इतने सबद्ध हैं कि उन्हें एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त रखा ही नहीं जा सकता। ब्रिटिश-भारत मे प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना के साथ-साथ देशी राज्यो में भी राजनैतिक स्वत्वों की माग का प्रभावशाली बन जाना अनिवार्य था। इसी कारण १९३७ के बाद से ही हम देशी राज्यो मे एक नवीन चेतना के चिह्न पाते है। कुछ मे तो राजनैतिक अधिकारो के लिए छोटे-मोटे सत्याग्रह आदोलन भी उठ खड़े हुए थे। काग्रेस ने इन राजनैतिक आदोलनो मे कभी कोई सीधा भाग नहीं लिया। वास्तविक कार्य इन्ही राज्यों के प्रजा-मण्डल आदि अपनी स्थानीय सस्थाओं द्वारा हुआ।

यदि ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञो ने देशी राज्यों की समस्याओ मे कभी हस्तक्षेप किया भी तो उन्हीं देशी राज्योंके अधिकारियों के निमत्रण पर। राजकोट का ही उदाहरण लें। राजकोट के मामले में गाधी जी, अथवा वल्लभ भाई पटेल, स्वयं नहीं पड़े, परन्तु राज्य के अधिकारियों, स्वय राजकोट के दीवान द्वारा, वल्लभ भाई पटेल से यह प्रार्थना की गई थी कि वह उनके आतरिक मामलों के सुलझाने में सहायता दे। इसी प्रकार लिम्बड़ी-राज्य में भी राज्य के अधिकारियो ने श्री मुन्शी को निमन्त्रित किया था। दोनो स्थानों पर समझौता न हो सकने का कारण यह था कि भारत-सरकार का राजनैतिक-विभाग यह नहीं चाहता था कि ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञ देशी राज्यों के मामलो मे दखल दें। लार्ड लिनलिथगो ने भी जब गाधीजी के उपवास के अवसर पर हस्तक्षेप किया तो अपने राजनैतिक विभाग की सलाह के खिलाफ। दूसरी बात जो हमें ध्यान में रखना है वह यह है कि इन दिनों स्वय भारत-सरकार भी इस बात के लिए उत्सुक थी कि किसी प्रकार देशी राज्य अपनी मध्य-कालीन तानाशाही से बाहर निकल सकें, और अपने यहा कुछ वैधानिक सुधारों का प्रारम्भ करें। जहा तक इस नीति का सम्बध था, काग्रेस व भारत सरकार दोनों का ध्येय एक ही था। काग्रेस ने देशी नरेशों के सार्वभौम अधिकारों का अतिक्रमण करने की कभी चेष्टा नहीं की।

मुस्लिम-लीग पर प्रहार

दूसरा बड़ा गम्भीर इल्जाम जो काग्रेस के इन दिनो के रवैये के बारे मे लगाया जाता है, वह यह है कि काग्रेस मुस्लिम-जनसाधारण से सीधा संपर्क स्थापित करके मुस्लिम-लीग की जड़ों को ही उखाड़ फेंकना चाहती थी। यह सच है कि काग्रेस ने पद-ग्रहण करने के बाद ही मुस्लिम-जन-संपर्क आदोलन का आरम्भ कर दिया, परन्तु इसमे काग्रेस कोई नई बात नही करने जा रही थी। काग्रेस तो पिछले पचास वर्षों से सपूर्ण भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व पा लेने के प्रयत्न मे लगी हुई थी और मुस्लिम-जनता का अधिक से-अधिक सहयोग पा लेना उसी प्रयत्न का एक भाग था। हमे यह बात स्पष्ट रूप के समझ लेनी चाहिए कि काग्रेस अपने जीवन-काल के आरम्भ से ही एक दोहरे कार्यक्रम मे लगी हुई है। एक ओर तो वह अग्रेजी साम्राज्यवाद को खत्म कर देने के प्रयत्न मे जी-जान से जुटी है, और दूसरी ओर वह राष्ट्रीय आदोलन को अधिक से अधिक व्यापक बना देना चाहती है। अग्रेजी साम्राज्यवाद से प्रायः प्रत्येक बड़ी टक्कर के बाद उसने अपने आतरिक सङ्गठन को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया है। मुस्लिम-जन-सपर्क आंदोलन के वास्तविक उद्देश्यो को जानने के लिए हमे काग्रेस-कार्यक्रम के इस पक्ष को भी ध्यान मे रखना है।

लीग की शक्ति के तेज़ी से बढ़ने से काग्रेस अपने मुस्लिम-जन-सपर्क आदोलन की सफलता के सम्बन्ध मे तो निराश होगई, पर इसका यह अर्थ नही है कि वह अपने कर्त्तव्य के सीधे मार्ग से हट गई। अक्टूबर १९३७ मे काग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने अपने कलकत्ता-अधिवेशन में यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि वह अल्पसख्यक वर्गों के स्वत्त्वो की रक्षा करना व उन्हें विकास के अधिक से अधिक अवसर, व सास्कृतिक जीवन मे अधिक से अधिक भाग ले सकने की सुविधाये, देना अपना प्रमुख कर्तव्य मानेगी। फ़र्वरी १९३८ मे, हरिपुरा मे काग्रेस ने अल्प-सख्यक स्वत्वो के सम्बध मे वर्किङ्ग-कमेटी के कलकत्ते के प्रस्ताव को स्वीकार किया, और साथ ही यह घोषणा भी की कि वह अल्प-संख्यक जातियो के धार्मिक, भाषा-सबंधी, सास्कृतिक और अन्य स्वत्त्वो की सुरक्षा को अपना प्रधान कर्त्तव्य और प्रमुख नीति मानती है, और किसी भी ऐसी भावी शासन-योजना मे, जिसके निर्माण मे उसका हाथ होगा, उनके विकास,और देश के राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक जीवन में उनके पूर्ण सहयोग, के लिए अधिक से अधिक सुविधाये होगी। काग्रेस ने लीग के साथ समझौते की बात-चीत भी की। प० जवाहरलाल नेहरू ने लीग के कायदे-आजम को कई पत्र लिखे। गाधी जी ने कई दिन तक घण्टो उनसे बातचीत की। सुभाषचन्द्र

बोस नें भी उन्हें अपनी श्रद्धांजलि चढाई। परन्तु बातचीत इस कारण सफल न हो सकी कि लीग के नेता ने यह आश्वासन चाहा कि काग्रेस लीग को भारतीय मुसल्मानो की एकमात्र प्रतिनिधि-सस्था मानले। इन सब बातो से यह तो स्पष्ट होजाता है कि काग्रेस लीग को खत्म कर देने के प्रयत्नों मे लगी रहने के स्थान पर उससे समझौता करने की लगातार कोशिश करती रही—बल्कि साप्रदायिक मनोवृत्ति वाले हिंदुओं का सहयोग उससे दिन-ब-दिन इस कारण खिचता गया कि उनका विश्वास था कि वह लीग से समझौता करने की कोशिश में हिंदुओं के स्वत्वों व अधिकारों की हत्या कर रही है। काग्रेस निःसन्देह मुसल्मानो को एक बड़ी सख्या में राष्ट्रीय विचार-धारा में ले आने के लिए व्यग्र थी, पर इसमें उसका उद्देश्य यही था कि वह जनता तक स्वतन्त्रता का सन्देश पहुँचा दे, और इस प्रयत्न के पीछे उसका यह विश्वास था कि वह हिंदू और मुसल्मान के भेद-भाव से ऊपर उठकर जनता के लिए ही सब कुछ कर रही है। काग्रेस का दृष्टिकोण शुद्ध राजनैतिक था। साप्रदायिकता उसमें लेश-मात्र भी नहीं थी।

कांग्रेस के उद्देश्य व आदर्श

सच तो यह है कि काग्रेस के प्रति इस प्रकार के गलत प्रचार की थोड़ी सी भी सफलता का मुख्य कारण यह है कि जन-साधारण में काग्रेस के उद्देश्यो के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं है, और काग्रेस के विरोधियों ने जान-बूझ कर उसके आदर्शों को तोड़ा-मरोड़ा है। हम यह बात भूल नहीं सकते कि काग्रेस देश में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओ की स्थापना के बहुत पहले से मौजूद थी, और यदि उसने धारा-सभाओं में एक राजनैतिक दल की हैसियत से प्रवेश करने का निश्चय किया तो केवल इसलिए कि वह अपने उस आदर्श की ओर एक कदम और बढा सके, जिसकी प्राप्ति के लिए उसकी स्थापना हुई थी। दूसरे शब्दों मे, काग्रेस पहले हिंदुस्तान की आजादी के लिए लड़ने वाली सस्था है, और धारा-सभाओं में एक राजनैतिक दल की हैसियत से किया हुआ उसका कार्य उसकी स्थिति का केवल एक गौण पक्ष है। इस कारण पश्चिम के राजनैतिक दलों से हम उसकी सर्वथा तुलना नहीं कर सकते। पश्चिम के राजनैतिक दल का उद्देश्य रहता है, बहुमत द्वारा राजतन्त्र को अपने अधिकार मे लेना और अपने सिद्धातो व आदर्शों के अनुसार उसका सञ्चालन करना। काग्रेस का देश के वर्तमान राज-तन्त्र की उपयुक्तता में तनिक भी विश्वास नही है। वह तो उसे उखाड़ फेंकना चाहती है—इस अर्थ में वह एक क्रातिकारी सस्था है—और देश में प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना करना चाहती है। कांग्रेस प्रजातन्त्र

के अन्तर्गत सङ्गठित किया गया एक दल नही है। वह तो प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए प्रतिज्ञाबद्ध, कटिबद्ध और जीवनोत्सर्ग के लिए सतत् तत्पर, एक जीवित संस्था है। उसके अन्तर्गत कई राजनैतिक विचार-धारायें हैं, सोशलिस्ट-पार्टी है, फार्वर्ड ब्लाक है, कम्यूनिस्ट हैं, जो देश मे प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाने पर विभिन्न राजनैतिक दलो का रूप ले लेंगी। फिर भी राजनैतिक दल की हैसियत से काग्रेस जब कभी धारा-सभाओ मे काम करती है, वह प्रजातन्त्र-शासन के सिद्धातों का सदा ही अक्षरशः पालन करती है। काग्रेस के पद-ग्रहण करने का अर्थ यह कभी नही होता कि वह सत्ता को हड़पना या अल्प-सख्यक वर्गों को कुचलना चाहती है। वह यदि शक्ति प्राप्त करना चाहती है तो भारतीय जनता के लिए—और अल्पसख्यक वर्गों के स्वत्वो की रक्षाके लिए वह उतनी ही प्रयत्न-शील है जितनी बहुसख्यक वर्गों के। देश से एक विदेशी शासन को हटाकर प्रजातन्त्र की स्थापना करना ही जिस सस्था का धर्म हो वह अपनी कार्य-प्रणाली मे किसी अन्य मार्ग का अवलबन कर ही कैसे सकती है?

राजनैतिक दल : आन्तरिक प्रवृत्तियां

हमारे देश मे प्रजातन्त्र की स्थापना के मार्ग मे जो सब से बड़ी बाधा मानी जाती है वह यह है कि हमारे राजनैतिक दलो के सगठन का आधार धर्म मे है। काग्रेस के सम्बन्ध मे तो यह बात नही कही जा सकती। वह एक शुद्ध राजनैतिक सस्था है। परन्तु काग्रेस के अलावा जो अन्य राजनैतिक दल हैं—जैसे लिबरल फेडरेशन, इण्डियन बोल्शेविक पार्टी, आदि—उनका जनता पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं है। काग्रेस के बाहर केवल एक राजनैतिक दल ऐसा है जिसका संगठन और प्रचार बडी तत्परता के साथ किया जा रहा है। वह है कम्यूनिस्ट पार्टी। परन्तु, १६४२ के आन्दोलन मे कम्यूनिस्ट पार्टी का जो रवैया रहा उस से वह बहुत बदनाम हो गई है, और उसकी प्रतिष्ठा को बडी ठेस पहुची है। व्यापकता, शक्ति व सगठन की दृष्टि से देखा जाय तो काग्रेस के बाद जिस सस्था का नाम लिया जा सकता है, वह है मुस्लिम लीग। और उसके बाद यदि कोई राजनैतिक दल ऐसा है जिसका सगठन और प्रचार देश-व्यापी है तो वह हिन्दू महासभा है। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा दोनो कट्टर साम्प्रदायिक सस्थाए है, और दोनो का आधार धर्म मे है। मुस्लिम लीग मुसल्मानो तक ही सीमित है, और हिन्दू-महासभा का प्रधान उद्देश्य हिन्दू-हितो और स्वार्थों की रक्षा करना है।

यह सच है कि मुस्लिम-लीग का कार्य-क्षेत्र मुसल्मानों तक ही सीमित है

और हिन्दू-महासभा हमारी राजनैतिक समस्याओं को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखना और समझना चाहती है। परन्तु हमें यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि उनके संगठन का आधार चाहे कुछ हो उनका कार्य शुद्ध राजनैतिक है, धार्मिक नहीं। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा दोनों का संगठन राजनैतिक उद्देश्यों को लेकर किया गया है, और समय-समय पर उन्होंने राजनैतिक आदर्शों पर ही जोर दिया है।

मुस्लिम-लीग की स्थापना के प्रमुख उद्देश्यों में जहा मुसल्मानों में राजभक्ति की भावना को विकसित करना व उनके और सरकार के बीच सद्भावना को स्थापित करना था, वहा भारतीय मुसल्मानो के राजनैतिक व अन्य अधिकारों की रक्षा करना व उनकी आवश्यकताओं और आकाक्षाओं को सरकार के सामने रखना भी था। मुस्लिम-लीग ने सदा ही मुसल्मानों के राजनैतिक अधिकारो पर ही विशेष जोर दिया है। १९१३ में मुस्लिम-लीग के उद्देश्यो मे भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना को शामिल किया गया। उसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान पर होते रहे। १९२०-२१ के असहयोग के आन्दोलन को लीग का समर्थन प्राप्त था। १९२७ में, मि० जिन्ना के नेतृत्व में, लीग का बहुमत साइमन कमीशन के बहिष्कार में राष्ट्रीय तत्त्वों के साथ था। १९३६ में चुनाव के अवसर पर लीग ने जिस नीति की घोषणा की वह प्रगतिशीलता की द्योतक थी। अक्टूबर १९३७ में मुस्लिम-लीग ने अपने को आजादी के पक्ष में घोषित किया, संघ शासन की भर्त्सना की, और आर्थिक कार्य-क्रम की रूप-रेखा बनाई। १९४० के मुस्लिम लीग के पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव के पीछे भी राजनैतिक उद्देश्य ही प्रधान रहे हैं। इसी प्रकार हिन्दू-महासभा भी हिन्दुओं के राजनैतिक स्वत्त्वो की रक्षा के लिए सामने आई और ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का यह भय बढता गया कि कांग्रेस कहीं मुसल्मानों को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में हिन्दू-हितों की बलि न दे डाले, उसका बल बढता गया है। पाकिस्तान की मांग के साथ अखण्ड-हिंदुस्तान का आन्दोलन भी अधिक प्रबल हो गया है।

हमारे इन साम्प्रदायिक दिखाई देने वाले दलों के पीछे राजनैतिक विचार-धाराओं का आंतरिक संघर्ष भी तीव्र होता जा रहा है। सबसे पहले मुस्लिम-लीग को ही लें, जो हमारे देश की सबसे कट्टर साम्प्रदायिक संस्था मानी जाती है। १९३७ के बाद से, जब से मुस्लिम लीग की शक्ति का बढना आरम्भ हुआ, उसमें एक ओर तो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का समावेश हुआ, और दूसरी ओर प्रगतिशीलता की धाराए सशक्त हो चलीं। १९३६ के चुनाव के घोषणा-पत्र

मे प्रगतिशीलता की प्रधानता स्पष्ट है। १६३७ में मि० जिन्ना ने लखनऊ मे कहा—"आप लोगों का प्रधान कर्त्तव्य जनता के लाभ के लिए एक रचनात्मक और सुधारवादी कार्यक्रम की योजना करना है।" काग्रेस के विरोध मे लीग का प्रतिक्रियावादी पक्ष सामने आया, परन्तु आंतरिक सघर्ष बराबर चल रहा था। मई १६३८ की कानपुर की हड़ताल में इस संघर्ष की अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। लीग क प्रतिक्रिया वादी पक्ष ने पहले तो हड़ताल बन्द करने की चेष्टा की पर जब उसे सफलता नहीं मिली तो लीग का प्रगतिशील वर्ग सामने आया और उसने हड़तालियो का साथ दिया—उनकी सफलता पर बधाई दी और साथ ही एक बड़े बहुमत से यह प्रस्ताव भी पास किया कि लीग का कोई पदाधिकारी ज़मींदारो की किसी संस्था का सदस्य न बने। यों तो मई १६४३ मे दिल्ली अधिवेशन में ही लीग के सामने यह प्रस्ताव लाया गया था कि पाकिस्तान का शासन-विधान प्रजातन्त्र और साम्यवाद के इस्लामी सिद्धान्तों पर स्थापित होना चाहिए, परन्तु दिसम्बर १६४३ के करांची अधिवेशन मे इस आन्दोलन ने एक स्पष्ट रूप ले लिया। जिन्ना साहब को लीग के जन-सम्पर्क के सम्बन्ध में अधिक जोर देना पड़ा। सिन्ध प्रांतीय लीग के अध्यक्ष जी०एम० सैयद ने कहा कि लीग को जनता के स्वार्थों को ध्यान मे रखना चाहिए, और ऐसे प्रस्ताव पास किये गए जिनमें जनता की आर्थिक समस्याओ को सुलझाने व लीग के मन्त्रिमण्डलो द्वारा एक निश्चित सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक कार्यक्रम को अमल मे लाने पर, जोर दिया गया था।

प्रायः सभी प्रान्तो में राजनैतिक विचारधाराओ को लेकर इस प्रकार का आन्तरिक संघर्ष जारी है। सिन्ध, आसाम और सीमाप्रान्त में तो वहा की अनुदार सरकारों को लीग की सभाओ पर भी प्रतिबन्ध लगाना पड़ा, पर जनता के आन्दोलन के सामने उन्हें झुकना पड़ा। पंजाब मे लीग ने इस बात की मांग की कि या तो काग्रेस के कैदियो को छोड़ दिया जाय या उन पर खुली अदालत मे मुकदमा चलाया जाय। पजाब मे लीग का नेतृत्व मुमताज दौलताना और उनके प्रगतिशील साथियों के हाथ मे आ गया है। संयुक्तप्रात में लीग के नेता नवाब इस्माईल खॉ व चौधरी खलीकुज्जमा स्वयं प्रगतिशील हैं, पर रिज़वानुल्ला दल के नेतृत्व में और भी प्रगतिशील तत्त्व आगे आ रहे हैं। बंगाल मे लीग के प्रगतिशील मन्त्री अब्दुल हाशिम ने लीग को एक क्रियाशील संस्था में परिणत कर दिया है। सिन्ध में एक प्रगतिशील नेता, जी० एम० सैयद, लीग के अध्यक्ष हैं। बम्बई में डा० अब्दुल हमीद काजी के नेतृत्व मे प्रगतिशील दल ने अपने को खूब संगठित कर लिया है। इन प्रगति-

शील तत्त्वों को प्रधानता मिलने के साथ ही दूसरे राजनैतिक दलों से सहयोग की माग भी बढती जा रही है। सितम्बर १६४४ के गाधी जिन्ना वार्तालाप के पीछे इस माग का बल था—यद्यपि कुछ ऐतिहासिक कारणों से यह बातचीत सफल न हो सकी। केन्द्रीय धारा सभा मे काग्रेस और लीग ने भूलाभाई देसाई और नवाबजादा लियाकत अली खॉ के नेतृत्व में एक संयुक्त मोर्चा बना लिया था। आसाम और पजाब की धारा सभाओं में भी काग्रेस और लीग ने मिल-जुल कर काम किया। लीग के नेता इस समय एक विषम परिस्थिति में हैं। उन्हें एक ओर तो लीग की प्रगतिशील विचार-धारा का समर्थन करना पड़ रहा है, परन्तु दूसरी ओर वह रूढिवादी तत्त्वों को छोड़ना भी नहीं चाहते, अन्यथा लीग में फूट पड जाने का भय है, परन्तु ज्यों-ज्यों यह सघर्ष बढ़ता जायगा उन्हें एक स्पष्ट निर्णय कर लेने पर विवश हो जाना पड़ेगा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि, मुस्लिम-लीग, हिंदू महासभा और दूसरे साप्रदायिक दलो के अन्तर्गत विभिन्न राजनैतिक विचार-धाराओ का विकास हो रहा है। हमारे राजनैतिक दलों की स्थापना का उद्देश्य प्रातीय अथवा केन्द्रीय शासन में कुछ राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर लेने तक ही सीमित नहीं रहा। काग्रेस का मुख्य उद्देश्य स्वाधीनताके युद्ध को जारी रखना है। मुस्लिम-लीग की स्थापना इस उद्देश्य से हुई कि भारतीय प्रजातन्त्र में मुसल्मानों के अधिकार सुरक्षित रह सकें, और वह अपने इस काम मे जुटी हुई है। हिंदू महासभा मुसल्मानों के अतिक्रमण से हिंदू स्वार्थों की रक्षा करना चाहती है, क्योंकि उसे डर है कि राष्ट्रीय आदोलन के साथ मुसल्मानों का यह अतिक्रमण बढता जाएगा। इन सब राजनैतिक दलो की रूप-रेखा में बडी तेजी के साथ परिवर्त्तन होता जा रहा है। विभाजन की सामाजिक और आर्थिक रेखाएँ अधिक स्पष्ट होती जा रही हैं। सच तो यह है कि हमारे इन राजनैतिक दलों में कोई दल ऐसा नही है जो शुद्ध साप्रदायिक कहा जा सके। वास्तव में ये सब राजनैतिक दल ही हैं। और यदि देश मे एक सच्चा प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित किया जा सके तो मुझे पूरा विश्वास है कि ये राजनैतिक दल, नई परिस्थितियो को दृष्टिकोण मे रखते हुए, अपने आपको परिवर्त्तित कर सकेंगे, और, पलक मारते, पश्चिम के राजनैतिक दलो का रूप ले लेंगे। काग्रेस तो बार-बार इस बात की घोषणा करती रही है कि वह शक्ति अपने लिए नहीं परन्तु भारतीय जनता के लिए प्राप्त करना चाहती है। इस कारण यह सोचना कि देश में स्वराज्य की स्थापना हो जाने के बाद काग्रेस तानाशाही के रूप में उस पर शासन करेगी, एक व्यर्थ की कल्पना को प्रश्रय देना है। इसी प्रकार एक स्थायी शासन विधान में एक उचित सम-

भौते के आधार पर भारतीय मुसलमानो को न्याय सगत अधिकार और संरक्षण मिल जाने के बाद मुस्लिम-लीग भी अपने वर्त्तमान रूप को कायम नही रख सकेगी—सभव है उसकी विभिन्न विचार-धाराए कांग्रेस के अन्तर्गत जो विचार-धाराए स्पष्ट होती जारही हैं उनसे एक रूप हो सके। हिंदू महासभा की स्थिति तो और भी नाजुक है—देश मे एक स्वतन्त्र शासन की स्थापना हो जाने के बाद उसका कोई स्थान ही नही रह जाता। इस प्रकार यह कहना कि हमारे राजनैतिक दल प्रजातन्त्र के विकास में बाधक हैं, वस्तुस्थिति को एक गलत दृष्टिकोण से देखना है। सच तो यह है कि हमारे राजनैतिक दलो मे जो कमिया हैं उसका मुख्य कारण देश मे प्रजातन्त्र का अभाव है। प्रजातत्र की किरणो के फूट निकलते ही हमारे राजनैतिक दल अपने उचित, वांछित और अभीप्सित मार्ग पर चल पडेंगे, और उनके आधार पर एक प्रबल प्रजातत्र का सङ्गठन हो सकेगा।

: ७ :

वर्त्तमान स्थिति : राजनैतिक गत्यावरोध

भारतीय इतिहास मे बहुत कम अवसर ऐसे आए हैं जब भारतवर्ष और अंग्रेजों के सम्बन्ध इतने अच्छे रहे हों जितने १९३४ से १९३९ तक। १९३४ तक दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन छिन्न-भिन्न हो चुका था। १८ अक्टूबर १९३४ को कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा का परित्याग करके पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया। उसके बाद से कांग्रेस के प्रमुख नेता, भूलाभाई देसाई, सत्यमूर्त्ति, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि केन्द्रीय धारा-सभा में धारासभा के अंग्रेज सदस्यों व सरकारी अफसरो के साथ दिखाई देने लगे। १९३७ में कांग्रेस ने प्रांतीय चुनाव लड़ने का निश्चय किया, और चुनाव में अधिकांश प्रांतों मे उसे एक अभूतपूर्व बहुमत भी प्राप्त हुआ। कांग्रेस की इस विजय से इङ्गलैण्ड का अनुदार दल चाहे विक्षुब्ध हुआ हो, पर जन-साधारण पर अच्छा असर पड़ा। चुनाव जीतकर भी जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, तब इङ्गलैण्ड मे निराशा की एक लहर दौड़ गई। लेकिन प्रांतो में अस्थायी मन्त्रि-मण्डल बना देने के बाद भी सरकार कांग्रेस को मना लेने के प्रयत्न मे ईमान्दारी से लगी हुई थी। कांग्रेस भी सहयोग के लिए उत्सुक थी। जब कांग्रेस ने आश्वासन चाहा कि गवर्नर साधारणतः अपने विशेष अधिकारो का उपयोग नहीं करेंगे, यद्यपि उतने स्पष्ट शब्दों मे वह आश्वासन नहीं दिया गया, पर वायसराय व भारत-मन्त्री दोनों ने कांग्रेस की शङ्काओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि अस्थायी मन्त्रिमण्डल तोड दिए गए, और कांग्रेस के 'गद्दार' नेताओं ने अधिकांश प्रांतो में शासन के सूत्र अपने हाथों में लिए।

कांग्रेस और सरकार के बीच सहयोग की यह भावना उसके शासन-काल के २७ महीनों में दृढ से दृढतर होती चली। गवर्नरों ने अपने आश्वासन पर अमल किया। मन्त्रिमण्डलों के निर्माण मे उन्होंने तनिक भी हस्तक्षेप नहीं किया। कांग्रेस ने उडीसा को छोड कर शेष सब प्रांतों में अपने मन्त्रिमण्डलो में मुसल्मान सदस्य भी शामिल किए थे। उडीसा मे जब कई मुस्लिम सस्थाओं के प्रतिनिधियों ने गवर्नर से भेंट करके इस बात पर जोर दिया कि मन्त्रिमण्डल मे मुसल्मान सदस्य अवश्य होने चाहिए, गवर्नर ने स्पष्ट शब्दों मे उनसे कह

दिया कि वह इसे आवश्यक नही मानते थे, और साथ ही उन्होने अपना यह विश्वास भी प्रगट किया कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल द्वारा मुस्लिम-हितो को तनिक भी हानि पहुँचने की संभावना नहीं थी। मंत्रिमण्डलों के निर्माण के बाद काग्रेस को संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत के विकास का पूरा अवसर मिला। गवर्नरों और मन्त्रिमण्डलों के आपसी सम्बन्ध बडे अच्छे रहे। दो बार—सयुक्त प्रांत व बिहार मे राजनैतिक कैदियो को छोड़ने, और उडीसा मे चीफ़ सेक्रेटरी के गवर्नर नियुक्त किये जाने के सम्बध मे—जब प्रांतीय-शासन पर सङ्कट के बादल मडराते दिखाई दिये, काग्रेस व सरकार दोनो ने ही समझौते की वृत्ति से काम लिया, और वे दोनो सङ्कट टल गए। सयुक्त-प्रांत के गवर्नर ने अपने प्रातीय धारा-सभा के भाषण में कहा, "जब हर चीज बदल गई है, गवर्नर की स्थिति भी वह नहीं रह गई है जो पिछले शासन-विधान मे थी।" मद्रास के एक काग्रेस मत्री डॉ० राजन ने गवर्नर के रवैये के सम्वध मे कहा कि वह एक "दोस्त, सलाहकार और तत्ववेत्ता" का काम करते रहे। अंग्रेज गवर्नरो व सरकारी अफ़सरो की काग्रेस के प्रति जो भावना रही उसे देखते हुए यदि यह धारणा प्रबल होती गई कि हिंदुस्तान और इङ्गलैण्ड के सबंधो मे एक नवीन युग का सूत्रपात होरहा है तो इसमे आश्चर्य क्या था?

महायुद्ध की प्रतिक्रिया

पारस्परिक विश्वास और सहयोग की इस पृष्ठभूमि पर, सितम्बर १९३९ में अचानक महायुद्ध के काले बादल घिर आए। यह घटना बिल्कुल ही अप्रत्याशित तो नहीं थी, परन्तु जीवन और मरण की समस्या संसार के प्रत्येक देश के सामने यो आ खडी होगी, इसकी स्पष्ट कल्पना किसी ने नही की थी। लडाई जब अपने पूरे वेग मे चल पडी, तब भी किसी को यह विश्वास नही था कि उसे लेकर, काग्रेस और सरकार के बीच जिस सहयोग की जड़े गहरी होती जारही थीं, उसमें किसी प्रकार का व्यवधान आ उपस्थित होगा। सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इङ्गलैण्ड और हिंदुस्तान के दृष्टिकोणो मे किसी प्रकार का वैषम्य था ही नही। दोनो फासिज्म के खिलाफ और प्रजातन्त्र के समर्थक थे। हिंदुस्तान में तो फ़ासिस्ट विरोधी मनोवृत्ति, विशेष कर जवाहरलाल जी के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण, अपने शिखर पर थी। हम लोग तो इङ्गलैण्ड की विदेशी नीति के भी उस हद तक कडे आलोचक थे, जहा वह फासिज़्म का समर्थन-सा करती दिखाई देती थी, परन्तु इग्लैण्ड के प्रति हम कभी असहिष्णु नहीं बने, क्योकि हम जानते थे कि वह एक ओर तो परिस्थितियों का, व दूसरी ओर एक गलत नेतृत्व का, दास बना हुआ

था। मंचूरिया पर जापान का आक्रमण, अबीसीनिया में इटली के साम्राज्य-वाद का नग्न ताडव, स्पेन के गृह-युद्ध में फासिस्ट देशों का खुला सहयोग, हिटलर द्वारा आस्ट्रिया व जेकोस्लोवाकिया का खात्मा, इन घटनाओं ने हमें बहुत अधिक विचलित किया था, इसलिए मार्च १९३९ में जब इंग्लैण्ड ने हिटलर की बढती हुई मांगों के सामने पोलैण्ड को यह आश्वासन दे दिया कि वह जर्मनी द्वारा आक्रमण किए जाने पर उसकी सहायता की आशा कर सकता है, उसके प्रति हमारा आदर-भाव बढ गया, और सितम्बर १९३९ मे जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण किये जाते ही जब उसने जर्मनी के प्रति युद्ध की घोषणा की, तब तो हमारा वह आदर श्रद्धा मे परिणत होगया। हमारे गण्य-मान्य नेताओं ने खुले दिल से और बिना किसी शर्त्त के फासिस्ट-देशों के विरोध में इंग्लैण्ड और अन्य प्रजातंत्र-देशों के साथ अपनी सहानुभूति प्रगट की। गाधी जी ने वायसराय से मिलने के बाद ही अपने एक वक्तव्य मे कहा, "मैं इस समय हिंदुस्तान की आजादी की बात नहीं सोच रहा हूँ। वह तो आयेगी ही, पर यदि इग्लैण्ड या फ्रास का पतन होगया तो उसकी क्या कीमत रह जायगी?" काग्रेस की कार्य-समिति ने अपने एक प्रस्ताव मे कहा, "काग्रेस ने बार-बार फासिस्टवाद व नात्सी-वाद की विचार-धाराओ व कार्य-प्रणाली, उनके युद्ध व हिंसा के सिद्धातों और उनके द्वारा किये जाने वाले मानवी आत्मा के कुचलने के प्रयत्नों के सबध में अपनी गहरी असहमति प्रकट की है। वह जर्मनी की नात्सी-सरकार द्वारा पोलैण्ड के खिलाफ जो ताज़ा आक्रमण किया गया है उसकी जोरदार शब्दों में भर्त्सना करती है, और उन देशो के साथ अपनी सहानु-भूति प्रगट करती है जो इस आक्रमण का विरोध कर रहे हैं।" इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के आपसी सबधों के इतिहास में यह वह सोनहला अवसर था, जब सहानुभूति के एक हल्के से इशारे से इंग्लैण्ड हिंदुस्तान के सहयोग को सदा के लिए प्राप्त कर सकता था।

गत्यावरोध का सूत्रपात

परन्तु, इग्लैण्ड की ओर से सहयोग की अभिव्यक्ति की सूचना देने वाला कोई क़दम नहीं उठाया गया। इसके विपरीत, इगलैण्ड ने एक के बाद एक कई ऐसे काम किए जिनसे उसने हिंदुस्तान की सहानुभूति को बिल्कुल ही खो दिया। उसके नेताओं व धारासभा से भी पूछे बिना हिंदुस्तान के लड़ाई में शामिल होने की घोषणा करदी गई, देश में आर्डिनेंस राज्य कायम होगया और शासन-विधान में भी कुछ युद्ध-कालीन परिवर्त्तन कर दिये गये। काग्रेस ने सहानुभूति और सहयोग का जो हाथ बढाया था, वह उसे बुरी तरह से झिड़क

देना था। कांग्रेस भी १६३६ मे ऐसी स्थिति में नहीं रह गई थी कि सरकार द्वारा की गई अवज्ञा को चुपचाप सह लेती। वह इंग्लैण्ड व प्रजातन्त्र-देशो का समर्थन अवश्य करना चाहती थी, पर कुछ शर्त्तों पर। इस सम्बध मे कांग्रेस का प्रस्ताव बिल्कुल स्पष्ट था। "यदि इंग्लैण्ड प्रजातन्त्र के बचाव व विस्तार के लिए लड़ रहा है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपने आधीन देशो मे साम्राज्यवाद का अन्त करदे और भारतीय जनता को आत्म-निर्णय का अधिकार दे दे—स्वतन्त्र भारत अत्याचार के विरुद्ध, सामान्य-रक्षा की दृष्टि से, बड़ी प्रसन्नता से दूसरे स्वाधीन राष्ट्रो का साथ देगा।" कांग्रेस की कार्य-समिति ने इंग्लैण्ड की सरकार से इस बात की माग की कि वह अपनी युद्ध-नीति को स्पष्ट शब्दो मे घोषित करदे, और साथ ही यह भी स्पष्ट करे कि वह अपनी उस नीति का भारतवर्ष मे किस प्रकार पालन करना चाहती है।

इंग्लैण्ड की सरकार इस प्रश्न को यो साफ-साफ़ सुलझा लेना नही चाहती थी। कुछ दिनो तक उसे यह ख्याल रहा कि कांग्रेस शायद अपनी स्थिति पर इतनी दृढ़ न रहे, और सरकार के साथ असहयोग के गम्भीर कदम को न उठाए। उधर; कांग्रेस लगातार इस आशा में रही कि युद्ध की विषम परिस्थितिया सरकार को उसके साथ समझौता करने पर मजबूर कर देंगी। कांग्रेस अपनी निम्न-माग से हटने के लिए तैयार नहीं थी—यदि कांग्रेस ऐसा करती तो न केवल अपने स्वाभिमान को ही खो बैठती, देश का भी बड़ा अहित करती। सितम्बर १६३६ मे गाधीजी ने इस बातको स्पष्ट कर दिया था कि वह अंग्रेजी सरकार,को उसके युद्ध प्रयत्नो मे बिना किसी शर्त के सहायता देने के लिए तैयार है, वह केन्द्रीय शासन मे कांग्रेस के लिए केवल इतना अधिकार चाहते थे कि जितने से प्रातों का उत्तरदायी शासन अपने उत्तरदायित्व को निभा सके। इस थोड़े से अधिकार की प्राप्ति पर भी गाधी जी ने जोर इसलिए दिया कि वह देख रहे थे कि युद्ध के नाम पर प्रातीय मन्त्रिमण्डलो को एक गैर-जिम्मेदार केन्द्रीय शासन के हाथ का खिलौना-मात्र बनने पर मजबूर होना पड रहा था। जहा तक कि कांग्रेसके अन्तिम लक्ष्य का संबंध था, सितम्बर १६३६ मे गाधीजी इस बात से सतुष्ट होने के लिए भी तैयार थ कि सरकार इस बात की घोषणा भर कर दे कि हिंदुस्तान लडाई के बाद एक स्वाधीन और प्रजातन्त्रात्मक देश हो जायेगा। परन्तु, जब सरकार ने गांधीजी के इस विनम्र प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो यह स्पष्ट होगया कि वह हिंदुस्तान पर अपने साम्राज्यवाद के शिकजे को जरा भी ढीला करने के लिए तैयार नहीं थी।

मनोवैज्ञानिक पक्ष

इस राजनैतिक गत्यावरोध के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी थोडा गौर करलें। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग से अंग्रेजो को पहले तो आश्चर्य हुआ और धीरे-धीरे वह आश्चर्य विक्षोभ में परिणत हो चला। अंग्रेज तो भला इस बात की कल्पना ही कैसे कर सकते थे कि जिन भारतीयो पर वह पिछले डेढ-सौ वर्षों से उपकार पर उपकार-लादते जा रहे थे वह उनके ऐसे सङ्कट के अवसर पर राजनैतिक सौदे की बात करेंगे ? उनके लिए तो यह विश्वास-घात से कम न था। दूसरी ओर कांग्रेस हर चीज को हिंदुस्तान की आजादी की कसौटी पर कस और परख रही थी। उसके लिए यह विश्वास करना कठिन हो रहा था कि बिना हिंदुस्तान को आत्म-निर्णय का अधिकार दिए इंग्लैण्ड और उसके साथी ससार मे प्रजातन्त्र की स्थापना कर सकेंगे। कांग्रेस तो यह जानना चाहती थी कि क्या इंग्लैण्ड सचमुच फासिज्म के खिलाफ लड रहा था, और यदि ऐसा था तो वह स्वय अपने फासिज्म को खत्म कर देने की दिशा मे क्या क़दम उठाना चाहता था। कांग्रेस ने इस सबंध में जितना अधिक सोचा, उसका यह विश्वास दृढ होता गया कि भारतीय समस्या विश्व की समस्या की कुंजी है और ससार में प्रजातन्त्र की स्थापना, अथवा युद्ध का अंत, उस समय तक असम्भव है जब तक हिंदुस्तान आजाद नहीं हो जाता। उसे हिंदुस्तान की आजादी केवल हिंदुस्तान की दृष्टि से ही नहीं, विश्व की दृष्टि से भी आवश्यक दिखाई दे रही थी।

गलतफहमी को फैलाने में कुछ और बातो का हाथ भी रहा। कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार की ईमानदारी मे बहुत दूर तक विश्वास रखा। पद-त्याग के बाद भी उसे आशा थी कि सरकार समझौते की दिशा में कोई न कोई प्रयत्न अवश्य करेगी, उसे इस बात का अंदाजा नहीं था कि अंग्रेजी सरकार का विक्षोभ कितना गहरा चला गया था। कांग्रेस ने ईमानदारी के साथ युद्ध-प्रयत्नो में बाधा न डालने की नीति बरतीं। अंग्रेजी सरकार ने उसे कांग्रेस की कमजोरी का द्योतक माना। कांग्रेस उन दिनो कठिन परिस्थिति मे थी भी। उसके २७ महीनो के पद-ग्रहण ने उसके विरोधी-तत्त्वों को बडा सशक्त बना दिया था। देशी नरेश नाराज थे, क्योंकि उन्हें खयाल था कि वह उनकी प्रजा को उनके खिलाफ भडका रही है। मुसलमानों का विरोध दिन प्रति-दिन तीव्र होता जा रहा था। हिंदू भी कांग्रेस का साथ छोड रहे थे, और मुस्लिम-लीग के साम्प्रदायिक प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाओं मे शामिल हो रहे थे। कांग्रेस का वाम-पक्ष, किसानो और मजदूरों के हितों के

नाम पर, उसके दक्षिण-पक्ष के प्रति विद्रोह की घोषणा कर चुका था। कांग्रेस में एक दल ऐसा भी था जो अंग्रेज़ी सरकार से सहयोग करने के लिए बेचैन था, और टूटी-फूटी सत्ता को भी अपने हाथ से खोना नहीं चाहता था। उधर, जनता कांग्रेस की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को समझने मे सर्वथा असमर्थ थी। वह तो अंग्रेजी नीति के कारण जितना अधिक विक्षुब्ध होती जा रही थी, शत्रु राष्ट्रो के प्रति उसका ममत्व बढता जा रहा था, और अंग्रेजो की हार और अपमान से वह एक अस्वस्थ संतोष का अनुभव कर रही थी। ऐसी परिस्थितियों में यदि सरकार ने कांग्रेस के विरोध को अधिक महत्त्व नहीं दिया तो यह स्वाभाविक ही था।

देश मे एक ऐसा दल प्रबल होता जा रहा था जो युद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठा कर सरकार पर दबाव डालने के पक्ष में था—कम्यूनिस्ट तो इस दल के अग्रगण्य थे। जनता में ज्यों-ज्यो बेचैनी बढती जा रही थी, यह दल अधिक मज़बूत बनता जा रहा था। पर कांग्रेस का नेतृत्व सरकार पर इस प्रकार का नाजायज दबाब नहीं डालना चाहता था। बहुत संभव है कि, युद्ध को लेकर, कांग्रेस में एक बार फिर आन्तरिक विस्फोट होता, और उसके वाम और दक्षिण पक्ष एक दूसरे से अलहदा हो जाते। परन्तु, गाधी जी ने देश को इस सकट से बचा लिया। वह फौरन ही देश के समस्त तत्त्वों को, परस्पर-विरोधी तत्त्वों को भी, एक साथ ले आए। सुभाष बोस अवश्य भाग निकले और शत्रु-पक्ष के रेडियो से गाधी जी के काम को असफल बनाने का भरसक प्रयत्न करते रहे। मि० जिन्ना ने भी अपनी नई शक्तिशाली स्थिति को छोड़ने से इन्कार कर दिया—अंग्रेजी सरकार की नीति के कारण उनका बल व शक्ति बहुत बढ गए थे। इन्हें छोड कर देश की अन्य सभी विचार-धाराओ ने गाधी जी का साथ दिया। गांधी जी एक ओर तो देश की बढ़ती हुई शक्ति को बिखरने देना नहीं चाहते थे, दूसरी ओर वह सरकार के युद्ध-प्रयत्नो मे बाधा पहुँचाना भी नही चाहते थे।

अगस्त १६४० में सरकार ने देश के सामने जो प्रस्ताव रखे, वह हमारी राष्ट्रीयता के लिए एक खुली चुनौती के रूप में थे। वायसराय ने बडी उदारतापूर्वक इस बात की घोषणा की कि वह अपनी कार्यकारिणी-सभा मे कुछ अन्य सदस्यो को ले सकते हैं, व एक भारतीय रक्षा-समिति की स्थापना भी कर सकते हैं। युद्ध के समाप्त होते ही भारतीयों को अपना शासन-विधान स्वय बनाने का अधिकार दिए जाने का आश्वासन भी था। कांग्रेस ने इस चुनौती का जवाब 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' के आन्दोलन द्वारा दिया, परन्तु गाधी जी और कांग्रेस

जितना अधिक सयम से काम लेते रहे, सरकार ने उनकी स्थिति को उतना ही गलत समझा। काग्रेस के सयम में उसे कमजोरी की भावना दिखाई दी, काग्रेस के प्रति उसका अविश्वास और भी प्रगाढ हो चला, और उसने एक ओर तो भारतीय मुसलमानो को काग्रेस के खिलाफ उभाड़ा, और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को अपने पक्ष में करने का अथक प्रयत्न किया।

काग्रेस की युद्ध-सम्बन्धी नीति को लेकर किस प्रकार अग्रेजी सरकार और लीग में एक निकटतम सपर्क स्थापित हो चुका था, इसकी विस्तृत चर्चा एक पिछले अध्याय में आ चुकी है। हमारी साप्रदायिक कठिनाइयों को लेकर ससार को यह बताने की कोशिश की गई कि हमारी राजनैतिक समस्याएं इतनी जटिल हैं कि युद्ध के बीच उन्हें छूना भी एक बारूद के ढेर में चिनगारी लगाने के समान है। भारत-मन्त्री मि० एमेरी ने १४ अगस्त १९४० को हाउस ऑफ कॉमन्स में बोलते हुए कहा, "आल्प्स पर्वत की ऊची चोटियों में छुरी की धार जैसे सकीर्ण वर्फ पर सभल कर चल लेना अधिक आसान है, वर्त्तमान भारतीय राजनीति के पेचीदा, और गढ़ों से भरे हुए, दलदल मे से बिना ठोकर खाए या किसी को नाराज किए, निकल जाने की तुलना में।"[१] "यदि काग्रेस सचमुच भारतीय राजनीति के प्रमुख तत्त्वो का प्रतिनिधित्व कर पाती, जैसा कि वह दावा करती है, तब तो उसकी माग चाहे कितनी बढ़ी हुई क्यों न होती, हमारी समस्या बिल्कुल भिन्न, और आज के मुकाबिले में कहीं अधिक सरल, होती। यह सत्य है कि वह सख्या की दृष्टि से ब्रिटिश-भारत में सबसे बड़ी राजनैतिक सस्था है, परन्तु देश का प्रतिनिधित्व करने का उसका दावा भारतवर्ष के जटिल राष्ट्रीय जीवन के बड़े आवश्यक तत्त्वों द्वारा अस्वीकार किया जा रहा है।'[२] इनमें पहला स्थान स्वभावतः "महान् मुस्लिम-समाज को, जिसकी सख्या ९ करोड है, और जो उत्तर-पश्चिमी व उत्तर-पूर्वी भारत में बहुमत, और देश-भर मे अल्प-मत, के रूप मे फैला हुआ है," दिया जा रहा था। "धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण में, ऐतिहासिक स्मृतियो व सस्कृति में, उनमें और उनके हिंदू देश-वासियों में अन्तर यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतना गहरा तो है जितना यूरोप के दो राष्ट्रों में।"[२] इसके बाद देशी नरेशो का स्थान आता था—"जिनका राज्य हिंदुस्तान के एक-तिहाई भाग में फैला हुआ है, और जिसके अतर्गत देश की एक-चौथाई आबादी रहती है।" मि० एमेरी का मत था कि मौजूदा परिस्थितियों में काग्रेस की माग एक व्यवहारिक माग नहीं है।'[३]

१—India and Freedom, पृ० ६६। २—वही, पृ० ६८।
३—वही, पृ० ७१।

१६-नवंबर १९४१ को अपने एक दूसरे भाषण मे मि० एमेरी ने कहा, "हम प्रजातन्त्र के लिए लड़ रहे हैं, इसलिए हिंदुस्तान में उसकी स्थापना क्यों न कर दी जाय, यह दलील देखने में तो तर्कपूर्ण और अकाट्य है, परन्तु कोई ऐसी राजनैतिक सस्था न तो मौजूद है, और न किसी ऐसी संस्था के निकट-भविष्य में बन जाने की आशा है, जो हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व कर सके या हिंदुस्तान के नाम पर कोई संयुक्त माग पेश कर सके। प्रजातन्त्र का ऐसा कौनसा रूप है जिसके अन्तर्गत भारतवर्ष की जनताएं साथ-साथ रहने के लिए तैयार हो सकें?"[1] इस प्रकार के वक्तव्यो से हमारे मन मे विक्षोभ का बढ़ना स्वाभाविक था। गाधी जी ने लिखा, "सङ्कट में प्रायः लोगो के दिल नरम पड जाते हैं, और उनमे वस्तु-स्थिति को समझने की तत्परता आजाती है, परन्तु ब्रिटेन के सङ्कट का, जान पडता है, मि० एमेरी पर रत्ती भर प्रभाव भी नहीं पडा है।"

क्रिप्स प्रस्ताव

७ दिसंबर १९४२ को जब जापान ने अचानक पर्ल बन्दरगाह पर हमला कर दिया, और हाग-कांग, सिगापुर, फिलिपाइन्स, मलाया, बरमा आदि अमरीकन व अंग्रेजी साम्राज्य के गढ एक के बाद एक, और तेजी से, धराशायी होने लगे—और जापान की सेनाएं भारतवर्ष की अरक्षित उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँची—तब फिर, अचानक, अंग्रेजी सरकार की ओर से सर स्टैफर्ड क्रिप्स हिंदुस्तान आये, और देश के नेताओं से राजनैतिक गत्यावरोध को दूर करने की दिशा में बातचीत आरम्भ की। भारतीय हृदयों में एक बार फिर आशा की ज्योति चमकी। हमने यह अनुभव करके संतोष की सांस ली कि, देर से सही, अंग्रेजी सरकार जागी तो! क्रिप्स ने इस देश में अपने पहले भाषण में ही कहा कि नई योजना मे हिंदुस्तान को इतनी आजादी होगी कि वह यदि चाहेगा तो युद्ध के फौरन बाद ही अपने को पूर्ण स्वाधीन घोषित कर सकेगा। परन्तु राष्ट्र की उत्सुक वाणी ने पूछा, "आज के लिए आपकी योजना क्या कहती है? आज जो हमारे राजनैतिक विकास की गति बिल्कुल रुद्ध होरही है, इससे हमें मुक्ति कैसे मिलेगी?" क्रिप्स के पास इसका जवाब नहीं था। क्रिप्स ने राष्ट्र-पति मौ० आजाद से अपनी पहली बातचीत में कहा था कि भारतवर्ष में शीघ्र ही एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो सकेगी, और वायसराय की स्थिति वही रह जायगी जो इग्लैण्ड के सम्राट की अपने देश मे है। परन्तु, बाद मे जब मौलाना आजाद ने भविष्य के सभी प्रश्नो को एक ओर उठाकर रख देने की अपनी तत्परता बताई, और कहा कि "यदि सच्ची राष्ट्रीय सरकार बनती है तो

१—वही, पृ० ४१।

काग्रेस अब भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार है", तो क्रिप्स अचानक सारी बातचीत के असफल होजाने की घोषणा के साथ इंग्लैएड के लिए रवाना हो गए !

इसके लिए देश सचमुच तैयार नहीं था। तो क्या क्रिप्स प्रस्ताव भी एक धोखे की टट्टी था, दुनिया की आखों में धूल झोंकने का एक प्रयत्न ? क्या चर्चिल ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को हिंदुस्तान इसलिए भेजा था कि वह हमारे आपसी मत-भेदो का ढिंढोरा संसार के सामने पीट सके ? क्रिप्स-मिशन की असफलता के कारणो के विशेष विश्लेषण की यहा आवश्यकता नही है। २६ अक्टूबर १६३६ को स्वयं क्रिप्स ने कहा था, "वर्त्तमान गत्यावरोध अंग्रेज़ी सरकार के समझौता न करने के निश्चय के कारण है, काग्रेस पर उसका उत्तर-दायित्व नहीं है। काग्रेस भारतीय जनता के न्यायपूर्ण अधिकारों की माग सामने ला रही है। वायसराय का यह प्रस्ताव कि स्वयं उनके द्वारा एक सलाहकार-समिति का निर्माण कर लिया जाय, भारतीय जनता को, जो आत्म-निर्णय का अधिकार माग रही है, अपमानित करना है। यह दलील कि साम्प्रदायिक कठिनाइयों के कारण, हिंदुस्तान में एक स्वतंत्र-शासन की स्थापना नही की जा सकती, निरर्थक है।" क्रिप्स द्वारा निर्धारित सिद्धातो पर ही यदि उनकी योजना को कसा जाय तो उसकी सारहीनता स्पष्ट प्रगट होजाती है। उसमे भारतीय जनता की उन 'न्यायपूर्ण मांगों' को, जिनका कांग्रेस प्रतिनिधित्व कर रही थी, पूरा करने का कोई प्रयत्न नही था। युद्ध के दिनो में एक सलाहकार-समिति के अतिरिक्त कुछ भी देने के लिए वह तैयार नहीं थे। भारतीय जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार को बिना किसी शर्त्त और बहाने के मानने का कोई सकेत क्रिप्स-प्रस्तावों में नहीं था। सांप्रदायिक कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर बताने और, मुस्लिम-हितों के नाम पर, देश की एकता और शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देने का उसमें स्पष्ट आयोजन था। ऐसी दशा मे यदि देश ने उन प्रस्तावों के सबध में विशेष उत्साह प्रगट नही किया तो यह स्वाभाविक ही था। क्रिप्स प्रस्तावों के सम्बध में हमारे राजनैतिक दलों ने बाद में कुछ भी निर्णय बनाये हों, उनके सम्बध में नेताओं से जो बातचीत चल रही थी उसे बीच में ही स्वय क्रिप्स ने खत्म कर दिया था। प्रायः यह कहा जाता है कि हमें क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार कर लेने चाहिए थे, पर, सच तो यह है कि हमारे अस्वीकृत करने के पहले ही स्वय क्रिप्स ने, उन्हें एक जलते हुए अङ्गारे के समान, दूर फेंक दिया था।

निराशा की मध्यरात्रि

क्रिप्स प्रस्ताव के असफल हो जाने की प्रतिक्रिया बड़ी भीषण हुई, क्योंकि वह अंग्रेजी सरकार की ओर से सहयोग का अंतिम प्रस्ताव था जिसके संबंध मे बडी ऊंची-ऊंची आशाएं बाध ली गई थी। उसकी असफलता पर देश मे निराशा, असंतोष और विक्षोभ की एक आधी-सी उठ खड़ी हुई। कुछ प्रखर-बुद्धि राजनीतिज्ञो ने उलझन से निकलने की वैधानिक चेष्टाए कीं। श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी पाकिस्तान सबधी योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम-लीग को निकट लाने का प्रयत्न किया। परन्तु, क्रिप्स प्रस्तावो के खोखलेपन ने गांधीजी के धैर्य को डिगा दिया था, और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं रह गया था कि अंग्रेजो से साफ़ शब्दो मे हिंदुस्तान छोड़ने के लिए कह दिया जाय। गांधी जी को यह विश्वास हो गया था कि इसमे न केवल हिंदुस्तान का ही फायदा है, परन्तु इंग्लैण्ड की रक्षा का भी इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। गाधी जी देश के वर्त्तमान शासन पर अराजकता को तरजीह देते थे। अब वह हिंदू-मुस्लिम एकता की स्थापना के लिए भी रुकने के लिए तैयार नही थे—उनका यह विश्वास भी दृढ़ होगया था कि जब तक अंग्रेज़ हैं, हिंदू और मुसल्मानो मे एका होना असंभव है। गाधीजी की विचार-धारा को, जो देश के असतोष का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रही थी, काग्रेस के "अगस्त-प्रस्ताव" में अभिव्यक्ति मिली।

यह सब जानते हैं कि अगस्त १९४२ मे गाधीजी या काग्रेस फ़ौरन ही कोई बड़ा आदोलन चलाना नहीं चाहते थे। समझौते और बातचीत की नीति को उन्होने बिल्कुल ही छोड़ नही दिया था। परन्तु, सरकार द्वारा "अगस्त-प्रस्ताव" का जो उत्तर दिया गया, वह भारतीय राष्ट्रीयता पर सब से बड़ा और सशक्त प्रहार था। गाधी जी व अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के सब सदस्य, व देश के सभी प्रमुख काग्रेसी, एक साथ, बिना किसी जाच-पड़ताल के, जेलो में डाल दिये गए। इसके परिणाम-स्वरूप जब देश भर मे जनता ने अपना असंतोष प्रगट किया, तब मशीनगनो, लाठियो और घोड़ों की टापों के द्वारा उस असतोष को कुचलने का प्रयत्न किया गया। कई स्थानो पर तो हवाई जहाज़ से बम भी गिराये गए। "अगस्त आदोलन" और उसमें बरती जानेवाली सरकारी नीति ने राजनैतिक गत्यावरोध को अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उन दिनों अधिकांश व्यक्तियो की यह धारणा हो चली थी कि यह भारत और इग्लैण्ड के आपसी संबंधो पर ऐसा आघात था, जिसकी क्षति-पूर्त्ति भविष्य में हो पाना असभव होगया था। उसके बाद घटनाएं भी कुछ ऐसा रूप लेती गई जिससे इस

धारणा को पुष्टि मिली। १५ अगस्त '४२ को जेल में महादेव देसाई की अचानक मृत्यु के संवाद से तो मानवता मे हमारा विश्वास ही डिग उठा था। फर्वरी १६४३ में गाधी जी ने २१ दिन का उपवास किया। उसमें उनकी हालत खतरनाक हो जाने व ससार भर से उनके छोड़ दिये जाने के आग्रह के सामने भी सरकार ने अपनी नीति में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। कस्तूरवा गाधी का अस्वास्थ्य और देहावसान भी जिन परिस्थितियों मे हुआ वे सरकार की हृदय-हीनता की द्योतक थीं। बाहर, हिंदू महासभा, नरम दल आदि सभी राजनैतिक संस्थाओं के अथक और अनवरत प्रयत्न भी गत्यावरोध में तनिक भी कम्पन उत्पन्न करने मे असमर्थ रहे।

समझौते की अनिवार्यता

फिर भी राजनीति की गहराई तक जाने वाले व्यक्ति के लिए यह परिणाम निकाल लेना ठीक नहीं होता कि भारत और इंग्लैएड मे अब किसी प्रकार का समझौता होने की आशा रह ही नहीं गई थी, क्योंकि राजनीति तो समझौते का आधार लेकर ही आगे बढ़ती है। राजनैतिक गत्यावरोध भारत और इंग्लैएड के आपसी सबधो के इतिहास में कोई नई चीज नहीं है। जब कभी भारतवर्ष की स्वाधीनता की मांग ने एक प्रबल रूप ले लिया, तभी राजनैतिक गत्यावरोध उठ खड़ा हुआ—और जब कभी इस माग में कुछ शिथिलता आई, अथवा दूसरी ओर से समझौते के लिए कोई क़दम बढ़ाया गया, तभी वह सुलझ गया। सच तो यह है कि भारतीय राजनीति के क्रियात्मक वर्षों के इतिहास को देखा जाय तो उसमें हमें एक वैज्ञानिक क्रम दिखाई दे सकता है। राष्ट्रीय भावनाओं की प्रायः एक बाढ़-सी आजाती है, जिसकी अभिव्यक्ति हम सस्कृति और कला, साहित्य अथवा समाज-सुधार की नवीन प्रवृत्तियों में पाते हैं। इसके बाद सरकार की ओर से भारतीय राष्ट्रीयता के आधार-तत्त्वों में फूट डालने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ नई समस्याए खड़ी कर दी जाती हैं। १६०६ में साप्रदायिक चुनाव, १६३० में देशी नरेशों की सार्वभौमता का सिद्धान्त, १६४२ में मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माग का अप्रत्यक्ष समर्थन—इसी प्रकार की समस्याएं थीं। भारतीय राष्ट्रीयता उसका उत्तर देश में एकता की स्थापना के लिए एक विशद प्रयत्न के रूप मे देती है—और इस प्रयत्न का अत प्रायः एक बड़े राजनैतिक आदोलन मे होता है। इस राजनैतिक आदोलन में भारत और इग्लैएड के आपसी सम्बंधों को जो ठेस पहुँचती है उसे पूरा करने की दिशा मे एक ओर तो बड़े-बड़े विधान-शास्त्री लग जाते हैं—१६२४ में मोतीलाल नेहरू और चितरञ्जनदास, १६३४ मे काग्रेस का समग्र दक्षिण-पक्ष, १६४४ में राजाजी

और सप्रू-कमेटी—और दूसरी ओर गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा न केवल उस क्षति की पूर्त्ति में ही कटिबद्ध होजाते हैं, परन्तु राष्ट्रीय जीवन को और भी सशक्त बना लेते हैं, जिससे वह अगले संघर्षमें विजयी होने का प्रयत्न कर सके।

राजनीति में निराशा का कोई स्थायी स्थान नही है। यह मान लेना कि अंग्रेज़ सत्ता छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे, एक असंभव कल्पना को प्रश्रय देना है। अंग्रेजों के हाथ से सत्ता पहले भी हटी है, आज भी हट सकती है, भविष्य मे हटेगी भी। सच तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियो ने सत्ता को उनके हाथो मे सौंपा, और उन्हीं परिस्थितियो का उल्टा चक्र उन्हें सत्ता को छोड़ देने पर बाध्य भी कर सकता है। भारत मे अंग्रेजी-साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने का निश्चय उस समय संभव हो सका जब अंग्रेज़ी सरकार ने देखा कि कांग्रेस कमजोर है, और शक्ति के प्रदर्शन से, व चालाकी से उसे अहिंसा की पटरी से उतार देने से, वह कुचली जा सकती है। उसने यह भी देखा कि मुस्लिम-लीग अपने स्वार्थ के कारण, उसकी सहायता करने के लिए तैयार है। उसे यह भी आशा थी कि अपने अपरिमित प्रचार-साधनो द्वारा वह ससार को धोखे मे रख सकेगी। वह यह भी जानती थी कि स्वय उसके देश की जनता, युद्ध के नाम पर, खामोश रखी जा सकती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति

अगस्त १९४२ और उसके बाद के महीनो मे सरकार ने राष्ट्रीय-आदोलन को कुचलने के लिए जो भी किया जा सकता था किया। देश भर में दमन-चक्र अपने पूरे वेग से चला। स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियो पर लाठियो की मार पड़ी, और कॉलेज के विद्यार्थियो पर मशीनगनें चलाई गई। ऐसे लोग भी, जिनका राजनीति से दूर का संबध भी नहीं था, जेल मे डाल दिये गए। राष्ट्र एक बार तो बौखला उठा। जनता आत्म-नियंत्रण खो बैठी, और कुछ स्थानो पर उसने हिसा का मार्ग भी अपनाया। उससे सरकार को आंदोलन के दबाने मे सहायता मिली, पर अपने समग्र बल के समूचे प्रयोग से भी सरकार देश की राष्ट्रीय-भावनाओं को कुचल नहीं सकी। यह सच है कि मुस्लिम-जनता आंदोलन से सहानुभूति रखते हुए भी, मि० जिन्ना व अल्लामा मशरिकी के आदेश के सामने, उसमें पूरा भाग न ले सकी, परन्तु उसने, मि० जिन्ना की इस घोषणा के बावजूद भी कि अगस्त-प्रस्ताव सरकार के प्रति विद्रोह का ऐलान ही नहीं, गृह-युद्ध के लिए खुली चुनौती भी था, कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन का खुला विरोध नहीं किया। सरकार द्वारा युद्ध के आधुनिक हथियारों के प्रयोग के सामने आदोलन का रूप बदल जाना तो स्वाभाविक ही था। महीनो

तक, देश के कोने-कोने से गुप्त सवाद-पत्र प्रकाशित होते रहे, हजारों-लाखों व्यक्तियों ने स्वाधीनता की वेदी को अपने त्याग और बलिदान से सुलगते रखा, और नई-नई घटनाए घटती रहीं। यह सच है कि दिन ब दिन निराशा भी बढ़ती जा रही थी। पर, मई १९४४ में गांधीजी के छूटने के एक महीने के भीतर देश ने अपने खोये आत्म-विश्वास को फिर से पा लिया। उसके बाद एक वर्ष बीता भी नहीं था कि पूर्ण-स्वतन्त्रता की माग को एक बार फिर हम न सिर्फ मकान की चोटियों से दोहराने ही लगे थे, आसपास के वातावरण में उसकी पूर्ति का आभास भी पाने लगे थे।

आज यह बात स्पष्ट होगई है कि भारतीय राष्ट्रीय आदोलन एक ऐसी शक्ति है, जिसे कुचला नहीं जा सकता। आज तो कट्टर अंग्रेज भी इस तथ्य को समझ गए हैं। प्रबल दमन के बाद वातावरण में कुछ सन्नाटा-सा रहता है, परन्तु उसका चक्र थमता भी नहीं कि असंतोष की चिनगारिया फिर फूट निकलती हैं। पुराने देश-भक्त जेलों में ठूंस दिये जाते हैं। नये देशभक्तों की एक अनवरत शृङ्खला उनका स्थान लेने के लिए सामने आ जाती है। विरोधी पक्ष की ओर से प्रत्येक 'चैलेंज' के बाद राष्ट्रीय आदोलन अधिक सशक्त हो उठता है। जब सरकार ने मध्यम श्रेणी के राजनैतिक आन्दोलन-कर्त्ताओं के विरुद्ध कृषकों के हित के सम्बध में अपनी चिंता प्रगट की, कांग्रेस ने फौरन किसानो को अपने व्यापक आदोलन में समेट लिया। जब अंग्रेजी सरकार ने मुसलमानो को राष्ट्रीय-आदोलन के विरुद्ध खड़ा करना चाहा, कांग्रेस उनमें से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने साथ ले सकी। यह कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण ही था कि कांग्रेस अगस्त १९४२ की उत्क्रांति में मुसलमानो का पूरा सहयोग प्राप्त नहीं कर सकी। सरकार द्वारा अस्पृश्य जातियो को मिला लेने के लिए जितने भी प्रयत्न हुए हैं, वे सब राष्ट्रीयता की चट्टान पर चकनाचूर होते रहे हैं। कांग्रेस तो देशी नरेशों के परम्परागत प्रभुत्व को पार करके उनकी प्रजा की अविभाज्य भक्ति को भी प्राप्त कर सकी है। पिछले कुछ वर्षों में शायद ही कोई हिंदुस्तानी ऐसा रह गया हो, चाहे वह ऊंची सरकारी नौकरी में हो चाहे फौज में, जो हिंदुस्तान की पूर्ण आज़ादी में विश्वास न रखता हो।

साम्प्रदायिक समझौते की सम्भावनाएं

परन्तु, यह कहा जा सकता है कि जब तक हमारी साम्प्रदायिक समस्या सुलझ नहीं जाती, जब तक हिंदू और मुसलमान दोनों मिलकर आजादी के लिए प्रयत्नशील नहीं होते, तब तक हमारा स्वतन्त्र होना असम्भव है। क्या भारतीय राष्ट्रीयता अपने समस्त बल को लगा कर भी सांप्रदायिक समस्या को सुलझा

सकेगी ? इस संबंध में भी मैं निराश नहीं हूँ, यद्यपि शिमला कान्फ्रेंस (जून-जुलाई, १९४५) में मुस्लिम-लीग का जो रवैया रहा उससे यह स्पष्ट होगया है कि समस्या जितनी कठिन दिखाई देती थी, उससे कहीं अधिक कठिन है। सरकार ने मुसल्मानों को राष्ट्रीय जीवन से अलहदा करने के जितने भी प्रयत्न किये, कांग्रेस उन सबको काटती आई है। १९४२ में जब सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने पाकिस्तान की अस्पष्ट माग को व्यवहारिक राजनीति के स्तर तक उठा दिया, तब फ़ौरन राजाजी ने अपनी योजना के द्वारा कांग्रेस और लीग के बीच की खाई को पाटने की कोशिश की। कांग्रेस उन दिनो अंग्रेजी-साम्राज्य से सघर्ष मे लगी हुई थी, इस कारण इस योजना पर अधिक ध्यान न दे सकी, परन्तु १९४४ में जेल से आते ही गाधी जी ने उसके आधार पर लीग के नेता से बातचीत आरम्भ कर दी। सितम्बर १९४४ में तीन सप्ताह तक गाधी जी और मि०जिन्ना सांप्रदायिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय करते रहे। इस विचार-विनिमय मे गांधी जी, भारतीय हितो को दृष्टि से ओझल न करते हुए, मुसल्मानो को सतुष्ट करने की दिशा मे जितना आगे जा सकते थे, गये। हिंदू और मुसल्मान दो अलग राष्ट्र हैं, इस सिद्धात को मानने के लिए तो वह तैयार नहीं थे, पर इसके अतिरिक्त वह मुसल्मानो को सब कुछ देने के लिए तैयार थे। लाहौर-प्रस्ताव के सम्बंध मे उन्होंने कहा कि वह बिल्कुल उचित है, "जहा मुसल्मानों का बहुमत है वहा उन्हे अपना एक स्वतन्त्र-राज्य कायम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और यह बात राजाजी की व मेरी दोनो योजनाओं मे मान ली गई है। यह अधिकार मुसल्मानों को, बिना किसी हिचकिचाहट के, दे दिया गया है। परन्तु जहा तक एक ऐसी पूर्ण स्वतन्त्र सार्वभौम सत्ता का प्रश्न है जिसके अनुसार दोनों देशो में कोई सामान्य तत्त्व रहे ही नही, उसे मैं असम्भव मानता हूं।" पिछले दिनो राष्ट्रपति मौ० आजाद ने अपने वक्तव्यों द्वारा और कांग्रेस-कार्य-समिति ने अपने प्रस्तावों द्वारा प्रातीय आत्म-निर्णय के सम्बन्ध मे अपनी स्थिति को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है—और मैं मानता हू कि सितम्बर १९४४ में कायदे-आजम के साथ अपनी बातचीत मे गाधीजी ने जो दृष्टिकोण लिया था, उसमे और कांग्रेस की वर्त्तमान स्थिति मे कोई अन्तर नहीं है।

मुस्लिम-लीग के पिछले रवैये, और मुस्लिम जनता मे लीग की लोकप्रियता, को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुसल्मानों के सामने आज धर्मान्धता और राष्ट्रीयता के बीच एक को चुन लेने का सवाल है। मुस्लिम-लीग अपने उस उद्देश्य पर ही, जिसकी पूर्त्ति के लिए उसकी स्थापना हुई थी, आज दृढ नहीं है। उसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य तो यह था कि मुसल्मानों के हितों व

स्वार्थों की रक्षा की जाए, परन्तु आज वह एक ऐसे आदर्श को लेकर चल रही है जो मुस्लिम हितो व स्वार्थों के बिल्कुल ही विरुद्ध जाता है। आज वह शक्ति की राजनीति (power-politics) में विश्वास करने लगी है—और मुस्लिम-जनता में अपनी शक्ति को बढाने के अच्छे-बुरे किसी भी साधन को छोडने के लिए तैयार नहीं है। इसी कारण, पिछले कई वर्षों में काग्रेस द्वारा किए गए समझौते के सभी प्रस्तावों को वह ठुकरा चुकी है। वह न तो पाकिस्तान की अपनी माग से हटने के लिए तैयार है और न अपने इस दावे को छोडने के लिए ही उद्यत है कि वह मुसल्मानों की एक मात्र प्रतिनिधि-सस्था है। ऐसी दशा में, मुस्लिम-लीग का राष्ट्रीय सग्राम में काग्रेस के कधे से कधा भिडा कर खडा होना एक असभव कल्पना है। यह संभव हो सकता है कि मुस्लिम-लीग का प्रगतिशील अग उसे अपना वर्त्तमान प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण बदलने पर मजबूर कर दे—पर इसमें मेरा अधिक विश्वास नहीं है। मैं समझता हूँ कि ज्यो-ज्यों मुस्लिम-लीग एक कट्टर साप्रदायिक दृष्टिकोण लेती जाएगी, राष्ट्रवादी मुसल्मान अपनी शक्ति और सगठन को बढाते जाएगे। धर्मांधता और राष्ट्रीयता के बीच किसी एक चीज को चुन लेने की मुसल्मानो की जो जिम्मेदारी है, उसकी पूरी अनुभूति उन्हें करा देने का दायित्व राष्ट्रवादी मुसल्मानो को ही है—और, जान पडता है, शिमला-कान्फ्रेंस के बाद से वे लोग अपनी इस जिम्मेदारी को बहुत अच्छी तरह से समझने लगे हैं। मेरा तो पूरा विश्वास है कि आने वाले चुनावो का परिणाम चाहे कुछ भी हो—काग्रेस द्वारा उठाई गई आजादी की पुकार का देश के अधिकाश मुसल्मानो द्वारा समर्थन किया जाना अनिवार्य है—ऐतिहासिक परिस्थितियों और जनमत की अपरिमित शक्तियों के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। हिंदुस्तान को आजाद होना है, हमें अपने देश के लिए प्रजातन्त्र-शासन का एक नया प्रयोग करना है, मुसल्मान आत्म-निर्णय का अधिकार लेकर रहेंगे। ये ऐतिहासिक सत्य हैं जिनकी ओर से हम आँख मूँद नही सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय जनमत

हमारे देश मे एक दल ऐसा रहा—जिसके प्रतिनिधि सुभाष बोस थे—जो अग्रेजों के शत्रु-राष्ट्रों की सहायता से हिन्दुस्तान को आजाद कर लेना चाहता था। हममें से अधिकाश ने कभी इसमें विश्वास नही किया, परन्तु आज तो इस आशा का स्रोत ही नष्ट हो गया है। एक दूसरा बहुत बडा वर्ग ऐसा था जो इग्लैंड पर मित्र-राष्ट्रों के दबाव की आशा रखता था। मेरा तो कुछ ऐसा विश्वास है कि उस नैराश्य और खीझ से भरी घड़ी में, जब काग्रेस ने अपना

अगस्त-प्रस्ताव पास किया था, तब भी उसके प्रमुख नेताओं के मन से यह आशा बिल्कुल ही लुप्त नहीं हो गई थी कि अन्य मित्र-राष्ट्र इग्लैण्ड को भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध कोई बड़ा कदम नहीं उठाने देंगे। गांधी जी के फर्वरी १६४३ के उपवास के दिनों में, व बाद में जब ड्यू पीयर्सन ने रूज़वेल्ट के नाम फ़िलिप्स का पत्र छापा, और विजयलक्ष्मी पण्डित की अमरीका-यात्रा के अवसर पर भी, लोगों की यह धारणा बनी रही कि इंग्लैण्ड पर शायद अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का कुछ दबाव पड़े। यह अच्छा ही है कि हम अब इस बात को समझने लगे हैं कि अपनी आजादी के लिए हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र पर ही निर्भर नहीं रह सकते। यदि हम आजादी चाहते हैं तो हमें एक ओर तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल ढूंढ़ निकालना है, और दूसरी ओर भारतवर्ष और इग्लैण्ड के आपसी सबधों को निश्चित करना है। हम यह भी जानते हैं कि ये दोनों समस्याएँ एक दूसरे के साथ गुँथी हुई है, परन्तु हम यदि इन्हे सुलझा लें और अपना राष्ट्रीय बल बढ़ा लें तो इग्लैण्ड की इच्छा-शक्ति हमे ग़ुलाम रखने के पक्ष में चाहे कितनी ही सशक्त क्यों न हो, हम उसे झुका सकेंगे।

हमें अपनी आजादी की लड़ाई मे विदेशों से चाहे किसी प्रकार की सीधी सहायता न मिली हो, पर उसे अन्य देशो के लोकमत का समर्थन प्राप्त है, यह भी कुछ कम बात नहीं है। ससार के लोकमत का प्रभाव इग्लैण्ड की भारतीय नीति पर पड़ना अनिवार्य है। इग्लैण्ड ससार से अलहदा नहीं है—आज तो कोई भी देश अपने को दुनिया से अलहदा नही मान सकता। अमरीका या रूस या चीन हिंदुस्तान की आजादी के लिए क्या सोचते हैं, उसके प्रभाव से वह अपने को मुक्त नहीं रख सकता। इग्लैण्ड जानता है कि पिछले पाँच वर्षों मे संसार का लोकमत कितना अधिक भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में बन गया है। कुछ प्रमुख अमरीकन राजनीतिज्ञों—विल्की, वैलेस और सम्नर वेल्स—ने हिन्दुस्तान की आजादी का खुले शब्दों मे समर्थन किया है। रूस ने स्पष्ट शब्दो में अधिक नही कहा, परन्तु उसके विदेश-मंत्री मो० मोलोटोव ने सैनफ्रासिस्को में हिन्दुस्तान के सबंध मे रूस के दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। मार्शल और मैडम च्यांग-काई-शेक ने तो सदा ही हिन्दुस्तान की आजादी का पक्ष लिया है। मध्य-पूर्व के सभी देशों मे हिन्दुस्तान को आजाद देखने की उत्सुकता है। इग्लैण्ड में भी जनमत तेजी से भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थक बनता जा रहा है। प्रतिदिन सशक्त बनने वाले विश्व के इस संगठित लोकमत के सामने इंग्लैण्ड की सरकार को झुकना ही पड़ेगा।

समाधान की दिशा

फिर भी वास्तविक संघर्ष भारतीय राष्ट्रीयता—आजाद होने की लगन—और अंग्रेजी साम्राज्यवाद—भौतिक सुविधाओं के मोह—के बीच है। भारतीय राष्ट्रीयता जितनी सशक्त बनेगी, हमारी आजादी की लगन जितनी तीव्र होगी, उतना ही हम अंग्रेजी सरकार को समझौता करने के लिए अधिक विवश कर सकेंगे। हमारे सामने सबसे बड़ा कार्य उन शक्तियो का सृजन करना है जो इंग्लैण्ड में समझौते की भावना जागृत कर सकें। केवल अपनी आन्तरिक—साम्प्रदायिक—समस्या का समाधान ढूंढ लेने से ही काम नहीं चलेगा—यद्यपि उससे काम के चल निकलने मे सुभीता बहुत अधिक हो जाएगा। इसी प्रकार केवल अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को अपने पक्ष में कर लेना ही काफी नहीं है—वह तो आज भी पर्याप्त मात्रा में हमारे पक्ष में है ही। हमारी राजनैतिक समस्या सुलझेगी हमारे और इंग्लैण्ड के बीच एक सीधे समझौते, या संघर्ष, के परिणाम स्वरूप। इंग्लैंड को वह समझौता करने के लिए जिन साधनों के द्वारा मजबूर किया जाए वे हिंसात्मक हो अथवा अहिंसात्मक, यह भी एक प्रश्न है। मैं मानता हूं कि केवल भारतीय परिस्थितियो में ही नहीं, संसार के किसी भी देश में आज संगठित सरकार का हिंसा-द्वारा विरोध संभव नही रह गया है। परन्तु, यदि हिंसा व्यवहार्य नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी आशा के दीपक को बुझा दे, और भाग्य के सामने घुटने टेक दे। सौभाग्य से, आज हमारे बीच अमर आशा का ध्रुव-तारा, गांधी, मौजूद है। वह हमारा मार्ग-प्रदर्शक है। उसके बताए हुए अहिंसा के मार्ग पर चल कर ही आज हमारी राष्ट्रीयता ने इतनी शक्ति संगृहीत की है। सविनय अवज्ञा का प्रयोग अपने सामूहिक रूप में विशेष परिस्थितियो में ही किया जा सकता है—आज वे परिस्थितिया देश में मौजूद नहीं हैं—परन्तु, गांधी जी का बताया हुआ रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने है। राष्ट्रीय शक्ति को बढाने का इससे अच्छा और प्रभावपूर्ण दूसरा मार्ग नहीं है। रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा यदि हम अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढाते चलें तो हमारे देश के प्रति अंग्रेजों की न्याय वृत्ति अपने आप ही सजग और दीपित हो उठेगी। तब हमे आजादी मॉगनी नहीं पड़ेगी, वह दौड़ कर हमारे पास आएगी।

: ८ :

पाकिस्तान : व्यवहारिक कठिनाइयां

सीमाओं का निर्धारण

पाकिस्तान-सबंधी आंदोलन किस प्रकार देश के मुस्लिम-समाज में व्यापक होता गया, किन परिस्थितियो मे मुस्लिम-लीग ने उसे अपनाया, और किन कारणों से उसने आज इतना बल सगृहीत कर लिया है, इसकी विस्तृत चर्चा पहले आचुकी है। इस अध्याय मे हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि यदि यह मान भी लिया जाय कि पाकिस्तान की माग सर्वथा न्याय-सगत है, और हमारी सांप्रदायिक समस्या के सुलझाने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग है ही नहीं, तो भी कहां तक उसकी पूर्ति सम्भव और व्यवहार्य है। इस सबंध मे सबसे पहले तो हमें यह देखना है कि मुस्लिम-लीग की वास्तविक माग है क्या? लाहौर प्रस्ताव के अनुसार, "भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरी के समीप-स्थित इकाइयो की ऐसी हदबन्दी होनी चाहिए कि, आवश्यक प्रादेशिक हेर-फेर के बाद, जहा मुसलमान बहुसंख्या में हों, जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी भागो में है, वहा उन्हे मिलाकर स्वाधीन राज्यो की स्थापना की जा सके।" यह मांग निःसंदेह अस्पष्ट है, और मुस्लिम-लीग व उसके नेताओ से स्वभावतः ही यह आशा की जाती थी कि वे इसकी विशद व्याख्या देश के सामने रखेंगे, पर आज तक लाहौर-प्रस्ताव के स्पष्टीकरण की दिशा मे कोई कदम नहीं उठाया गया। प्रत्युत, अप्रैल १९४३ मे जब मि० जिन्ना से पूछा गया कि पाकिस्तान की हदबन्दी के सम्बन्ध मे उनकी क्या कल्पना है, तो उन्होंने उसका उत्तर यह दिया कि मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान का कोई नक्शा तैयार नही कराया है।

इस सम्बन्ध मे पिछले वर्षों मे जो वाद-विवाद, विचार-विनिमय, भाषण-सभाषण, अखबारी बयान व चर्चा, होते रहे है उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाकिस्तान मुस्लिम बहु-सख्यक प्रातो में—उत्तर-पश्चिम मे सीमाप्रात, पञ्जाब व सिध, और उत्तर-पूर्व मे बगाल व आसाम, को मिलाकर बनाया जाएगा। परन्तु, जान पड़ता है, मुस्लिम-लीग ने आरम्भ से ही इस बात को समझ लिया था कि यदि ये प्रान्त अपने वर्तमान रूप में ही पाकिस्तान में सम्मिलित कर लिए गए, तो उससे पञ्जाब व बङ्गाल के उन भागो मे रहने वाले व्यक्तियो के साथ

बड़ा अन्याय होगा, जिनमें ग़ैर-मुसल्मानों की सख्या मुसलमानो के मुक़ाबिले में बहुत ज़्यादा है। सम्भवतः इसी कारण 'प्रादेशिक हेर-फेर' की बात कही गई है। प्रादेशिक हेर-फेर के सम्बध में यह अनुमान किया जाता है कि पञ्जाब से अम्बाला-डिवीजन व बङ्गाल से बर्दवान-डिवीजन को पाकिस्तान से बाहर जाने की इजाज़त मिल सकेगी। यदि ऐसा हुआ तो पञ्जाब व बङ्गाल मे मुसल्मानो की स्थिति अधिक दृढ हो सकेगी—क्योंकि उनका बहुमत क्रमशः ५७.१ से ६२.७ प्रतिशत और ५४.७ से ६५ प्रतिशत बढ जायगा।

प्रस्ताव में कहीं यह बात स्पष्ट नहीं की गई है कि पाकिस्तान की सीमाओं के निर्धारण का आधार क्या रहेगा, परन्तु साधारणतः माना यह जाता है कि आत्म-निर्णय के अधिकार की दृष्टि से प्रत्येक प्रान्त को एक इकाई माना जायगा और उसकी धारासभा को, प्रान्त के लिए, निर्णय करने का अधिकार होगा। परन्तु इसमे कठिनाई यह आती है कि इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रान्तीय धारासभा के बहुमत के हाथ मे छोड़ देना कहा तक न्याय सङ्गत होगा। इस कठिनाई से बचने के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह सुझाव उपस्थित किया था कि यदि अखिल–भारतीय सघ–शासन में शामिल होने के पक्ष मे प्रान्तीय धारा–सभा के ६० प्रतिशत से कम सदस्यों का मत हो तो इस प्रश्न का निर्णय प्रात के वयस्क पुरुषों के हाथ में छोड़ देना चाहिए, पर मुस्लिम-लीग ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया। लीग का कहना था कि जब कि पाकिस्तान का आधार इस सिद्धान्त में है कि मुसल्मान एक अलहदा राष्ट्र है, स्वभावतः उसके निर्माण में केवल मुसल्मानों का मत ही लिया जाना चाहिए। मुस्लिम-लीग का यह आग्रह स्पष्टतः ही अनुचित है, क्योंकि यदि किसी प्रान्त के मुसल्मानों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाता है, तो कोई कारण नहीं है कि उस प्रान्त के हिन्दू क्यों उस अधिकार से वञ्चित रखे जाए। इस कठिनाई से बचने के लिए डा० अम्बेडकर ने यह सुझाव पेश किया था कि मुसल्मानों व हिन्दुओं को अलहदा-अलहदा अपनी सम्मति व्यक्त करने का अधिकार दिया जाए। यह प्रस्ताव भी व्यवहारिक दृष्टि से बड़ा दोष पूर्ण है।

सिखों की समस्या

परन्तु, पंजाब के इस प्रकार के विभाजन के सबध मे सबसे बड़ा प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह सिखों का प्रश्न है। अम्बाला-प्रदेश को पजाब से अलहदा कर दिए जाने का अर्थ होगा, सिखों की मातृ-भूमि को दो भागों में बाट देना। सिख कदापि इस बात के लिए तैयार न होंगे। सिखो की सख्या बहुत कम है—पजाब में भी उनकी आबादी १५ फीसदी से अधिक नहीं है—

परन्तु वह एक योद्धा कौम हैं, और उनकी इच्छा की आसानी से अवज्ञा नही की जा सकती। पंजाब की राजनीति मे सदा ही सिखो का प्रमुख भाग रहा है। यो तो देश की रक्षा में सिखो ने अपनी संख्या के अनुपात से बहुत अधिक भाग लिया है, पर आज का पंजाब, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक सभी दृष्टिकोणो से, सिखो का बडा ऋणी है। पजाब मे सिखों के ७०० से अधिक गुरुद्वारे हैं, जिनकी अपनी बडी सपत्ति है, व जिनके साथ उनके गुरुओ, सन्तो व शहीदो की स्मृतियां जुडी हुई हैं। ४०० से अधिक शिक्षा-सस्थाएं, जिनमे कॉलेज, स्कूल, कन्या-पाठशालाएं और औद्योगिक-शिक्षा सबधी सस्थाए शामिल है, उनके तत्वावधान मे चल रही है। प्रान्त की सब से उपजाऊ जमीन उनके पास है, और प्रान्त की आय का ४० प्रतिशत से अधिक सिखों द्वारा दिया जाता है। १९१९ के सुधारो में, गवर्नर की कार्यकारिणी के ३ सदस्यो मे से १ सिख होता था, और १९२६ से १९३७ तक, जब कार्यकारिणी में एक मुसल्मान सदस्य की वृद्धि हो गई थी, तब भी सिखो का प्रतिनिधित्व २५ प्रतिशत रहा। यूनियनिस्ट मत्रि मंडल के बनने के बाद भी उसे उस समय तक स्थायित्व नही मिल सका था, जब तक कि उसने सिखो के एक दल-विशेष के साथ समझौता नही कर लिया, और अकाली-दल के नेता सरदार बल्देवसिह को मत्रिमंडल मे नही ले लिया।

यह सब जानते हैं कि सिख अपने समस्त बल से पाकिस्तान का विरोध करेंगे। सिख इस बात को मान लेने के लिए बिल्कुल तैयार नही हैं कि पंजाब मुसल्मानो का प्रान्त है। उनका कहना है कि जब पंजाब की शहरी सम्पत्ति का ८० फ़ीसदी से ज्यादा हिस्सा गैर-मुसल्मानों के पास है, जब प्रान्त के आय-कर व सम्पत्ति-कर आदि का ८० फ़ीसदी से अधिक भाग गैर-मुसल्मानो द्वारा दिया जाता है, जब प्रात के उद्योग-धधे, कल-कारखाने, इश्योरैंस व फ़िल्म कम्पनिया, व्यापार और वाणिज्य, प्रधानतः गैर-मुसल्मानो के हाथ में हैं, और जब प्रान्त के सांस्कृतिक जीवन के निर्माण और निर्देशन के स्रोत भी गैर-मुसल्मान ही हैं, तब पंजाब को मुस्लिम-प्रात मान लेना वस्तु-स्थिति का उपहास करना है। सिखो ने आरम्भ से ही पाकिस्तान का विरोध किया। उनके क्रिप्स-प्रस्तावो को ठुकरा देने का मुख्य आधार यही था कि उनसे प्रातों के बहुमत को अखिल-भारतीय सघ से अपने प्रात को अलहदा कर लेने की इजाजत मिल जाती थी। साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की, "अखिल-भारतीय-सघ से पंजाब को अलहदा करने के प्रयत्न का मुकाबिला हम प्रत्येक संभव-साधन के द्वारा करेंगे।"

सिखो द्वारा पाकिस्तान का जो विरोध किया जा रहा है, उसे हम उपेक्षा की

दृष्टि से नहीं देख सकते। यदि, सिखों के विरोध के बावजूद भी, पाकिस्तान अमल में आता है तो यह निश्चित मानना चाहिए कि पंजाब के अन्तर्गत एक सिख-पाकिस्तान का निर्माण होकर रहेगा। राजनैतिक, आर्थिक व सास्कृतिक क्षेत्रों में सिखों को जो असुविधाए रही हैं, उनके संबंध में मुसलमानों से कम कड़वाहट उनके मन में नहीं है। उनका कहना है कि यों तो १६३५ के शासन-विधान में ही, उन्हें पजाब की धारासभा में १७५ मे से केवल ३३, सीमाप्रात में ५० में से ३ व केन्द्रीय धारासभा में २५० में से ६ स्थान देकर उनके राजनैतिक जीवन पर एक मर्माघात किया गया है, परन्तु स्वय उनके अपने प्रात, पंजाब, मे भी उनके साथ अन्याय हुआ है। युक्त-प्रान्त में मुसल्मानो की आबादी केवल १२ प्रतिशत है, पर उन्हे ३० प्रतिशत स्थान प्राप्त हैं, परन्तु सिखो को पजाब में केवल १६ प्रतिशत स्थान दिए गए हैं। पजाब के मुस्लिम-मन्त्रिमडल की नीति के सबध मे भी उनकी शिकायतें काग्रेसी-प्रातों में मुसल्मानों की शिकायतो की तुलना में कम गंभीर नहीं हैं। उनका कहना है कि—

१—प्रातीय शासन के कार्य-कारी-मडल मे सिखो का अनुपात कम कर दिया गया, व शासन के उच्च पद ज्यों ज्यों खाली होते रहे, मुसल्मानों को दिए जाते रहे, सिखो को उनमें कोई स्थान नहीं मिला।

२—सिखों की शिक्षा-सस्थाओं को निरुत्साहित करने की दिशा मे यूनियनिस्ट-मन्त्रिमडल ने भरसक प्रयत्न किया, उन्हें जो सरकारी सहायता मिलती थी उसमे कमी की गई, व कई सस्थाओं को सहायता देने से इनकार कर दिया गया।

३—प्रात के हिन्दू, मुसल्मान व सिख सभी की मातृ-भाषा पजाबी होते हुए भी सारा सरकारी काम-काज उर्दू-भाषा व फारसी लिपि में किया जाता है और प्रारंभिक शिक्षा के लिए भी उर्दू को ही माध्यम माना गया है।

४—सिखों के धार्मिक जीवन में भी हस्तक्षेप किया गया। सरकारी व अर्द्ध-सरकारी सस्थाओं में 'झटके' पर प्रतिबध लगा दिया गया है।

सिखो का तो यहा तक कहना है कि पञ्जाब का समस्त शासन-तन्त्र मुसल्मानों का पक्षपात, व गैर-मुसल्मानों के साथ अन्याय, करता रहा है। इस विश्वास के होते हुए यदि वे किसी भी मुस्लिम बहुमत वाले शासन मे अपने को पूर्ण सुरक्षित न मानें तो हम इस सम्बन्ध में उनसे कोई शिकायत कैसे कर सकते हैं?

इसके साथ ही सिखों का एक अलग राष्ट्र होने का दावा भी कम से कम मुसल्मानों के दावे से कम बल नहीं रखता। पञ्जाब उनकी अपनी मातृभूमि

है। मास्टर तारासिह के शब्दों मे, "पञ्जाब मुस्लिम प्रांत नही है। मैं तो यह भी नही मानता कि पञ्जाब की आबादी मे मुसल्मानो का बहुमत है।...पञ्जाब का इतिहास सिखो का इतिहास है। पञ्जाब सिख धर्म व सिख गुरुओ का जन्म-स्थान है। पंजाब के अधिकांश शहीद सिख शहीद हैं। सिख ही ऐसे लोग हैं जो उसकी सस्कृति और भाषा में गौरव का अनुभव करते हैं.. .मुस्लिम-कवि मक्का और मदीना के स्वप्न देखता है, हिंदू-कवि गगा और बनारस के गीत गाता है, परन्तु सिख कवि रावी और चिनाब का प्रेम अपनी कविता मे अभिव्यक्त करता है। सिख ही सच्चे पंजाबी हैं।" अखिल-भारतीय सिख-विद्यार्थी-संघ ने अपनी भावनाओं को और भी जोरदार शब्दो मे व्यक्त किया है। उनका कहना है कि "हिंदुस्तान मे यदि कोई जाति एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा कर सकती है तो वह सिख जाति ही है। सिखो की हर बात निराली है। दुनिया मे केवल वही एक ऐसी जाति है जिसमे सब व्यक्तियो के नाम का अंतिम शब्द एक ही है—यह उनकी आतरिक एकता और अन्य लोगो से विभिन्नता का अच्छा उदाहरण है।...उनकी लिपि भी अन्य लिपियो से बिल्कुल भिन्न है। कपडे व शक्ल सूरत में भी उनमे आपस मे बहुत अधिक समानता है। आतरिक दृष्टि से हम एक बहुत ही सुसङ्गठित जाति हैं। हमारे अपने रस्मो-रिवाज हैं।" विचार कभी-कभी आंधी के वेग से बढते हैं। यदि कुछ गैर-जिम्मेदार विद्यार्थियो के दिमाग़ से पैदा होकर पाकिस्तान की कल्पना अपना वर्त्तमान व्यापक रूप ले सकी, तो कौन कह सकता है कि खालिस्तान की कल्पना कुछ लोगो के दिमाग़ में घुट कर ही दम तोड देगी ?

पंजाब का विभाजन : अन्य कठिनाइयां

सिखो के विरोध की बात यदि हम छोड भी दे तो भी पञ्जाब के विभाजन मे अन्य व्यवहारिक कठिनाइया आती हैं। पञ्जाब के विभाजन का विचार नया नहीं है। सर जॉर्ज कॉर्बेट ने गोलमेज-परिषद् के अवसर पर उसे उठाया था। अक्टूबर १९४२ में कुछ हिंदू व सिख नेताओ ने दिल्ली मे उस पर विचार-विनिमय किया था। यह कहा जाता है कि यदि उत्तर से दक्षिण तक, लाहौर-डिवीजन को बीच से चीरती हुई, रेखा खीची जाए तो उसके पश्चिम में रावलपिण्डी और मुल्तान के मुस्लिम बहुमत वाले, व पूर्व मे अम्बाला और जालंधर के गैर-मुस्लिम बहुमत वाले, प्रदेश होंगे, और लाहौर का प्रदेश ऐसे दो हिस्सो में बंट जायगा जिनमें से एक में मुस्लिम बहुमत वाले व दूसरे मे गैर-मुस्लिम बहुमत वाले जिले होगे। परन्तु, नक्शे पर पेंसिल से रेखाए खींच देना एक बात है, और राज्यो की भौगोलिक सीमाए निर्धारित करना दूसरी। यदि विभाजन के

इसी सिद्धांत को मान लिया जाय तो यह सवाल उठेगा कि स्वयं लाहौर नगर को पञ्जाब के किस भाग मे रखा जाय ? यदि हमारी विभाजन-रेखा लाहौर से पूर्व की ओर है, तो इसका यह अर्थ होगा कि लाहौर और अमृतसर दो विभिन्न देशों में रखे जायगे। इन दोनों स्थानों के आर्थिक और सास्कृतिक सामान्य-तत्त्वों को भी यदि दृष्टि से ओझल कर दें तो भी प्रश्न यह उठता है कि देश के बचाव के दृष्टिकोण से क्या यह तनिक भी सम्भव है कि लाहौर और अमृतसर के बीच कहीं भी विभाजन की यह रेखा खींची जा सके ? यदि हम पञ्जाब के भौगोलिक मान-चित्र को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इस प्रदेश में कहीं भी इस प्रकार की हदबन्दी की गई तो वह पञ्जाब की नहरों के जाल को, व उस पर निर्भर आर्थिक जीवन की एकता को, नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। और इन सब बातो के साथ-साथ हम यह भी न भूलें कि हमें यह सीमा-निर्धारण एक देश के दो प्रातो के बीच नहीं, परन्तु दो विभिन्न देशों के बीच करना है, जिनके एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र बनाये जाने की कल्पना की जा रही है, और जो, यह भी सम्भव है, इस स्वतन्त्रता का आधार लेकर एक-दूसरे से युद्ध में प्रवृत्त हो सकते हैं।

उत्तर-पूर्व की समस्या

उत्तर-पूर्व के प्रातो में भी विभाजन की यह समस्या कुछ कम गम्भीर नहीं है। मुस्लिम-लीग सम्भवतः यह कल्पना कर रही है कि उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान मे, वर्दवान-डिवीजन निकाल कर, बङ्गाल व सारा आसाम शामिल होंगे। परन्तु समस्त आसाम को पाकिस्तान मे सम्मिलित करने का विचार क्यों किया जा रहा है ? आसाम की आबादी ६६'१ गैर-मुसल्मानों की है। केवल सिलहट के जिले मे मुसल्मान ६१'१ हैं। परन्तु आसाम को पाकिस्तान में शामिल न करने का प्रस्ताव भी उतना ही अव्यवहारिक है, जितना शामिल करने का। यदि आसाम को हिंदुस्तान में रखा जाय, तो उसकी स्थिति दूर-पार के एक आश्रित देश जैसी होगी, क्योंकि उसके और हिंदुस्तान के बीच पाकिस्तान की जमीन होगी। यह देखते हुए कि आसाम के द्वारा हिंदुस्तान पर आसानी से आक्रमण किया जा सकता है, यह स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। परन्तु, पश्चिमी बङ्गाल को शेप-बङ्गाल से अलहदा करने का प्रश्न तो इससे भी अधिक जटिल है। उसे किस सिद्धान्त के आधार पर बंगाल से जुदा किया जा सकेगा ? क्या इस सबध मे उसके निवासियों की सम्मति ली जायगी, और यदि ऐसा किया गया तो, क्या उनके निर्णय को मान्यता मिलेगी ? क्या पश्चिमी बंगाल की जनता के मन में मुस्लिम-सस्कृति

और उसके आधार पर बनने वाले उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान के प्रति घृणा और आक्रोश के भाव इतने प्रबल हो उठेंगे कि वह उस बंगाल से, जिसकी भक्ति के आवेश में आज वह 'आमार जननी, आमार बंग भूमि' के गीत गा रहे हैं, सदा के लिए अपना संबंध-विच्छेद करने के लिए तैयार हो जायगे ? क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि जिन बंगालियो ने कर्ज़न द्वारा बग-भंग किये जाने पर आकाश को अपनी लपटों से चूमने वाला एक इन्क़िलाबी आन्दोलन खड़ा कर दिया था, वे आज उसकी पुनरावृत्ति को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे ?

यदि यह मान लिया जाय कि पाकिस्तान के पक्ष मे जो तर्क है वह अपनी तेज किरणों से बगाल-प्रेम की इस भावना को काटने में समर्थ हो सकेगा, तो भी कुछ व्यवहारिक कठिनाइया रह ही जाती हैं। एक बडी कठिनाई कलकत्ते के सम्बन्ध में है। कलकत्ते को किस देश मे शामिल किया जायगा ? कलकत्ता बंगाल का व्यापार-केन्द्र तो है ही, उसकी संस्कृति का भी हृदय है। व्यापार और संस्कृति दोनो की दृष्टि से उस पर हिन्दुओ का प्रभुत्व है। उसके आस-पास जो जिले हैं उनमे हिन्दुओं की आबादी ही ज़्यादा है। ऐसी स्थिति मे क्या इस बात की कल्पना भी की जा सकती है कि कलकत्ता पश्चिमी बंगाल से हटाया जाकर पाकिस्तान मे शामिल किया जा सकेगा ? परन्तु, यदि कलकत्ता पूर्वी-पाकिस्तान में शामिल नहीं किया गया—और कोई कारण दिखाई नहीं देता कि वह क्यो शामिल किया जाय—तो पूर्वी पाकिस्तान का क्या महत्त्व रह जायगा ? उसकी स्थिति निष्प्राण शरीर जैसी रह जायगी, और उसे प्रेरणा और नेतृत्त्व के लिए, एक चौथे दर्जे के राष्ट्र के समान, उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान पर सर्वथा निर्भर रहना पड़ेगा। क्या यह स्थिति बडी वाञ्छनीय और स्पृहणीय होगी ?

आबादियों की अदल-बदल

पंजाब व बंगाल के विभाजन की इन कठिनाइयो के सामने यही मार्ग रह जाता है कि पाकिस्तान के प्रातो मे जो हिन्दू आबादी है, उसे हिन्दुस्तान, व हिंदुस्तान मे जो मुस्लिम-आबादी रह जाय उसे पाकिस्तान, भेज दिया जाय। आबादियो की अदल-बदल का यह विचार प्रथम-महायुद्ध के बाद यूरोप में बहुत लोक-प्रिय हो गया था, परन्तु यूनानी और तुर्की आबादी की अदल-बदल में जो अमानुषिक, लोमहर्षक, और भयंकर दृश्य देखने मे आये, उन्होने इस विचार की अव्यवहारिकता को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया। भारतीय परिस्थितियों में तो ऐसा होना बिल्कुल ही असम्भव है। क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते है कि एक मुसल्मान किसान जो सैकड़ो वर्षों से, हिन्दू किसानो के बीच रह कर,

उनसे भाईचारे और मुहब्बत का बर्ताव रखता हुआ, अपनी ज़मीन को जोतता रहा है, और धूप और बारिश से अपने झोंपड़े की रक्षा करता रहा है, किसी दूर-देश में जा बसने के लिए केवल इसलिए तैयार हो जायगा कि कोई एक मुस्लिम नेता या कोई एक मुस्लिम-जमात आज चीख़-चीख़ कर इस बात को कह रही है कि उसका अपना एक अलग राष्ट्र है, और इसलिए उसका अपना एक अलग देश भी होना चाहिए ? क्या हम सोच भी सकते हैं कि सिर्फ इसी आधार पर लखनऊ, दिल्ली या हैदराबाद मे रहने वाले मुसलमान पेशावर, कराची या ढाका मे जा बसने को तैयार हो जायगे, विशेषकर ऐसी स्थिति मे जब कि उन्हे जलवायु, भाषा, संस्कृति सभी में एक बड़े अन्तर का सामना करना पड़ेगा ? मैंने इस सम्बन्ध मे देश के विभिन्न-प्रांतो में फैले हुए सैकड़ों मुसलमानों से बात की है, और मैंने देखा है कि अपना जन्म-स्थान छोड़ने के लिए वे तनिक भी तैयार नहीं है—पाकिस्तान का समस्त आकर्षण भी उन्हे ऐसा करने के लिए तैयार नहीं कर सकता।

पाकिस्तान का आर्थिक-पहलू

सीमा-निर्धारण की कठिनाई से भी बड़ी एक और कठिनाई है जो पाकिस्तान की कल्पना के क्रियात्मक रूप लेने में एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करेगी। वह इस समस्या का आर्थिक-पक्ष है। अब तक इस सम्बन्ध में लोगों के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे—तरह-तरह की कल्पनाओं से काम लिया जा रहा था—पर हाल में ही होमी-मोदी और सर जॉन मथाई ने इस प्रश्न का विस्तृत अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट सप्रू-कमेटी के सामने रखी थी, उससे पाकिस्तान के आर्थिक-पक्ष पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन लोगों के अध्ययन ने इस सम्बन्ध में बहुत-सी गलतफहमियो को दूर करने में भी सहायता पहुँचाई है। मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इस प्रश्न को तीन दृष्टिकोणों से देखा गया है। पहिले तो उन्होंने यह देखने की कोशिश की है कि पाकिस्तान की सरकार अपनी वार्षिक आय-व्यय का उचित प्रबन्ध कर सकने की स्थिति में होगी भी या नही। दूसरे, उन्होंने यह जानना चाहा है कि पाकिस्तान के बन जाने से उसमे रहने वाले व्यक्तियों के रहन-सहन के स्टैण्डर्ड पर कोई विशेष प्रभाव तो नहीं पड़ेगा। और तीसरे, उन्होंने इस बात का विशेष अध्ययन किया है कि देश की रक्षा के दृष्टिकोण से पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति कैसी होगी।

मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इन प्रश्नों का अध्ययन पाकिस्तान-सबंधी दोनों योजनाओं—मुस्लिम लीग की माग व राजाजी-योजना—को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। इन विद्वान् लेखकों का कहना है कि दोनों में से कोई भी योजना

अमल में लाई जाय, पहिली दो बातो के दृष्टिकोण से, उसकी स्थिति आज के मुकाबिले मे बुरी नही होगी। उन प्रातो को, जो अपने खर्चे के एक बड़े अंश के लिए आज केन्द्रीय-सरकार की सहायता पर निर्भर रहते हैं, यदि यह सहायता मिलनी बन्द भी हो गई, तो भी उनके आय के स्रोत इतने बढ जायगे कि वे प्रातीय-शासन का भार स्वय ही वहन करने की स्थिति मे आ जायगे। अन्य प्रात भी शासन का अपना वर्त्तमान स्टैण्डर्ड कायम रख सकेंगे। लोगो के रहन-सहन पर भी बुरा प्रभाव पड़ने की संभावना नही है। किसी भी देश के निवासियो का रहन-सहन, उसकी अनाज की उपज, औद्योगिक विकास के साधनो, और व्यापार आदि पर निर्भर रहता है। इस दृष्टि से पाकिस्तान की स्थिति हिन्दुस्तान की तुलना मे कुछ बुरी नहीं रहेगी। इन प्रातो मे काफी ऐसी जमीन है, जो उपजाऊ बनायी जा सकती है, और जिस जमीन पर आज खेती हो रही है वह भी—कम-से-कम पश्चिमी-पाकिस्तान मे—हिन्दुस्तान की जमीन से अधिक उपजाऊ है। उद्योग-धन्धो के विकास की दृष्टि से यद्यपि पाकिस्तान मे कोयले, मगानीज व अन्य खनिज-पदार्थों की कमी होगी, पर ये चीजे, आवश्यकतानुसार, अन्य देशो से मंगाई जा सकती हैं, इनकी कमी पाकिस्तान के औद्योगीकरण मे बाधक नही हो सकेगी। एक बात जो हमे ध्यान मे रखना है, वह यह है कि पानी के बहाव से बिजली पैदा करने की जितनी सुविधा पाकिस्तान मे होगी उतनी हिन्दुस्तान में नहीं होगी—पजाब ही इतनी अधिक 'हाइड्रो-इलैक्ट्रिक' शक्ति तैयार कर सकता है, जिससे समस्त देश की आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो सके।

रक्षा-सम्बन्धी व्यय

पर, वास्तविक समस्या तो रक्षा-सम्बन्धी व्यय को जुटा पाने की है। आने वाले वर्षों मे रक्षा-विभाग पर हमे बहुत अधिक खर्च करना पड़ेगा। हमे अपनी पैदल-फौज को, आधुनिक पद्धति पर, पुनः संगठित तो करना ही है, पर जहा तक हमारी समुद्री व हवाई ताकत का सबध है, उनका तो हमें नये सिरे से ही निर्माण करना है। लडाई के पहिले हमारा रक्षा-सबधी खर्च ५० करोड रुपए वार्षिक के लगभग था। जानकार लोगो का कहना है कि लडाई के बाद हमारा वार्षिक व्यय कम से-कम १०० करोड का होगा। इसके अलावा, यदि हिन्दुस्तान को दो टुकडों मे बांट दिया गया तो विदेशी आक्रमणो का डर आज के मुकाबिले मे बहुत अधिक बढ जायगा और यह भी अभी तो निश्चित नही है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आपसी संबंध मैत्री के ही होगे। यदि इन परिस्थितियो को भी ध्यान मे रखे तब तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनो को अपना रक्षा-व्यय कई गुना अधिक बढ़ाना पड़ेगा। पर यदि तर्क के लिए यह

मान भी लिया जाय कि हिन्दुस्तान का बंटवारा आपसी समझौते से होता है, और बाद में भी इन दोनों पडौसी और स्वतन्त्र देशो मे मैत्री और भाई-चारे का वर्त्ताव रहता है, तो भी दोनो देशो को मिल कर रक्षा-विभाग के लिए कम-से-कम १०० करोड रुपए वार्षिक की व्यवस्था करनी पडेगी। मुस्लिम-लीग के लाहौर-प्रस्ताव के अनुसार पाकिस्तान का निर्माण यदि प्रात के आधार पर होता है तो उसे इस खर्चे मे से ३६ करोड का भार अपने ऊपर लेना होगा, और यदि वह, राजाजी-योजना के अनुसार, मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के आधार पर बना तो उसके हिस्से २३ करोड रुपए का खर्चा आयेगा। क्या पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति ऐसी होगी कि वह रक्षा पर इतना अधिक खर्च कर सकेगा?

इस सबध मे बिल्कुल सही सख्याओं का अनुमान लगा लेना तो असभव ही है, पर मोदी मथाई विज्ञप्ति मे इस प्रश्न पर बडी उदारता से विचार किया गया है, और उसका निष्कर्ष यह है कि पाकिस्तान, प्रात अथवा जिले पर बनाये जाने की स्थिति में, क्रमशः १४ अथवा ६ करोड रुपया इस काम के लिए बचा सकेगा, और यदि पाकिस्तान की सरकार ने इस दिशा मे बहुत ही अधिक प्रयत्न किया, और एक ओर शासन का खर्चा कम करके व सर्वसाधारण के लाभ की समस्त योजनाओ को बन्द करके और दूसरी ओर सपत्ति और व्यापार आदि पर टैक्स बढाकर कुछ और रुपया निकालना चाहा तो वह एक तो जनता की तकलीफों को बढा देगा, और उनमें विक्षोभ व नाराजगी की भावनाओं को जन्म देगा और दूसरे, इतना कम होगा कि उससे स्थिति के सुधरने की विशेष आशा नहीं होगी। यहा हम यह न भूलें कि मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इन संख्याओं पर अधिक-से-अधिक उदारता से विचार किया गया है। प्रो० कूपलैण्ड के अनुसार पाकिस्तान साधारणत: ३ करोड़ से अधिक रुपया अपने रक्षा-विभाग के लिए नहीं बचा सकेगा, और अन्य उपायो द्वारा भी वह ५ करोड से अधिक रुपया इस काम के लिए नही जुटा पाएगा। ऐसी स्थिति मे सवाल उठता है कि पाकिस्तान करेगा क्या? यदि वह अपने सैनिक व्यय में कमी करता है तो वह खुले-आम विदेशी आक्रमण-कारियों को निमन्त्रण देता है। यदि इस सम्बन्ध में वह हिन्दुस्तान की सहायता पर निर्भर रहता है तो यह निश्चित है कि जिस सार्वभौम-सत्ता की कल्पना आज पाकिस्तान के समर्थकों के मन में है वह स्वप्न-मात्र रह जायगी, वैसी स्थिति मे बहुत-सी दूसरी बातों के लिए भी पाकिस्तान का हिन्दुस्तान पर निर्भर रहना अनिवार्य हो जाएगा और यदि, पाकिस्तान इग्लैण्ड अथवा अन्य किसी बाहरी देश पर इसके लिए निर्भर रहा तो उसका भाग्य, अथवा दुर्भाग्य, रह जायगा सदियों तक उस विदेशी राष्ट्र की गुलामी का

तौक अपने गले मे डाल कर उसके इशारे पर नाचना। सच तो यह है कि आज स्थिति यह है कि यदि आज़ादी की कल्पना की जा सकती है तो राष्ट्रीय एकता के आधार पर ही, इस एकता के छिन्न-भिन्न होने का अर्थ होगा आज़ादी के सपनों को धूल में बिखेर देना।

आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से

यदि हम वस्तु-स्थिति की गहराई मे प्रवेश करे तो यह स्पष्ट देख सकेंगे कि आज तो राष्ट्रीय बचाव का अर्थ होगया है, देश का औद्योगीकरण। वही देश आज अपने बचाव की आशा कर सकता है जिसके पास आर्थिक उन्नति के अपरिमित साधन हो, और जो उन साधनो का समुचित विकास करने की स्थिति मे हो। इस दृष्टि से यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को देखे तो इस युद्ध मे मित्र-राष्ट्रो की विजय का श्रेय जिन दो बड़े राष्ट्रो को दिया जा सकता है, वे हैं अमरीका और रूस, और दोनों ही ऊपर दी गई शर्त्त को पूरा करते हैं, दोनो के पास अपरिमित साधन है, और दोनों ने उनका अधिक-से-अधिक विकास किया है। जिन देशो की अर्थनीति नितात स्वावलबिनी नही थी—जर्मनी, इटली, जापान आदि—वे सब हारे। स्वय इग्लैण्ड की स्थिति भी डांवाडोल है। प्रो० लॉस्की ने अभी उस दिन कहा था कि अब वह स्वेडन के समान, एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया है। यदि वह अमरीका या रूस दोनां मे से किसी एक पर निर्भर—आश्रित नही रहना चाहता तो उसके लिए केवल यही एक मार्ग रह गया है कि वह पश्चिमी-यूरोप के देशों को राजनैतिक व आर्थिक दोनो दृष्टियों से सघ-बद्ध बनाने का प्रयत्न करे। उन छोटे देशों के लिए तो आज की दुनिया मे कोई स्थान रह ही नही गया है, जो अपने सीमित साधनों से अपना बचाव करना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जानकारो का विश्वास है कि संसार मे अमरीका और रूस को छोडकर केवल दो अन्य देश हैं जो बिना किसी बाह्य-शक्ति पर निर्भर रहते हुए, आर्थिक दृष्टि से संपूर्ण-स्वावलबी हो सकते है, और जिनमे ससार की महान् शक्ति बनने की क्षमता है—वे हैं चीन और हिंदुस्तान।

हिंदुस्तान दुनिया की आने वाली राजनीति मे एक शानदार स्थान प्राप्त कर सकता है—बशर्त्ते कि वह आज की अपनी भौगोलिक एकता को कायम रख सके। हिंदुस्तान यदि इस आदर्श को प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनो आर्थिक उन्नति के समस्त साधनो का विकास करे। परन्तु देश के टुकड़ो मे बंट जाने के बाद यह आर्थिक विकास असमभव हो जायगा। आर्थिक विकास की दृष्टि से भी आज उन विस्तृत भू-खण्डों का, जो

भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे के समीप हों, मिल-जुल कर काम करना आवश्यक होगया है। किसी भी दृष्टि से हम इस प्रश्न का विचार करें, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, अपनी भौगोलिक एकता को क़ायम रखते हुए, आज हिंदुस्तान के सामने विकास का एक अभूतपूर्व अवसर है। किसी भी उद्देश्य से सही, अंग्रेजी शासन ने पिछले डेढ-सौ वर्षों मे समस्त देश को एक शासन-सूत्र में पिरो दिया है। देश भर मे एक ही मुद्रा का प्रचार है, रिजर्व-बैंक का आधार लेकर बैंकों को एक-दूसरे से गूथ देने वाला एक जाल-सा फैला है, देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली हुई हजारो मील लम्बी सड़कें हैं, ट्रेनो के आने-जाने की व्यवस्था है, और सभी महत्त्व के स्थानों पर हवाई जहाज़ो के अड्डे हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे पास एक ओर कृषि के लिए काफी जमीन है और दूसरी ओर सभी आवश्यक खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में है। सक्षेप में, हमारे पास वे सभी साधन मौजूद हैं जो एक बड़े राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। केवल एक चीज है, जो हमारे आज के विपण्ण जीवन और भविष्य की महानता के मार्ग मे व्यवधान बनकर खडी है—वह है हमारी गुलामी। गुलामी की इन जजीरों के टूटते ही—और अब इनके दिन इने-गिने ही रह गए है—हम अतर्राष्ट्रीय जगत मे अपना उचित स्थान पा सकेंगे।

पर यह तभी सम्भव है जब हिंदुस्तान की राजनैतिक एकता क़ायम रखी जा सके। हिंदुस्तान के दो कृत्रिम और अप्राकृतिक भागो मे बटते ही आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्त योजनाए, और राजनैतिक महानता के समस्त स्वप्न, अपने आप ही खत्म हो जायगे। जलवायु, जमीन और खनिज पदार्थों के बटवारे की जो विभिन्नता एक ऐसे बड़े देश में, जहा आयात-निर्यात की गति मुक्त और निर्बाध है, शक्ति का आधार बन जाती है, वही छोटे-छोटे टुकड़ों के आर्थिक विकास मे एक बड़ी बाधा बन कर आ खड़ी होगी। इस सबध मे हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि देश के इस बटवारे में आर्थिक दृष्टि से अधिक हानि पाकिस्तान के प्रातो की होगी। उसके दोनो भागो—उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान व उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान—के बीच में ७०० मील लम्बी जमीन एक विदेशी सरकार के आधिपत्य में होगी—ऐसी स्थिति में उसके लिए आर्थिक विकास की एक सयुक्त-समन्वित योजना बना पाना भी सभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कोयले, लोहे, मगानीज व अन्य खनिज पदार्थों की उसकी कमी औद्योगिक विकास में बाधक तो होगी ही—चाहे वह महगे दामो पर इन चीजो को दूसरे देशों से खरीद कर अपने उद्योग-धन्धों के विकास का प्रयत्न करे। यदि पाकिस्तान के पास आर्थिक साधन अधिक नहीं हैं, और जो हैं, उनका भी वह समु

चित विकास नहीं कर पाता, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका भविष्य बहुत आशाप्रद नहीं होगा। ससार का कोई भी सशक्त राष्ट्र उसे अपने पैरो तले रौद सकेगा, और उसकी दशा एक शतरज के मोहरे जैसी होगी, जिसे कुशल खिलाड़ी, अपनी शक्ति बढाने की दृष्टि से, जहाँ चाहे वहाँ रख देता है।

अन्य विरोधी तत्त्व : अंग्रेजी सरकार

इन भौगोलिक और आर्थिक कठिनाइयो के साथ हम उन शक्तिशाली राजनैतिक तत्त्वो को भी नही भूल सकते जिनका विरोध पाकिस्तान की समस्त कल्पना को क्रियात्मक रूप लेने से वैसे ही रोक सकता है—जैसे एक मजबूत बाँध एक छोटी-सी नदी के प्रवाह को। इन राजनैतिक तत्त्वो मे हम सबसे पहिले अग्रेजी सरकार को ही लें। यह सच है कि वर्त्तमान महायुद्ध के प्रारभिक वर्षों में, जब मित्र-राष्ट्रो की परिस्थिति डावाडोल थी, भारत की अग्रेजी सरकार ने मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माँग का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन किया, पर उसके लिए तो कुछ विशेष परिस्थितिया जिम्मेदार थीं। उन परिस्थितियो के बदलते ही अग्रेजी सरकार का दृष्टिकोण भी बदला—और तब से प्रमुख अंग्रेज अधिकारी देश की एकता की आवश्यकता पर जोर देने लगे हैं। सच तो यह है कि अग्रेज इस प्रश्न पर अपने स्वार्थों और हितो की दृष्टि से ही अपनी नीति निर्धारित करेंगे। वे न तो काग्रेस के कहने भर से हिन्दुस्तान छोड कर चले जायगे और न मुस्लिम-लीग के इस सुझाव पर ही कि पहिले हिन्दुस्तान को दो हिस्सो मे बाँट दे और तब चले जायं, अमल करेंगे। उनका बस चलेगा तो वे हिन्दुस्तान मे आपसी मतभेदो को कायम रखेंगे, और यहाँ जमे रहेंगे।

अंग्रेजो को यदि हिन्दुस्तान से जाना ही हुआ तो वे उसे दो ऐसे भागो मे बाँट देने के बदले, जिनके सशक्त बन जाने की सम्भावना होगी, कई छोटे-छोटे भागो मे बाँट देना अधिक अच्छा समझेंगे। इस सबध मे प्रो० कूपलैण्ड आदि कई अग्रेजो की योजनाए हमारे सामने हैं ही, परन्तु, यदि यह मान लिया जाय कि अभी कुछ अर्से तक, हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने पर भी, इंग्लैण्ड एशिया मे अपने आर्थिक स्वार्थों को कायम रखने की चेष्टा करेगा, तो यह अधिक संभाव्य दिखाई देता है कि वह हिन्दुस्तान की शासन-सम्बन्धी एकता के कायम रखने पर जोर देगा। यहाँ हमे यह न भूल जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से आज राजनैतिक गुरुत्व-शक्ति का केन्द्र अटलाटिक से हट कर प्रशान्त-महासागर में आ गया है। इस दृष्टि से समस्त एशिया की राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रो मे अपने हितों की रक्षा की दृष्टि से इग्लैण्ड के लिए यह अनिवार्य होगा कि वह एक सयुक्त-भारत के विकास में सहायक हो।

भारतीय राष्ट्रीयता की सहानुभूति प्राप्त करके ही वह एशिया में अपनी स्थिति कायम रख सकता है। फिर भी इग्लैण्ड के लिए तो यही कहना ठीक है कि वह इस संबंध में अपना दृष्टिकोण, परिस्थितियो के अनुसार, अपने स्वार्थों और हितो को प्रमुखता देते हुए ही बनायेगा। जहाँ तक आज की स्थिति है, यह निश्चय जान पडता है कि अंग्रेजी सरकार पाकिस्तान-सबधी किसी ऐसी योजना का समर्थन नहीं करेगी जिसमें उसकी एक स्वतन्त्र, सार्वभौम सत्ताका निर्माण होता हो।

कट्टर हिन्दू दृष्टिकोण

'अखण्ड हिन्दुस्तान' के नारे के साथ कट्टर हिन्दुओं द्वारा पाकिस्तान का जो विरोध किया जाता है, उसका आधार तर्क से अधिक भावना मे है। तर्क की दृष्टि से यदि उसे तौला जाय तो वह पाकिस्तान के समर्थन मे एक बडी दलील का रूप ले लेगा। उसका आधार इस भावना में है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है, और मुसलमान इस देश में एक विदेशी तत्त्व के रूप मे हैं। वे यदि हिन्दुओं के संरक्षण में, उनकी दया के पात्र बन कर, रहना चाहें तो रह सकते है, अन्यथा जहाँ जाना चाहे, जा सकते हैं। कभी-कभी तो उनकी तुलना यहूदियों से की जाती है, और उनके लाभ के लिए, यहूदियो के प्रति नात्सी-सरकार का जो व्यवहार रहा, उसकी ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है। काग्रेस के भीतर भी एक दल ऐसा है जो एक सस्कृत-प्रधान भाषा को मुसल्मानों पर लादने के पक्ष में है, और जो यह मानता है कि 'वन्देमातरम्' व राष्ट्रीय झडे के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए उन्हे बाध्य किया जाना चाहिए। पर, हिन्दू महासभा तो इस सम्बन्ध मे नीति और मर्यादा और राज-नीति की सभी सीमाओं को लाघ चुकी है। वीर सावरकर के 'वीरतापूर्ण' शब्दों में, "जब हम बदला लेने की स्थिति में होंगे, और बदला लेंगे, तो एक दिन में मुसल्मानों के होश ठिकाने आ जायगे—तब उन्हें पता लगेगा कि हिन्दुओं पर जुल्म करने की कोशिश का नतीजा क्या होता है और उससे मुसल्मानों को कितना बडा नुकसान पहुँचने की सभावना है—तब वे भले आदमियों का-सा बर्त्ताव करना सीखेंगे।"[1]

यह मनोवृत्ति है जिसने पाकिस्तान की कल्पना को जन्म दिया। यदि हिन्दुओं का विश्वास है कि मुसल्मान इस देश में एक विदेशी तत्त्व हैं, और उन्हें उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखना चाहिए, तो मुसल्मानो के मन मे यह भावना उठना स्वाभाविक है कि उन्हे अपनी एक स्वतन्त्र शासन-सत्ता की स्थापना कर लेना चाहिए। वैसी शासन-सत्ता वे इस देश के बाहर कहाँ खड़ी

१. दिसम्बर १९३८ में सभापति के पद से दिये गए भाषण का एक अंश।

कर सकते है ? वे भी हिन्दुस्तान की मिट्टी से बने हैं, और हिन्दुस्तान की जमीन के जर्रे-जर्रे पर उनका उतना ही हक है जितना हिन्दुओ का। यदि हिन्दू और मुसल्मान मिल-जुल कर एक दूसरे के साथ नही रह सकते तो हिन्दुस्तान का दो हिस्सों मे बटवारा कर दिया जाना उतना ही स्वाभाविक और न्यायसगत है जितना उन दो भाइयो का अपनी मौरूसी जायदाद को बॉट लेने के लिए आग्रह-शील होना, जो प्रेम से एक दूसरे के साथ नही रह सकते है। सच तो यह है कि हिन्दुओ का हिन्दुत्व के नाम पर देश के एकाधिपत्य का स्वप्न देखना ही दो राष्ट्रो की कल्पना को वल देता है, और मुसल्मानो के लिए एक स्वतन्त्र-देश के निर्माण की मॉग को अधिक तर्क-पूर्ण वना देता है। पर, तर्क से ही तो काम नही चलता। मैं यह जानता हूॅ कि कट्टर हिन्दू इस तर्क को मानने के लिए तैयार नही है, और भारतीय राष्ट्र की एकता के सम्बन्ध मे वे इतने सवेदन-शील और भाव-प्रवण है कि अपने समस्त वल को लगा कर भी वे पाकिस्तान का विरोध करेगे। इस विरोध के पीछे, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, तर्क का वल चाहे अधिक न हो, पर इतने वडे समुदाय का भावना-वल इतना अधिक होगा कि उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

गृह-युद्ध की सम्भावना ?

तव, होगा क्या ? यदि हिदू और मुसल्मान दोनो ही अपने आग्रहसे हटने के लिए तैयार नही हैं, तो क्यो न एक गृह-युद्ध के द्वारा इस प्रश्न को सुलझा लिया जाय ? यह हो सकता है कि उसके वाद हम या तो स्विजरलैण्ड और अमरीका के संयुक्त-राज्य के समान अपना एक सघ वना लें या दक्षिण अमरीका के समान अपने को कई देशो में वाटने का निश्चय कर लें। परन्तु यह मानते हुए भी कि देश में हिदुओ की सख्या अधिक है, कौन कह सकता है कि इस गृह-युद्ध का परिणाम क्या होगा ? वहुत सभव है कि यह परिणाम देश के विभिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रूप ले ले। यह भी सभव है कि जिन प्रांतो में आज मुसल्मानो का वहुमत है, वहा वह अपने बाहु-वल से अपना स्वतन्त्र-राज्य कायम कर सके—और तव उस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप उन प्रदेशो की स्वतन्त्र-सार्वभौम सत्ता मानने के लिए हमें विवश होना पडे जिन्हे जवरदस्ती भी अपने साथ रखने के लिए हम आज इतने उतावले हैं! परन्तु, और यह एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्या जब कि अंग्रेजी सरकार मौजूद है, वह हमें ऐसे गृह-युद्ध की सुविधा देने के लिए उद्यत हो जायगी ? यह हो सकता है कि, हमारी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के पोषण की दृष्टि से, वह देश मे यहां-वहा छोटे-मोटे दगे हो जाने दे, परन्तु वह हमारे लिए एक देश-व्यापी गृह-युद्ध का आयोजन तो कदापि

नहीं करेगी। इस प्रकार के गृह-युद्ध सगठित राजतन्त्रों की शिक्षित सेनाओ द्वारा लडे जाते हैं—वैसा होना ब्रिटिश-राज्य के रहते असम्भव है। सच तो यह है कि इस प्रकार की तैयारी की भनक भी यदि उसके कान मे पड गई तो वह उसे, जनता की रक्षा के नाम पर, अपनी सैन्य-शक्ति और देश पर अपने शिकजे को और अधिक मजबूत बना लेने के काम मे उपयोग करेगी।

राष्ट्रवादी मुस्लिम-संस्थाओं का मत

इस सम्बध में हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि सभी मुसल्मान पाकिस्तान की मांग का समर्थन नही कर रहे हैं—कुछ तो उसका तीव्र विरोध भी कर रहे हैं। यह कहना तो कठिन है कि देश की मुस्लिम आबादी का कितना भाग मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मागके पीछे है। मुस्लिम-लीग की सदस्यता की ठीक संख्याका अनुमान करना भी कठिन ही है। १६३६ मे तो प्रातीय धारा-सभाओ मे लीग की ओर से कुल १०८ सदस्य चुनेगए थे, जबकि अन्य मुस्लिम-सस्थाओं की ओरसे ३६६ सदस्य थे। यह सच है कि पिछले ८वर्षों मे मुस्लिम-लीगका बल बहुत बढ गया है, पर आज भी वह मुसल्मानों की अकेली प्रतिनिधि-सस्था तो कदापि नही है। अशिक्षित और राजनैतिक चेतना-धारा से कोसों दूर जो करोडों मुसल्मान इस देश मे हैं, उन्हे छोड भी दिया जाय, और केवल उन्हीं मुसल्मानो को लिया जाय जो राजनैतिक दृष्टि से जागृत और विचार-शील हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन सभी ने मुस्लिम लीग को अपनी एकनिष्ठ राजभक्ति दे रखी है, अथवा वे पाकिस्तान को हमारी साप्रदायिक और राजनैतिक समस्याओ का एक-मात्र राजमार्ग मानते हैं।

मुस्लिम-लीग के बाहर भी अनेकों मुस्लिम राजनैतिक सस्थाए है। खाकसार है, जमीयत-उल-उल्मा है, अहरार हैं, शिया राजनैतिक कान्फ्रेंस है, मोमिन हैं, काग्रेस-वादी मुसल्मान हैं और वे सहस्र-सहस्र मुसल्मान है, जो अपने को राष्ट्रवादी कहते हैं। इनमे से कोई भी पाकिस्तान के पक्ष मे नहीं है—और अधिकाश तो उसे एक ग़ैर-इस्लामी नारा मानते है। १६४० मे इस प्रकार की ६ मुस्लिम-सस्थाओ ने मिल कर एक अखिल-भारतीय आजाद-मुस्लिम बोर्ड की स्थापना की। मार्च १६४२ मे, इस बोर्ड ने अपनी एक बैठक में लीग के भारतीय मुसल्मानो के प्रतिनिधित्व के दावे को एक 'अविश्वसनीय धोखा' बताया, और हिंदुस्तान की एकता में अपना विश्वास प्रगट किया। अखिल भारतीय मोमिन-कान्फ्रेंस ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा घोषणा की कि "वह हिंदुस्तान की अविभाज्यता, एकता व सङ्गठन को भारतीय जनता के सामान्य लाभ की दृष्टि से, और विशेष-कर भारतीय मुसल्मानो के हित की दृष्टि से, अनिवार्य समझती है।"

परन्तु, हम यह न भूले कि लीग का लाख-विरोध करते हुए, व-पाकिस्तान की कल्पना को निराधार और मुस्लिम हितो को घातक मानते हुए भी, ये मुस्लिम राजनैतिक दल भारतीय मुसल्मानो के सच्चे हितो की बलि देने के लिए कभी भी तैयार नही होगे। मुस्लिम-लीग व इन सस्थाओ मे केवल यही अतर है कि जब मुस्लिम-लीग का दृष्टिकोण पहले साप्रदायिक है, और शायद बहुत दूर जाकर भी अधिक राष्ट्रीय नही रह गया है, राष्ट्रवादी-मुस्लिम-सस्थाए राष्ट्रीय हितों को प्राधान्य-देती हैं, पर मुस्लिम-हितो की रक्षा के सम्बन्ध मे भी तत्पर हैं। खुदाई-खिदमतगारो ने भी, जैसा कि सीमाप्रात की काग्रेस के उस समय के सभापति ने अपने एक वक्तव्य मे कहा था, राजाजी के मुसल्मानो को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के प्रस्ताव का "सपूर्ण-समर्थन" किया था। जमीयत-उल-उल्मा ने, १६४२ की एक बैठक मे, हिदुस्तान के लिए आजादी मागते हुए भी ऐसे वैधानिक सरक्षणो की माग पेश की जिनसे "मुसल्मानों के धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आत्मनिर्णय के अधिकारो की रक्षा" हो सके। आज़ाद मुस्लिम कान्फ्रेस, भारतीय स्वाधीनता के अन्तर्गत, अल्प-संख्यक वर्गों के लिए आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को आवश्यक मानती है।

समारोप

यह सच है कि पाकिस्तान की कल्पना को लेकर मुसल्मानो में एक सस्ती भाव-प्रवणता ने एक बडा लोकमत अपने पक्ष मे संग्रहीत कर लिया है। मुसल्मान आज आसानी से यह मानने के लिए तैयार नही है कि मुस्लिम-सस्कृति वास्तु-कला, चित्रकला, साहित्य और तत्त्वज्ञान, जीवन के सभी क्षेत्रो में, अपने विकास की चरम-सीमा पर हिन्दुस्तान मे, हिन्दू-सस्कृति के निकट-सपर्क में रहकर ही पहुँची, न वे इसी बात पर विश्वास करेंगे कि पाकिस्तान के क्रियात्मक रूप लेते ही मुस्लिम-संस्कृति, अपने जीवन-स्रोतो से उन्मूलित होकर, अपने स्वाभाविक विकास को खो बैठेगी, पर साथ ही हम यह न भूले कि पाकिस्तान की कल्पना यदि दिन के सपने से अधिक स्थापित्व नही रखती तो दूसरी ओर हम अपने देश के लिए ऐसे शासन-विधान की कल्पना भी नही कर सकते जिसमे अल्प-संख्यक जातियो, विशेषकर मुसल्मानो, के लिए, विशेष अधिकारो और सरक्षणो की व्यवस्था न की गई हो। जहा तक राजनैतिक आत्म-निर्णय का सम्बन्ध है, मुसल्मानो के सभी वर्ग उसके लिए आग्रहशील हैं, और प्रगतिशील हिन्दू भी उसका समर्थन कर रहे हैं।

यह माग संपूर्णतः न्यायसगत है भी। जब तक यह स्थापित नही हो जाता कि भारतीय-मुसल्मानों का एक अलग सुसंगठित समाज नही है, जिसकी देश

के अन्य समाजों से अपनी एक अलग स्थिति है, तबतक उन्हे राजनैतिक रूप से भी अलग एक इकाई मान कर चलना ही पडेगा। ६ करोड की आबादी वाले एक समाज से यह आशा नही की जा सकती कि वह सदा के लिए एक ऐसे बहुसख्यक वर्ग के प्राधान्य को स्वीकार कर लेगा, जिसका धर्म व सस्कृति उससे अलहदा हो। मुसल्मानों को एक अलग राष्ट्र माना जाय या नहीं—पर, उनके इस आग्रह में कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर इतनी कडवाहट का फैलना जरूरी हो। इतिहास के लबे युगो मे राष्ट्रीयताओं की सीमाओ में सदा ही परिवर्त्तन होता रहा है। परन्तु, यदि मुसल्मानों को एक अलग राष्ट्र न भी माना जाय तो भी, एक अलग समाज होने के नाते, उनके आत्म-निर्णय के अधिकार को तो मानना होगा ही, और उसे देश के भावी शासन-विधान में क्रियात्मक रूप देना होगा। मैं यह नहीं कहता कि बहुसख्यक वर्ग सदा ही अल्प-सख्यक वर्ग को कुचलने की चेष्टा करेगा, और न मैं यही मानता हूँ कि मुसल्मानो को आत्म-निर्णय का अधिकार देते ही साप्रदायिक वैमनस्य का अन्त हो जायगा, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसा करने से समाधान का मार्ग अधिक प्रशस्त और सुगम बन सकेगा।

: ९ :

पाकिस्तान : सैद्धांतिक विश्लेषण

मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माग का मुख्य आधार यह विश्वास है कि मुसल्मान एक अलहदा राष्ट्र है। इस विचार का यो तो एक लम्बा इतिहास है, पर इसके सम्बध मे अधिक चर्चा लीग के लाहौर-प्रस्ताव के बाद ही सुनाई देने लगी है। सच तो यह है कि लीग की पाकिस्तान की माग पहले हमारे सामने आई, और उसके समर्थन में, मुसल्मानो का एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा, उसके बाद से ही दोहराया जाने लगा है। बार-बार के दोहराए जाने से उसमें कुछ बल भी आ गया है। इस दावे को सबसे अधिक स्पष्ट शब्दो मे, सितम्बर १९४४ की अपनी बातचीत में, मि० जिन्ना ने गांधी जी के सामने रखा। उन्होंने कहा, "हमारा यह दृढ विश्वास है कि राष्ट्रीयता का निर्धारण करने वाली किसी भी कसौटी पर जाच करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुसल्मान और हिंदू दो भिन्न-राष्ट्र हैं। हमारा १० करोड की सख्या का एक अलहदा राष्ट्र है, और हमारी अपनी अलग सस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला और वास्तु-कौशल, नाम और उपनाम, जीवन के मूल्यो के संबध मे धारणाए व विश्वास; कानून और नैतिक बंधन, रिवाज और रहन-सहन, इतिहास और परम्पराएं, दृष्टिकोण और आकाक्षाए, हैं।..सक्षेप मे, जीवन का, और जीवन के सबध में, हमारा अपना एक दृष्टिकोण है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से भी हम एक अलहदा राष्ट्र है।"

दो राष्ट्रों का सिद्धांत

मि० जिन्ना के मुसल्मानो के एक अलहदा राष्ट्र होने के दावे को, लीग के बाहर के, सभी मुस्लिम राजनैतिक दलो व नेताओ ने अमान्य ठहराया है। आजाद बोर्ड, अखिल भारतीय मोमिन कान्फ्रेंस आदि ने उसके विरोध मे प्रस्ताव पास किये है। मौलाना आजाद ने तो यह घोषणा की थी कि पाकिस्तान की कल्पना ही इस्लाम-धर्म के विरुद्ध जाती है। परन्तु, गाधी जी ने इस सिद्धात की जैसी तीव्र आलोचना की है, वैसी शायद किसी ने भी नहीं की। उनका कहना है कि यदि हिदुओ और मुसल्मानो मे कोई अन्तर है तो वह उनके धार्मिक विश्वास का अन्तर है। उन्होंने जिन्ना साहिब की दलीलो का उत्तर देते हुए लिखा, "मैं तो इतिहास मे कोई ऐसा उदाहरण नही देखता जब कि किसी देश के

रहने वाले व्यक्तियों और उनकी सन्तान ने, केवल धर्म-परिवर्तन के आधार पर, अपने को अपने परम्परागत राष्ट्र से अलग एक राष्ट्र माना हो। आप यह नहीं कहते कि आपने हिंदुस्तान को जीता, इसलिए आप एक अलहदा राष्ट्र हैं। आप तो अपने को एक अलहदा राष्ट्र इसलिए मानते हैं कि आपने अपना धर्म बदल लिया है। क्या आज हिंदुस्तान एक राष्ट्र बन जायगा यदि हम सब लोग इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर ले? क्या बगाली, उडिया, आन्ध्रवासी, तामिल, मराठे, गुजराती आदि अपनी विशेषताओ को खो देंगे यदि वे मुसल्मान बन जायं?" गाधी जी के इस प्रश्न का आज भी उत्तर नही मिल सका है।

यदि धर्म की विभिन्नता के आधार पर मुसल्मानो को एक अलग राष्ट्र मान लिया जाय, तो उसी आधार पर फिर सिखो को भी एक अलग राष्ट्र क्यो न माना जाय? परन्तु, इसके लिए जिन्ना साहिब तैयार नहीं है—यद्यपि दक्षिण भारतीयों द्वारा द्रवडिस्तान के रूप मे अपना एक अलग राज्य स्थापित कर लेने मे उन्हें कोई आपत्ति नही है। १९४२ की अपनी पजाब-यात्रा मे उन्होने सिखो के सबध मे आत्म-निर्णय के अधिकार के उठाए जाने का बडा विरोध किया। उन्होने कहा कि मुसल्मान तो यह अधिकार इसलिए चाहते है कि "वह एक निश्चित भू-भाग में, जो उनकी मातृभूमि है और जहा उनका बहुमत है, एक राष्ट्रीय समष्टि के रूप में रह रहे हैं. . . परन्तु क्या कभी इतिहास मे यह भी सुना गया है कि एक ऐसा अर्द्ध-राष्ट्रीय (sub-national) वर्ग, जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में बंटा हुआ है, एक स्वतन्त्र-राज्य के निर्माण की माग करे?...मुस्लिम-समाज इस प्रकार का अर्द्ध-राष्ट्रीय वर्ग नहीं है। आत्म-निर्णय के अधिकार का उसका दावा उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।" यह दलील समझ में नहीं आती। यदि मुसल्मान हिंदुओ से अपनी विभिन्नताओं के आधार पर एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा करते है तो कोई कारण नहीं कि सिख, जो हिंदू और मुसल्मान दोनों से भिन्न हैं, अपने को एक अलहदा राष्ट्र न मानें।

राष्ट्रीयता के आधार-तत्त्व

परन्तु, यह राष्ट्रीयता है क्या वस्तु? कब कोई जाति अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानने का अधिकार प्राप्त कर लेती है? राष्ट्रीयता के जो आधार-तत्त्व माने जाते हैं यदि हम उनकी कसौटी पर मुस्लिम लीग के दावे को ले तो उसकी अयथार्थता बडी जल्दी स्पष्ट होने लगती है। जाति (race) की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दू और मुसल्मानों के बीच हम किसी प्रकार की विभाजन-रेखा नही खींच सकते—इस सम्बन्ध में हम एक पजाबी हिन्दू और पजाबी

मुसल्मान मे अधिक सादृश्य पाएंगे, एक पंजाबी हिन्दू और बंगाली मुसल्मान में बिल्कुल भी नहीं। जाति की दृष्टि से, बंगाली और आसामी में शायद हम तिब्बती अथवा मंगोल-रक्त का समावेश पा सके, और मद्रासी और मराठों मे द्रविड़ रक्त का, पर किसी भी प्रदेश के हिन्दू और मुसल्मानों मे इस दृष्टि से कोई भेद नहीं किया जा सकता। भाषा के दृष्टिकोण से भी यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के मुसल्मानों की कोई अलहदा भाषा नहीं है—पंजाब में वे पजाबी बोलते हैं, सिध में सिधी, पश्चिमी सयुक्त-प्रान्त में फारसी के शब्दो से भरी हुई हिन्दुस्तानी, उसीके पूर्वी-प्रदेशों मे उसी भाषा का सस्कृत-प्रधान रूप, बगाल में ठेठ संस्कृतमयी बगला। उर्दू उनकी अपनी भाषा नहीं है—उसके निर्माण मे हिन्दुओ का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है, और आज भी हिन्दुओ की एक बहुत बडी सख्या, विशेष कर पूर्वी पजाब व पश्चिमी युक्त-प्रान्त मे, उसे अपनी मातृभाषा मानती है। जहाँ तक सामान्य-हितों का प्रश्न है, एक मुस्लिम जमींदार और मुस्लिम-किसान में हितो और स्वार्थों का वैषम्य एक मुसल्मान किसान और हिन्दू-किसान के मुकाबिले मे कहीं अधिक है। भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से हम यदि इस प्रश्न पर विचार करें, तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि हिन्दुस्तान मे कहीं भी ऐसी नदियां या पर्वत-श्रेणिया नहीं है, जो हिन्दू-इलाको और मुसल्मान इलाकोंको एक दूसरेसे अलहदा करती हो। देशके हर कोनेमे हिंदू और मुसल्मान एक ही जमीन पर,एक ही सूरजके नीचे,साथ-साथ रहते हैं। केवल धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो हिन्दुओ और मुसल्मानो मे सामान्य नहीं है।

मैं जानता हूँ कि जाति, भाषा, सामान्य-हित अथवा भौगोलिक स्थिति से ही राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं हो जाता। उसके मूल में इनसे भी गहरी भावनाए हैं। जैसा कि रेनान ने लिखा है, "राष्ट्रीयता तो देश की आत्मा को कहते हैं। वह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। दो वस्तुएं, जो गहराई मे जाकर एक हो जाती हैं, इस आत्मा अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्त का सृजन करती हैं। इनमे से एक का सम्बन्ध भूतकाल से है, दूसरी का वर्त्तमान से। एक का जन्म प्राचीन सामान्य-संस्कृति और स्मृतियो में सामान्य गौरव की अनुभूति से होता है, दूसरी का विकास होता है दैनिक जीवन के वास्तविक समझौते मे, साथ रहने की इच्छा मे, और मिल-जुल कर एक वैभवशाली भविष्य के निर्माण की सामान्य-आकाक्षाओ मे।"[1] इस दृष्टि से भी यदि हम हिन्दू और मुसल्मानों के आपसी सम्बन्धो को देखें तो हमें यह ज्ञात हो सकेगा कि इन दोनो जातियों ने मिलकर एक राष्ट्र, भारतीय राष्ट्र, का निर्माण किया है। वे लगभग एक

१. रेनान : What is a Nation ?

हजार वर्ष तक मिल-जुल कर एक साथ रहे हैं, और, सामान्य कला और साहित्य, और सामान्य दर्शन-शास्त्र का निर्माण किया है। वे कंधे से कंधा भिड़ा कर युद्धों में सामान्य-शत्रुओं के साथ जूझे हैं, और रण-क्षेत्रों में उनका रक्त साथ-साथ बहा है। सच तो यह है कि आज का भारतीय-समाज, आज की भारतीय संस्कृति और सभ्यता, आज के भारतीय भाषा और साहित्य, कला और वास्तु-कौशल, इतिहास और परम्पराएं, कानून और नीति, सभी कुछ हिन्दू और मुसलमानों की सामान्य-सृष्टि हैं।

मैं यह मानता हूँ कि इन दोनों जातियों की 'साथ रहने की स्पर्धा' आज उतनी तीव्र नहीं रह गई है। राजनैतिक मत-भेदों के साथ सांस्कृतिक विभिन्नताएं भी अपने विषैले फनों को ऊपर उठा रही हैं। सर सैयद अहमद ने मुसल्मानों के लिए एक अलग पोशाक की कल्पना की। पिछली अर्द्ध-शताब्दी मे अलीगढ, लाहौर, हैदराबाद आदि नगरो मे एक नई भाषा का विकास हो रहा है, जो फारसी और अरबी शब्दो से भरी हुई है। बंगाल में भी मुसल्मान 'जल' के स्थान पर 'पानी' शब्द का प्रयोग अधिक पसंद करने लगे हैं (यद्यपि वे भूल जाते हैं कि पानी का सम्बन्ध भी संस्कृत के 'पाणीय' शब्द से है)। पाकिस्तान की मांग जोरों पर है। मुसल्मान प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के जीवन में अधिक दिलचस्पी लेते हैं, आदिलशाह या अकबर के जीवन में कम। परन्तु, यह प्रवृत्ति, जैसा कि पहिले देखा जा चुका है, एक विशेष विचार-धारा का, जो प्राचीन के पुनरुत्थान के साथ सम्बद्ध थी, परिणाम थी, और कुछ बाह्य-परिस्थितियों, और एक विदेशी शासन की मौजूदगी, ने उन्हें प्रोत्साहन दिया। परन्तु, प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की सख्त, मैली मिट्टी को फोड़ कर, सशक्त प्रगतिशील तत्त्व अपने स्वस्थ अंकुरों को लेकर बाहर निकल आये हैं, और इनका विकास अनिवार्य दिखाई दे रहा है। भविष्य इन शक्तियों के हाथ में है। एक नये भारतीय राष्ट्र का निर्माण हो रहा है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं भविष्य के इन सोनहले स्वप्नों में मुसल्मानों की आज की मांग को खत्म कर देना चाहता हूँ। मैं तो रेनान के इस कथन में विश्वास करता हूँ कि "राष्ट्र की स्थिति तो उसकी दैनिक स्वीकृति का प्रश्न है, उसी प्रकार जैसे व्यक्ति अविरत रूप से प्रतिक्षण अपने जीवित रहने का प्रमाण देता रहता है।" यदि मुसल्मान आज की विशेष परिस्थितियों में अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानने पर कटिबद्ध हैं, तो मैं इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का दुराग्रह रखने के पक्ष में नहीं हूँ। मैं मानता हूँ कि उनके इस आग्रह को हमें मान्यता देनी चाहिए।

'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' का सिद्धांत

परन्तु, यहा एक और, इससे भी कठिन, प्रश्न हमारे सामने आकर उपस्थित होता है। यदि हम मान भी ले कि मुसलमान एक अलहदा राष्ट्र हैं, तो क्या इसका अर्थ यह होजाता है कि उन्हें एक अलहदा राज्य कायम करने का अधिकार भी मिल जाना चाहिए ? प्रत्येक राष्ट्र को अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने का अधिकार है, इस सिद्धात का जन्म फ्रास की राज्य-क्राति के दिनो में हुआ। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विचारक जे० एस० मिल ने ज़ोरदार शब्दो में उसका समर्थन किया। उनका विश्वास था कि "यदि किसी समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल है तो उस समाज का यह अधिकार भी हो जाता है कि वह अपने सब सदस्यो को एक सामान्य-शासन के अन्तर्गत सगठित कर सके, और वह शासन स्वतंत्र और सार्वभौम हो।"[1] १९१९ की सधि-चर्चा के दिनो मे यह सिद्धात अपनी लोकप्रियता के उच्चतम शिखर तक जा पहुचा। प्रेजीडैंट विल्सन ने उसका विशेष रूप से समर्थन किया। उन्होने लिखा, "आत्म-निर्णय केवल एक आकर्षक मुहाविरा नही है। वह तो क्रियात्मक राजनीति का एक अनिवार्य सिद्धात है, जिसकी राजनीतिज्ञ उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करना चाहेगे तो उन्हे बडे ख़तरे का सामना करना पड़ेगा।" १९१९ के राजनीतिज्ञो ने उसकी उपेक्षा नहीं की। परन्तु उन्हे उससे भी बडे खतरे का सामना करना पडा, जिसका प्रेजीडैंट विल्सन को भय था। इस सिद्धांत को अमली रूप देने का अर्थ यह हुआ कि यूरोप को कई छोटे-छोटे देशों मे बांट दिया गया। जहा कोई भी ऐसा अल्पसख्यक वर्ग था, जो राष्ट्रत्व का दावा कर रहा था, वहीं उसके लिए एक स्वतंत्र-राज्य की स्थापना करनी पड़ी—और इस प्रकार लिथुआनिया, लाटविया, एस्टोनिया, जैकोस्लाविया, पौलैण्ड, आस्ट्रिया, हगरी, यूगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, ग्रीस आदि-आदि अनगिनत स्वतंत्र राज्यो की स्थापना हो गई। परन्तु, इससे न तो अल्पसख्यक वर्गों के स्वत्वों की समस्या सुलझ सकी, और न कोई अन्य समस्या ही। दो महायुद्धो के बीच का यूरोप का इतिहास उस सिद्धात के, धीमे पर निश्चित रूप से, नष्ट-भ्रष्ट होते रहने का इतिहास है जिसका अथक और अनवरत प्रचार अमरीका के प्रेजीडैंट ने किया था।

आज यह बात स्पष्ट होगई है कि १९१९ की सधि की असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसके नियन्ताओं ने 'राष्ट्र' और 'राज्य' के अन्तर को ठीक से नहीं समझा था। उनका समस्त चिन्तन उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक

१—जे० एस० मिल—Representative Government.

स्थिति की पृष्ठभूमि पर था—जब राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र एक मैत्री-सूत्र में बधे हुए थे। उस समय तक कोई यह नहीं कह जानता था कि इन दोनो सिद्धातो का आतरिक वैषम्य किसी दिन इतना बढ जायगा कि एक ओर तो राष्ट्रीयता प्रजातन्त्र की जडों को ही उखाड़ फेकने में तत्पर हो जायगी—जैसा मध्य-यूरोप के देशों, जर्मनी इटली आदि, में हुआ—और दूसरी ओर प्रजातन्त्र की भावना राष्ट्रीयता के खोल को फाड कर फेंक देगी—जैसा रूस मे हुआ। आज हम इस बात को स्पष्ट रूप से समझ गए है कि राष्ट्रीयता और सच्चा प्रजातन्त्र परस्पर-विरोधी वस्तुए हैं। यदि हम राष्ट्रीयता को प्राधान्य देते हैं तो उसमें भय है कि देश का पूजीवादी वर्ग उस भावना का उपयोग श्रमिक वर्ग को चूसने में करेगा—और उसके परिणाम-स्वरूप या तो फ़ासिज़्मकी स्थापना होगी या इग्लैएड और अमरीका के ढग के अर्द्ध-फासिज्म, पूजीवादी-प्रजातन्त्र, की। दूसरी ओर, यदि हम इस बात का प्रयत्न करें कि प्रत्येक व्यक्ति को न सिर्फ वोट देने के सम्बन्ध में बराबरी का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु भोजन और वस्त्र की सुविधा भी सब लोगों को बराबर मिल सके, तो हमें उसके लिए आज की राजनैतिक सीमा-रेखाए बदलना पडेगी, और राष्ट्रीयता के प्रश्न को एक गौण रूप देना होगा। हमें राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र इन दो में से एक को चुन लेना है, और यदि शीघ्र ही हमने यह चुनाव नहीं कर लिया तो वह खुले-हाथों विपत्ति को निमन्त्रण देना होगा। पश्चिम के देशो ने इस चुनाव में देर की, इसी कारण उन्हे वर्त्तमान महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

इस प्रश्न पर गभीरता से सोचने की जरूरत है। 'राष्ट्रीय' और 'आत्म-निर्णय' इन दो शब्दों में ही क्या विरोधाभास नहीं है? यदि किसी समाज को केवल इस आधार पर कि वह एक 'राष्ट्र' है अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य के निर्माण का अधिकार मिल जाता है, तो इसमें 'आत्म-निर्णय' के लिए स्थान कहा रहा? यदि उन सब लोगों का जो पोलिश-भाषा बोलते हैं, पोलैएड का नागरिक बन जाना अनिवार्य है, या वे सब लोग जो लिथुआनिया-भाषा का प्रयोग करते हैं, लिथुआनिया-राज्य के शहरी ही बन सकते हैं, अथवा वे सब व्यक्ति जो हिंदुस्तान में रहते है और इस्लाम में विश्वास रखते है, अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करने के अधिकारी हो जाते हैं, तो इसमें 'आत्म-निर्णय' का प्रश्न तो कहीं रहा ही नहीं। राष्ट्रीयता का निर्धारण करने के लिए धर्म तो एक बहुत ही मध्य-कालीन आधार है परन्तु यदि हम भाषा को भी लें ले, जो कि १६१६ के निर्णयों का आधार थी, तो भी यह नही कहा जा सकता कि वे सब व्यक्ति जो एक भाषा बोलते हैं, सदैव एक राज्य मे

रहना ही पसन्द करेगे। पहले महायुद्ध के बाद यूरोप मे कई स्थानो पर जनता की राय ली गई थी। उनमे से, एलेंस्टाइन मे, जहा ४६ प्रतिशत व्यक्ति पोलिश-भाषा का प्रयोग करते है, केवल दो प्रतिशत व्यक्तियो ने पोलैण्ड राज्य के अतर्गत रहना स्वीकार किया। मेरींवर्डर; उत्तरी साइलेशिया और क्लेगनफ़ुर्त मे भी भाषा-सामान्य और राजनैतिक आकाक्षाओं के बीच एक बड़ा अंतर दिखाई दिया।

'आत्म-निर्णय' का अर्थ यह नही है कि पूर्व-निर्धारित राष्ट्रो को अपने राजनैतिक भविष्य के निर्णय का अधिकार दे दिया जाय, परन्तु वह अधिकार तो देश अथवा समाज के व्यक्तियो, वयस्क पुरुषों व स्त्रियो, को दिया जाना चाहिये। उदाहरण के लिए, भारतीय मुसल्मानो के स्वत्वो और अधिकारो के संबंध मे यदि हमें किसी निर्णय पर पहुँचना है, तो कोई कारण दिखाई नही देता कि हम एक राष्ट्र के रूप मे, समष्टि की दृष्टि से, तो उन पर चर्चा कर ले, पर व्यक्तिगत रूप से भारतीय मुसल्मानो को इसमे क्या हानि-लाभ है उसके सवध में बिल्कुल भी न सोचें। यह तो कोई दूरदर्शिता की बात नही होगी कि हम भारतीय मुसल्मानो को, केवल धार्मिक और सास्कृतिक विभिन्नता के कारण, उनके उस सैनिक और आर्थिक परस्परावलम्बन की व्यापक आधार-भूमि से, जो देश की भौगोलिक एकता पर स्थापित है, उखाड़ कर उन्हें एक स्वतन्त्र राज्य के सुपुर्द कर दे। हमारे सामने प्रश्न यही नही है कि हम कुछ स्वय-निर्णीत नेताओ की बार-बार दोहराई जाने वाली माग पर ही ध्यान दें, हमें यह यह भी तो देखना है कि मुस्लिम-जनता क्या चाहती है, और उसका हित किसमें है। लीग के सैंकड़ों प्रस्तावों से इस बात का निर्णय नहीं होगा। उसके लिए तो मुस्लिम जन-मत की आवश्यकता है।

परन्तु, यदि आधुनिक प्रचार-साधनो के एक व्यापक सगठन के द्वारा भावनाओ की एक आंधी का सृजन किया जा सका, जिसके प्रभाव मे भारतीय मुसल्मानों ने देश के बँटवारे के पक्ष मे अपना मत दे दिया, तो क्या पाकिस्तान की स्थापना करना उचित होगा, यह जानते हुए भी कि उनकी माग स्वय उनके लिए अहितकर और आत्म-घातक है। प्रोफेसर कार के शब्दो में, "किसी भी राजनैतिक इकाई के आकार-विस्तार व शासन तन्त्र के निर्धारण मे आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है, परन्तु उसे ऐसा एकाकी अथवा सर्वोपरि सिद्धांत मान लेना कि उसके सामने अन्य सभी वैचारिक और आवश्यक-प्रश्नों को, अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भी, गौण मान लिया जाय, उचित नही होगा। आत्म-निर्णय का अधिकार भी उसी प्रकार

से एक सार्वभौम अधिकार नहीं माना जा सकता जैसे प्रजातन्त्र में यह नहीं माना जा सकता कि हर एक व्यक्ति को वह जैसा करना चाहे वैसा करने की इजाजत मिल सकेगी। आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर इंग्लैण्ड या जर्मनी के बीच में रहने वाला व्यक्तियों का कोई दल यह नहीं कह सकता कि उसे एक स्वतन्त्र, सार्वभौम राज्य की स्थापना का अधिकार मिल जाना चाहिए। इसी प्रकार, वेल्स, कैटेलोनिया अथवा उजबकिस्तान के लोगों के लिए, केवल इस आधार पर कि इन प्रदेशों की जनता का बहुमत यह चाहता है, एक स्वतन्त्र-राज्य की स्थापना का दावा माना नहीं जा सकता. आत्म-निर्णय के अधिकार को क्रियात्मक रूप देने के उनके इस दावे पर इंग्लैण्ड, स्पेन और सोवियट रूस के हितों को दृष्टि में रखते हुए ही विचार किया जा सकता है।"[1] भारतीय परिस्थितियों में यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें पहिले तो यह देखना होगा कि मुस्लिम-बहुमत वाले प्रान्तों का एक स्वतन्त्र-राज्य बना देना उन प्रांतों की मुस्लिम और गैर-मुस्लिम जनता के लिए कहाँ तक हितकर होगा, और तब यह देखना होगा कि वह समस्त देश के हितों की दृष्टि से कहाँ तक आवश्यक है।

'आत्म-निर्णय' : रक्षा-संबंधी समस्याएं

आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर पहिला आघात प्रथम महा-युद्ध के दिनों में हुआ, दो युद्धों के बीच के वर्षों में उस पर एक बड़ी चोट लगी, और वर्त्तमान महायुद्ध में तो वह चकनाचूर हो चुका है। इसका प्रमुख कारण यह था कि इन वर्षों मे युद्ध की पद्धति में आमूल-परिवर्त्तन होते रहे हैं। १९१४ के पहिले एक छोटे राष्ट्र के लिए एक बड़े युद्ध में भी अपनी तटस्थता की रक्षा करना कठिन नहीं था। परन्तु, जब बेल्जियम और यूनान, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, प्रथम-महायुद्ध की लपटों में घसीट लिये गए, और अन्य कई राष्ट्रों को भी अपनी तटस्थता की सीमा-रेखाओं को लाघने पर विवश हो जाना पड़ा, तो यह सिद्धान्त सचमुच एक भयावह स्थिति में पड़ गया। १९१९ की सन्धि का परिणाम यह हुआ—क्योंकि उसका आधार उन्नीसवीं शताब्दी की चिन्तन-धारा में था—कि यूरोप में कई छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना हो गई। इसने समस्या को कुछ अधिक जटिल बना दिया। परन्तु, तब भी आशा यह थी कि सयुक्त-रक्षा (Collective Security) के उपायों द्वारा, जिन्हें राष्ट्र-संघ (League of Nations) में क्रियात्मक रूप देने का प्रस्ताव था, यह समस्या सुलझाई जा सकेगी। परन्तु, कुछ आन्तरिक वैषम्यों के कारण राष्ट्र-

१—ई.एच. कार—Conditions of Peace, पृ० ४७-४८।

सघ इस दिशा मे कुछ भी कर सकने मे असमर्थ रहा। इसी बीच कुछ बड़े देश अपने विस्तृत साधनो का उपयोग अपने सैनिक बल को बढाने में कर रहे थे। छोटी शक्तियां और भी छोटी और अशक्त बनती जा रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४० में जब जर्मनी की सगठित सेनाओं ने अस्त्र सभाल लिये तो किसी भी छोटे देश के लिए अपनी तटस्थता की रक्षा करना असम्भव हो गया। नॉर्वे, हॉलैण्ड, बेल्जियम, एक के बाद एक, धराशायी होने लगे। राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त का खोखलापन कभी इतना स्पष्ट नहीं हुआ था जितना १९४० के ग्रीष्म मे। आज तो किसी भी छोटे राज्य के लिए किसी बडे राज्य का मुकाबिला करना असम्भव हो गया है, जब तक वह अपनी सैनिक स्वतन्त्रता किसी अन्य बडे राज्य के सुपुर्द न कर दे। आज परस्परावलम्बन के द्वारा ही कोई देश अपने बचाव की आशा कर सकता है।

वस्तु-स्थिति की हम उपेक्षा नही कर सकते। हिन्दुस्तान को यदि दो भागो मे बाँट दिया जाय तो वह रूस, चीन, जापान या किसी भी अन्य प्रथम-श्रेणी के देश के आक्रमण का मुकाबिला कदापि नहीं कर सकेगा। रक्षा-व्यय की दृष्टि से बँटवारे के आर्थिक पक्ष पर हम विचार कर चुके हैं। अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान को हिन्दुस्तान, या अन्य किसी देश, पर निर्भर रहना पडेगा, और इस दशा मे उसे अपनी सार्वभौमता के साथ समझौता करना पडेगा। बहुत सभव है कि किसी बाहरी आक्रमण की पहिली अफ़वाह के साथ ही पाकिस्तान की सरकार हिन्दुस्तान का आश्रय टटोले। यह भी सम्भव है कि, अपनी स्वतन्त्रता के सबध मे बहुत अधिक भावुक और सवेदन-शील होने के कारण वह ऐसा न भी करे—वैसी दशा मे उसे उसी स्थिति का सामना करना पड़ेगा जो जून १९४० मे फ्रास ने इग्लैण्ड के साथ मिल जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार करके अपने लिए उत्पन्न कर ली थी। वर्त्तमान महायुद्ध की समाप्ति के साथ सभी युद्धो की समाप्ति नहीं हो गई है। सच तो यह है कि दूसरा महायुद्ध निबटा भी नहीं था, तभी से तीसरे महायुद्ध की चर्चा सुनाई दे रही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सतुलन और समन्वय की अवस्था अभी दूर है। यह प्रयोग करने का समय नही है। राजनैतिक गुरुत्व का केन्द्र अटलांटिक से प्रशात में चले आने से अन्तर्राष्ट्रीय संबधों मे हमारे देश की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। आने वाले महायुद्धों में हमे अधिक क्रियात्मक भाग लेना होगा। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना स्थान बनाना चाहते हैं तो हमें अपने देश को अविभाज्य, और अपने सैन्य-बल को संगठित, रखने की आवश्यकता है।

'आत्म-निर्णय' : आर्थिक पक्ष

रक्षा-संबंधी समस्याओं पर विचार करना यदि आवश्यक है, तो आर्थिक प्रश्नों का विश्लेषण अनिवार्य ही माना जाना चाहिए। आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के इतना जटिल होने का मुख्य कारण यह है कि "एक ओर तो जन-साधारण छोटी-छोटी सांस्कृतिक इकाइयों की स्थापना करने के लिए व्यग्र हैं, और दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से बड़े-बड़े भूखंडों का समन्वित किया जाना अनिवार्य होता जा रहा है।" राजनैतिक अ-केन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक केन्द्रीकरण की भावना बढ़ती जा रही है। १९१९ की संधि ने यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों को राजनैतिक आत्म-निर्णय का अधिकार तो दे दिया था, परन्तु काम करने अथवा भूखों न मरने का अधिकार नहीं दिया—जब कि १९१९ के यूरोपियन राजनीतिज्ञों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न राजनैतिक अथवा सीमा निर्धारण संबंधी नहीं था, परन्तु आर्थिक था। जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्र-वेत्ता जे० एम० कीन्स ने लिखा, "संधि के समय भोजन, कोयले और यातायात के साधनों के आवश्यक प्रश्नों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया, और इसका परिणाम यह हुआ कि जिन छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लेने की सुविधा मिल गई थी उनकी आर्थिक समस्याएं बहुत अधिक भीषण हो गईं।"[1]

इस संबंध में हम प्रो० कार की चेतावनी की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है—"जैसे वोट देने का अधिकार कोई अर्थ नहीं रखता यदि उसके साथ-साथ काम करने और पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार न हो, इसी प्रकार राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार भी बहुत बड़े अंशों में अपना आकर्षण खो देता है, यदि वह आर्थिक क्षेत्र में कड़े प्रतिबन्धों की सृष्टि करने का कारण हो। राष्ट्रीय अधिकार व्यक्ति के अधिकारों के समान खोखले और अर्थ हीन माने जायगे, यदि वह आर्थिक विकास, या कम से कम आर्थिक निर्वाह, के लिए मार्ग तैयार नहीं करते, और सड़क पर काम करने वाले मजदूर और खेत में काम करने वाले किसान की समस्या को हल नहीं करते।"[2] न तो तर्क से और न कल्पना की बड़ी-से-बड़ी उड़ान से यह विश्वास किया जा सकता है कि पाकिस्तान के बन जाने से देश के, अथवा उसके किसी भाग-विशेष के, आर्थिक विकास में कोई सहायता मिलेगी। इस संबंध में यदि थोड़ा

१—जे. एम. कीन्स—The Economic Consequences of the Peace, पृ. १३४।

२—ई. एच कार—Conditions of Peace, पृ ६०।

भी विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान एक आत्म-घातक प्रयोग होगा। हमारे देश की भौगोलिक एकता एक ऐसा बड़ा तथ्य है, जिसकी उपेक्षा, सैनिक और आर्थिक दोनों में से किसी भी दृष्टि से, नहीं की जा सकती। भूगोल ने हमारे देश को संसार के दूसरे देशों से, ऊंची पर्वत श्रेणियों और गहरे समुद्रो द्वारा, अलहदा करके, और उसके आन्तरिक प्रदेशों मे किसी भी प्रकार का बड़ा व्यवधान उपस्थित न करके, सैनिक और आर्थिक दोनो दृष्टियो से उसे एक सम्पूर्ण और स्वावलम्बी इकाई का रूप दे दिया है। इस भौगोलिक एकता को आधार बना कर, विशेष कर शासन की सुविधा की दृष्टि से, हमारे शासको ने एक अधिक व्यापक एकता का विकास कर लिया है। सड़क और रेल, तार और डाक आदि से सारा देश एक सूत्र मे पिरो दिया गया है। इस प्रकार आर्थिक पुनर्निर्माण की बड़ी-से-बड़ी योजना के लिए भी एक व्यापक आधार की सृष्टि कर ली गई है। बड़ी-बड़ी योजनाएं, बम्बई-योजना और गाधीवादी योजनाएं, हमारे सामने आ भी रहीं हैं। परन्तु, आर्थिक पुनर्निर्माण की किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश की राजनैतिक एकता को कायम रखा जा सके। उसके बिना किसी भी योजना का स्थायित्व बालू पर खड़े किये गए प्रासाद से अधिक न होगा।

भारतवर्ष की भौगोलिक एकता

भौगोलिक दृष्टि से हिन्दुस्तान की तुलना प्रायः यूरोप से की जाती है। विस्तार में हमारा देश उतना बड़ा है जितना रूस को निकाल कर समस्त यूरोप। यह कहा जाता है कि यदि यूरोप कई विभिन्न राज्यों में बॉटा जा सकता है तो हिन्दुस्तान को दो भागो मे बॉटने के सबध मे हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु, हमारे देश की यूरोप से तुलना करना एक मिथ्यावाद को जन्म देना है। प्रकृति ने यूरोप को कई भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बाटा है—उसके लम्बे समुद्र-तट मे सशक्त लहरें मीलो तक घुसती चली गई हैं, एक देश और दूसरे देश के बीच में दुर्भेद्य पर्वत-श्रेणिया है, नदियों के प्रवाह ने भी यूरोप के इस भौगोलिक विभाजन मे सहायता पहुँचाई है। यूरोप मे जो आन्तरिक प्रादेशिक सीमा-रेखाएं हैं वे प्रायः जाति, भाषा और सास्कृतिक परम्पराओं की विभिन्नता को और भी स्पष्ट बना देती हैं। भारतवर्ष भौगोलिक दृष्टि से अविभाज्य है, और सास्कृतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसल्मानो के बीच यदि कोई विभाजन-रेखा है, तो वह धर्म है, और कहीं भी ऐसा नहीं हुआ है कि भौगोलिक प्रतिबन्धों ने विभिन्न धर्मावलम्बियों को विभिन्न प्रदेशों मे बॉट दिया हो।

यदि पाकिस्तान बन भी गया तो लगभग ढाई करोड मुसलमान उसकी सीमाओं के बाहर रह जायगे, और उससे भी बडी संख्या में हिन्दू, सिख और अन्य धर्मावलम्बी पाकिस्तान में शामिल कर लिये जायगे।

भारतवर्ष और यूरोप के बीच इस भौगोलिक अन्तर का प्रभाव उनके समस्त इतिहास पर पडा है। भारतवर्ष में सदा ही केन्द्रीकरण की भावना प्रबल रही है, जब कि यूरोप की प्रमुख प्रवृत्ति अकेन्द्रीकरण की ओर है। हमारे देश में, हल्के से प्रयत्न से, बडे-बडे साम्राज्यों की नींव पड़ सकी है—मौर्य, गुप्त, पठान, मुग़ल, मराठा, अंग्रेज, एक के बाद एक साम्राज्य की स्थापना होती रही है। यूरोप में, मध्य-कालीन पवित्र रोमन साम्राज्य के बाद से—जिसके सम्बन्ध में वोल्टेअर ने लिखा था कि वह न पवित्र था, न रोमन, और न साम्राज्य ही कहलाया जा सकता था—दो या तीन बडे राष्ट्रों में मैत्री के सबध कायम रखना भी कठिन हो गया है। यूरोप मे तब से सघर्ष-तत्पर अनेकों पाकिस्तानों का ही प्राधान्य है, सच तो यह है कि यूरोप का अनुकरण करने के बदले हम उससे नसीहत और चेतावनी ले सकते हैं। पिछले सौ वर्षों से तो यूरोप शान्ति नाम की वस्तु से सर्वथा अपरिचित रहा है। युद्धों के बीच का अवकाश-काल सदा ही आने वाले युद्धो के शाप से ग्रसित और आक्रान्त रहा है। इससे उसकी सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति को भी बडी ठेस पहुँची है, क्योकि जिस शक्ति का उपयोग इन क्षेत्रों मे किया जाना चाहिए था उसका अपव्यय सामरिक तैयारियों में हुआ है। यूरोप में युद्ध का दानव जिस प्रकार अपना नग्न-ताण्डव करता रहा है, और उसकी प्रेत-छाया में बुभुक्षा और महामारी करोडों व्यक्तियों को अपना ग्रास बनाते रहे हैं, उसकी पुनरावृत्ति यदि हम अपने देश में भी करना चाहते हैं तो हमें अवश्य पाकिस्तान की स्थापना कर लेना चाहिए।

विभाजन का मनोविज्ञान

यहाँ हम यह भी न भूलें कि यदि हमने अपने देश को दो भागों में बाँट दिया तो हम घटनाओं के एक ऐसे चक्र को गति प्रदान कर देंगे जो न जाने कब तक अबाध-क्रम से चलता रहेगा। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "प्रत्येक राजनैतिक प्रवृत्ति की अपनी एक गति होती है, जिसे एक बार क्रियात्मक रूप दे देने के बाद रोकना दुःसाध्य हो जाता है। विग्रह और विभाजन के सिद्धान्त को यदि एक बार गति मिली तो वह ग्रीक-ट्रैजिडी के समान एक हृदयहीन वेग से अधिक से-अधिक सशक्त बनता जायगा, और लीग और कांग्रेस का कोई भी समझौता उसकी इस गति को रोकने में सर्वथा असमर्थ

रहेगा।"[1] १९४० में, अपने पाकिस्तान के प्रस्ताव को पास करनेके बाद १९४१ में, मद्रास अधिवेशन में, लीग के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह दक्षिण-भारतीयों की द्रवडिस्तान की मॉग का भी समर्थन करे। सिखो की खालिस्तान की मांग का विरोध तो उसे, आत्म-रक्षा की दृष्टि से, करना था ही, इसलिए उसने सिखो को एक अर्द्ध-राष्ट्रीय समूह बताया। परन्तु, यदि मुसल्मान अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानते हैं, तो उनका सिखों के इसी प्रकार के विश्वास का विरोध बड़ा निर्बल रह जाता है। पाकिस्तान के क्रियात्मक रूप लेते ही खालिस्तान का आन्दोलन प्रबल हो जायगा, और यदि खालिस्तान बन जाता है, तो अकालिस्तान क्यो न बने—और कौन कह सकता है कि अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति कहॉ जाकर रुकेगी? इसकी प्रतिक्रिया एक ओर तो समाज के विभिन्न वर्गों पर, और दूसरी ओर हमारे देशी राज्यो पर होना भी स्वाभाविक है। जैसा प्रो० कूपलैण्ड ने लिखा था, "एक बार राष्ट्रीय अथवा अर्द्ध-राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के क्रियात्मक रूप ले लेने पर, क्या मराठे और राजपूत एक अखड-हिन्दुस्तान मे शामिल होने के लिए अपनी स्वीकृति दे देंगे, और क्या देशी नरेश, हैदराबाद के निज़ाम के नेतृत्व मे, स्वतन्त्रता के बॅटवारे में अपने अधिकार को खो देने के लिए उद्यत हो जायंगे?"[2]

मुस्लिम चिन्तन-धारा की प्रवृत्ति

भारतीय मुसल्मानो द्वारा पाकिस्तान की जो मॉग उठाई जा रही है, वह अन्य मुस्लिम-देशो की चिन्तन-धारा के बिल्कुल ही विरुद्ध जाती है। आज समस्त मुस्लिम देश अपने इस विश्वास को कि धर्म को राजनैतिक संगठन का आधार माना जाय, छोड़ रहे हैं। समस्त मुस्लिम देशों को एक-सूत्र मे सगठित कर लेने का 'पैन-इस्लामिज्म' का आन्दोलन आज भारतीय मुस्लिम-समाज के अलावा अन्य सभी मुसल्मानों द्वारा दफना दिया गया है। आज तो सभी मुस्लिम-देशो में, अल्जीरिया और मोरक्को से अफ़गानिस्तान और इराक तक, राष्ट्रीयता की आराधना की जा रही है। आज धर्मान्धता के लिए किसी भी मुस्लिम देश मे कोई स्थान नही रह गया है। पहिले महायुद्ध के बाद, ख़िलाफ़त के अत और कमाल पाशा द्वारा टर्की के शुद्ध राजनैतिक आधार पर पुनर्निर्माण से इस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ, और आज मिश्र, ईरान, इराक, सीरिया आदि सभी मुस्लिम देशो में राजनीति को धर्म से अलहदा कर लेने

१—बेनीप्रसाद : Communal Settlement, पृ. ४०।

२—कूपलैंड : Constitutional Problem of India, तृतीय भाग, पृ. १०४।

की यह प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा तक पहुँच गई है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि हिन्दुस्तान के मुसल्मान एक ऐसे समय में भी, जब दुनियाँ के सभी मुसल्मान राष्ट्रीयता और पश्चिमीकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं, एक मध्यकालीन विश्वास से अपना सबध बनाये रखने के लिए इतने आग्रह-शील हों।

इस प्रश्न पर यदि थोड़ा और भी विचार करें तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि यद्यपि पाकिस्तान की धारणा के पीछे धर्म को राजनीति का आधार मान लेने का आग्रह है, परन्तु मुस्लिम-लीग का प्रमुख लक्ष्य धर्म नही है, राजनीति है। अपनी कल्पना को हम कितना ही गतिशील बनाना चाहे, हम इस विश्वास तक कभी पहुँच ही नहीं सकेंगे कि मि० जिन्ना के सभापतित्व में मुस्लिम-लीग का सगठन और विकास एक धार्मिक सस्था के रूप में हुआ है। पाकिस्तान की माग का प्रमुख लक्ष्य भी न तो इस्लाम-धर्म के महत्त्व को बढ़ाना है, और न भारतीय मुसल्मानों के धार्मिक हितों का सरक्षण है, परन्तु भारतीय मुसल्मानो की स्थिति को, शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण से, सबल बनाना है। कायदे-आजम जिन्ना के हाथों हजरत अल्लामा इकबाल की कल्पना में एक आमूल-परिवर्त्तन हुआ है। इकबाल का प्रधान लक्ष्य इस्लाम-धर्म के विकास पर था; जिन्ना भारतीय राजनीति में मुसल्मानों के विशेष अधिकारो पर जोर दे रहे हैं। पाकिस्तान की माग हर्गिज इसलिए नहीं उठाई जा रही है कि उसके समर्थक इस्लाम के उच्च-सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं—यदि वह ऐसा करना चाहते तो कम-से-कम मैं उनके इस कार्य का जोरो से समर्थन करता—परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य यही है कि थोडे से मुसल्मानों को आर्थिक शोषण और अविभाज्य राजनैतिक सत्ता के उपयोग के अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा का झुकाव

अन्त मे, हम अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा की वर्त्तमान प्रवृत्ति पर भी दृष्टिपात कर लें। प्रो० कार के शब्दों मे, "सभी लोग अब इस बात को दिन-प्रति-दिन अधिक मानते जा रहे हैं कि आत्म-निर्णय का सिद्धान्त ऐसा सीधा-सादा सिद्धान्त नही है—जैसा १९१९ में माना जाता था—कि जनमत के आधार पर उसका निर्णय किया जा सके।" हर जगह—हम अमरीकन महाद्वीप लें, या दक्षिण-पूर्वी यूरोप, या मध्य-पूर्व—राजनैतिक चिन्तन की प्रवृत्ति बड़े सघ-बद्ध सगठनो की ओर है। बाल्कान-राज्यों में भी इस प्रकार का एक सघ बना लेने की दिशा में प्रयत्न चल रहे हैं। सच तो यह है कि आज दुनिया के हर एक

देश मे प्रजातत्र के सामने सवाल यह है कि वह बचाव के सशक्त साधनो के साथ अपना सांमजस्य किस प्रकार स्थापित कर सकता है। राष्ट्रीयता की भावना बड़ी आकर्षक है, परन्तु केवल राष्ट्र-प्रेम अथवा प्रजावाद में आस्था से ही कोई देश अपना बचाव नही कर सकता। आज तो युद्ध के साधन इतने वैज्ञानिक हो गए है, और बड़े राज्यो की शक्ति इतनी दुर्धर्ष हो गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बिना बचाव की कल्पना ही नही की जा सकती। राज्य की सार्वभौम सत्ता की जो परम्परागत कल्पना है, वह आज अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और संगठन मे एक बडी बाधा प्रमाणित हो रही है। हमारे सामने इस विश्वास को कि प्रत्येक राष्ट्र अपना एक स्वतंत्र राज्य बना ले, और प्रत्येक राज्य सार्वभौम सत्ता का उपयोग करे, सर्वथा छोड देने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया है। राष्ट्रो के लिए आज तो सास्कृतिक स्वत्वो और सामाजिक सस्थाओ के सरक्षण के नैतिक और वैधानिक आश्वासनो से सतुष्ट होना अनिवार्य हो गया है, इससे अधिक की माग स्वयं उनके लिए अहितकर हो सकती है।

अब 'सास्कृतिक इकाइयो' और 'राजनैतिक इकाइयो, के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से माना जाने लगा है। एक समाज केवल जाति, अथवा भाषा, अथवा धर्म की दृष्टि से एक होते हुए भी अपने लिए एक स्वतन्त्र-राज्य की माग नही उठा सकता। प्रजातन्त्र आज सक्रामक-स्थिति मे है। उसे एक नया राज्य-तंत्र, एक नया संगठन, एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण करना है। उसे एक ओर तो, राष्ट्रो अथवा राज्यो की सार्वभौम-सत्ता की कल्पना का परित्याग करना है, और एक ऐसे सघ–शासन की ओर बढ़ना है जिसमें कई प्रजातन्त्र–देश एक दूसरे से मिल–जुल कर अपनी विदेशी और आन्तरिक समस्याओ को सुलझा सके, और दूसरी ओर अकेन्द्रीकरण की दिशा मे एक क्रान्तिकारी कदम उठाना है। हमारी राजनैतिक समस्याओ का समाधान आज इस दिशा मे नहीं रह गया है कि हम अपने देश को, विभिन्न राष्ट्रीयताओ के आधार पर, कई भागो मे बॉट दे। हमे अपने राष्ट्रीय प्रश्नो पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना है, विश्व की आवश्यकताओ और प्रवृत्तियो की ओर सजग रहते हुए। हमे एक ओर तो ससार के कुछ प्रमुख देशो से एक निकटतर सपर्क स्थापित करना है, और दूसरी ओर अपनी केन्द्रीय-सरकार के पास कम-से-कम शक्ति रखना है––यह अवश्य है कि इस सीमित क्षेत्र मे वह शक्ति सपूर्ण और अविभाज्य हो। अन्तर्राष्ट्रीय विचार धारा का समस्त झुकाव आज इसी दिशा मे है।

प्रो० कार का विश्वास है कि "केन्द्रीकरण और अ-केन्द्रीकरण के इस

सामंजस्य मे ही, इस धारणा मे कि शासन-सबंधी कुछ कार्यों के लिए आज से कहीं बड़े, और कुछ अन्य कार्यों के लिए आज से बहुत छोटे, समूहों की आवश्यकता है, हम आत्म-निर्णय की कठिन समस्या का समाधान पा सकेंगे।"[1] मैकार्टने ने लिखा, "हमारी आज की कठिनाइयों का मुख्य कारण है राष्ट्रीयताके आधार पर स्थापित राज्य की हमारी वर्त्तमान कल्पना, और यह विश्वास कि किसी राज्य के समस्त निवासियों की राजनैतिक आकांक्षाओं और उनके बहु-संख्यक वर्ग के राष्ट्रीय सांस्कृतिक आदर्शों मे तादात्म्य है। यदि एक बार मौलिक विभिन्नता रखने वाली इन दो वस्तुओं के आंतरिक विरोध को समझ लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विश्वास रखने वाले व्यक्ति एक ही राज्य में पूर्ण सहयोग के साथ क्यों न रह सकें।"[2] आज तो विश्व की प्रगति विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले एक राज्य की ओर हो रही है। लॉर्ड एक्टन ने १८६२ मे जो लिखा था, उसे आज अधिक से अधिक समर्थन मिल रहा है, "एक राज्य में कई राष्ट्रों का रहना सभ्य जीवन की उतनी ही आवश्यक शर्त है जितना समाज में विभिन्न व्यक्तियों का रहना। जो पिछड़ी हुई जातियां हैं वे मानसिक दृष्टि से अपने से आगे बढ़ी हुई जातियों के राजनैतिक संसर्ग से आगे बढ़ने का अवसर पाती हैं। जो राष्ट्र थके हुए और पतनोन्मुख है, वे नवीन और सशक्त राष्ट्रों के सहयोग से एक नव-जीवन की प्राप्ति कर लेते हैं।.. राज्य के अंतर्गत ही वह समन्वय संभव है जो मानव जाति के एक भाग की शक्ति, ज्ञान और क्षमता दूसरे भाग तक पहुँचाता है।" हिंदुस्तान का तो सारा इतिहास ही और विशेष कर पिछले १५० वर्षों का इतिहास, लॉर्ड एक्टन के इस कथन की सचाई का साक्षी है। आज का वर्त्तमान भारतीय-मुस्लिम-समाज, हिंदू-समाज में बढ़ने वाली नवचेतना का आधार पाकर, उससे प्रेरणा लेकर, कभी-कभी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भी, अपने समस्त जीवन के नव-निर्माण में व्यस्त है। सैयद अहमद को हम राम मोहन राय के चरण-चिह्नों पर चलते पाते है, जिन्ना मुस्लिम राष्ट्रीयता के निर्माण में गांधीजी का स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, और इसी प्रकार हिंदू-समाज पर भी उसके इस नव-जीवन की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। पाकिस्तान पारस्परिक प्रेरणा के इन मूल-स्रोतों को ही सदा के लिए सुखा डालेगा।

१—ई० एच० कार : Conditions of Peace पृ० ६३।

२—मैकार्टने : Nation-States and National minorities, पृ० ४५०।

: १० :

विभाजन की कुछ अन्य योजनाएं

पाकिस्तान की अव्यावहारिकता और सैद्धांतिक अनुपयुक्तता को अब अंग्रेज राजनीतिज्ञ भी मानने लगे है, और इस कारण, उनकी ओर से, कुछ पर्याय-योजनाए हमारे सामने आ रही है। इन्ही मे ऑक्सफ़ोर्ड-यूनीवर्सिटी के विद्वान् प्रोफेसर कूपलैण्ड की प्रसिद्ध योजना भी है। प्रो० कूपलैण्ड ने अपनी योजना के लिए एक बडा आकर्षक नाम रखा है—Regionalism। उनकी योजना का मुख्य आधार है देश को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दो भागो मे न बाटते हुए आर्थिक दृष्टिकोण से चार भागो मे बांट दिये जाने का प्रस्ताव। मुस्लिम-लीग की प्रमुख माग तो यह है कि देश को दो हिस्सों मे बाटा जाये; प्रो० कूपलैण्ड उससे एक कदम आगे जाने के लिए तैयार है, और वह चाहते हैं कि उसे चार 'क्षेत्रो' (regions) मे बाट दिया जाय, और ये चारो क्षेत्र एक निःशक्त केन्द्रीय-शासन द्वारा एक दूसरे से संबद्ध रखे जायॅ। प्रो० कूपलैण्ड का यह विचार नया नही है। वह स्वय तो, विभाजन की अन्य सभी योजनाओं के समान, उसका प्रारम्भ डॉ० इकबाल के ऐतिहासिक इलाहाबाद-भाषण से करते है, पर यद्यपि उनकी यह धारणा निराधार और भ्रान्तिमूलक है, परन्तु यह निश्चय कहा जा सकता है कि यीट्स-योजना व सिकन्दरहयातखॉ योजना से प्रो० कूपलैण्ड की योजना का एक निकट, कौटुम्बिक, सबध अवश्य है।

विभाजन की इन योजनाओ के क्रमबद्ध अध्ययन और आलोचनात्मक अन्वेषण से कुछ मनोरञ्जक बातो पर प्रकाश पडता है। पहिली बात तो यह है कि इन सभी योजनाओ की सृष्टि या तो अनुदार दल के अंग्रेजो के मस्तिष्क से हुई, या ऐसे हिन्दुस्तानियो के दिमाग़ से, जिनका जीवन नौकरशाही के सरक्षण मे बीता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन सब योजनाओं का संबंध मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माग के साथ बताया जाता है, पर यदि उन पर गहराई से विचार किया जाय तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि इन योजनाओ और पाकिस्तान की कल्पना में कही कोई समानता है ही नहीं, और इसी सबध मे यदि हम कुछ सदेहपूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टि से देखे तो हम यह भी समझ सकेंगे कि इन योजनाओ का मुस्लिम-हितो के संरक्षण का दावा झूठा और शरारत-पूर्ण है, और वे वास्तव मे बनाई ही इसलिए गई है कि एक ओर तो

मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माग को खत्म कर दिया जाय, और दूसरी ओर आजादी की राष्ट्रीय मांग निर्बल बनाई जा सके।

इन निष्कर्षों के समर्थन में पाठक का ध्यान उस राजनैतिक वातावरण की ओर आकर्षित किया जा सकता है जो इन योजनाओं के लिए पृष्ठभूमि का काम कर रहा था। इन सब योजनाओं का विकास १६३६ और १६४४ के बीच में हुआ। हमारी राजनैतिक चेतना की उत्क्रान्ति की दृष्टि से यह समय बड़ा महत्त्वपूर्ण था। महायुद्ध ने, और उसके प्रारम्भिक वर्षों की राजनैतिक परिस्थिति ने, एक ओर तो हमारी आजादी की माग को प्रबल बना दिया था, और दूसरी ओर सरकारी नीति, व व्यक्तिगत नेतृत्व और समूहगत शोषण की भूख, पाकिस्तान की कल्पना को एक प्रखर रूप देने मे सफल हो सकी थी। काग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द कर रखा था। कायदे-आजम कहते थे, 'पाकिस्तान दो, और भारत छोड़ो।' अंग्रेजी सरकार की स्पष्ट नीति यह थी कि वह न तो पाकिस्तान देना चाहती थी, और न हिन्दुस्तान छोड़ना। केन्द्रीय-शासन में वह तनिक भी अधिकार देने के लिए उद्यत न थी—और यही सरकार और काग्रेस के बीच गत्यावरोध का प्रमुख कारण था। १६३६ मे स्थिति यही थी कि काग्रेस चाहती थी कि केन्द्रीय-शासन पर उसका कम-से-कम इतना अधिकार हो जाय कि जिससे प्रान्तीय शासन को एक गैर-जिम्मेदार केन्द्र के अवाछित दबाव से बचाया जा सके, परन्तु अंग्रेजी सरकार इस दिशा में एक इन्च भी आगे बढना नहीं चाहती थी'। पर, साथ ही वह यह भी जानती थी कि भारतीय राष्ट्रीयता का बल इतना अधिक बढ गया था, और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का दबाव इतना अधिक बढता जा रहा था, कि वह अपनी इस स्थिति पर बहुत दिनों तक मजबूत नहीं रह सकती थी। वह जानती थी कि एक दिन आयगा, और उसे डर था कि वह दिन शायद जल्दी आजाव, जब उसे केन्द्रीय शासन में भी भारतीय राष्ट्रीयता को अधिकार देने पर विवश होना पडेगा। इसी कारण, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के कूटबुद्धि समर्थकों ने यह प्रयत्न किया कि इस केन्द्रीय-शासन को ही इतना कमजोर, और निकम्मा, बना दिया जाय कि उसके लिए अंग्रेजी सरकार की सहायता पर निर्भर रहना अनिवार्य हो जाय। उन्होंने अपनी इस बौद्धिक उपज के लिए एक तात्विक पृष्ठभूमि तैयार करना आरम्भ की। एक निर्बल केन्द्रीय शासन की स्थापना के लिए ही इन लोगों ने, देश के विभाजन की एक के बाद एक योजना उपस्थित करना प्रारम्भ की, और उन सबका उद्देश्य मुसल्मानों की माग को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता बताया गया।

इन योजनाओं का ऐतिहासिक विकास

देश को कई 'क्षेत्रो' मे बांट देने के विचार के सूत्रपात का श्रेय भी, पाकिस्तान की योजना के समान, डॉ० इकबाल को ही दिया जाता है। इस्लाम के इस महान् कवि और विचारक ने 'भाषा, जाति, इतिहास, और धर्म की एकता व आर्थिक स्वार्थों की सामान्यता के आधार पर स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण, की चर्चा अवश्य की थी, और, उदाहरण के रूप में, उत्तर-पश्चिम में एक भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना का विचार उपस्थित किया था, परन्तु देश को कई भागो मे बांट देने से अधिक दिलचस्पी उन्हे 'पैन-इस्लामिज्म' और 'मुस्लिम सगठन' मे थी। **भारतीय एकता को छिन्न-भिन्न करने अथवा केन्द्रीय शासन को निर्बल बनाने का विचार उनके मन में कभी आया ही नही।** सच तो यह है, इस विषय मे डॉ० इकबाल ने कभी गम्भीरता से सोचा ही नही था। प्रो० कूपलैण्ड की योजना का मुख्य आधार सर सिकन्दर-हयातखाँ की देश को सात भागो मे बांट देने की कल्पना थी। इसी प्रकार की कुछ अन्य योजनाए भी समय-समय पर सामने आती रही हैं। ये सब सिकन्दर-योजना से इस सबध मे तो सहमत हैं कि मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशो को दो 'क्षेत्रों' में बांटा जाय, पर हिन्दू 'क्षेत्रों' की सख्या व उनके विभाजन के सिद्धान्त के संबध मे उनमे मतभेद है। वर्त्तमान प्रातो को मिटा देने की कल्पना किसी योजना मे नही है—वे तो शासन की प्रमुख इकाइयो (units) के रूप में मौजूद रहेंगे ही—परन्तु वे 'क्षेत्रो' से सघबद्ध कर दिये जायगे, और इसी प्रकार सब क्षेत्रो को एक अखिल-भारतीय-संघ-शासन मे आबद्ध कर दिया जायगा। सर सिकन्दर संभवतः पहिले व्यक्ति थे, जिन्होने क्षेत्रीय-शासन के इस माध्यमिक स्तर की कल्पना को जन्म दिया था। उनका सुझाव था कि शासन के ऐसे बहुत से सूत्र जिनका संचालन आज केन्द्रीय सत्ता के द्वारा होता है, क्षेत्रीय-सत्ता के हाथों सौप दिये जाने चाहिएं। इन क्षेत्रो की अपनी कार्यकारिणी और अपनी धारासभा होनी चाहिए। सर सिकन्दर यह भी चाहते थे कि प्रातीय शासन और देशी राज्यो को 'क्षेत्र' के अन्तर्गत एक दूसरे से संबद्ध कर देना चाहिए।

प्रो० कूपलैण्ड ने सिकन्दरहयातखाँ के प्रस्तावो को अपनी योजना का मुख्य आधार बनाया है, परन्तु उसका विकास भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य, मि० यीट्स, की योजना के पद-चिह्नो पर किया है। मि० यीट्स ने, जो १६४१ में हिन्दुस्तान के सेंसर-कमिश्नर थे, यह सुझाव पेश किया था कि, आर्थिक विभिन्नताओ की दृष्टि से, हिन्दुस्तान को चार हिस्सो में बाट देना

चाहिए। इस विभाजन का आधार उन्होंने बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा सींची जाने वाली जमीन को माना है। मि० बीट्स का विचार था कि, इस सिद्धान्त के आधार पर, उत्तरी हिन्दुस्तान को तीन भागों में बाँटा जा सकेगा—(१) सिंधु-नदी का प्रदेश, काश्मीर से कराची तक (पाकिस्तान की भूमि), (२) गंगा-यमुना का प्रदेश, पंजाब और बंगाल के बीच में (हिन्दुस्तान का इलाका), और (३) गंगा-ब्रह्मपुत्र का प्रदेश, बिहार और पूर्वी सीमा के बीच में (उत्तर-पूर्वी हिन्दुस्तान का पर्याय)—और दक्षिण-भारत का समस्त प्रदेश एक इकाई माना जायगा। इस योजना के प्रस्तावक मि० बीट्स ने अपनी योजना के समर्थन में, आबपाशी के महत्त्व और 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक' शक्ति की अपरिमित संभावनाओं पर विशेष-रूप से जोर दिया है। कूपलैण्ड ने भी अमरीका के 'टेनेसी वैली ऑथोरिटी' का उदाहरण दिया है, और इस बात पर भी जोर दिया है कि हिन्दुस्तान में भी उसका अनुकरण किया जाय। सर सिकन्दर-हयातखाँ के समान मि० बीट्स भी मानते थे कि देशी राज्यों को इन क्षेत्रों में अवश्य सम्मिलित करना चाहिए, परन्तु इस विषय का निर्णय वह उन्हीं के हाथों में छोड़ देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि देशी राज्यों के सम्मिलित न होने की दशा में भी उनकी योजना को क्रियात्मक रूप मिलना चाहिए। वैसी दशा में, देशी राज्यों को निकाल कर, शेष प्रदेशों को, उसी सिद्धांत के आधार पर, चार भागों में बांट दिया जाय, और इनमें से प्रत्येक भाग स्वतन्त्र और स्वावलंबी हो।

क्रिप्स-योजना

क्रिप्स-योजना को देश को कई खण्डों में बांट देने वाली इन योजनाओं में सम्मिलित कर लेना कुछ लोगों को शायद आश्चर्य-जनक लगे, परन्तु तथ्य यह है कि क्रिप्स-योजना में भी, मुस्लिम मांगों को पूरा करने के नाम पर, देश को अनेकानेक खण्डों में बांट देने का आयोजन ही है। क्रिप्स-प्रस्ताव में प्रत्येक प्रांत को यह स्वाधीनता दी गई है कि वह स्वयं इस बात का निर्णय करे कि वह अखिल भारतीय संघ शासन में शामिल होगा या नहीं। इस प्रकार देश भर में नये शासन-विधान की स्थापना प्रांतों की अपनी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर रहेगी। यदि कोई प्रांत अखिल-भारतीय संघ में शामिल होना नहीं चाहेगा तो उसे यह स्वाधीनता होगी कि वह अपना मौजूदा शासन-विधान कायम रख सके। उसे यह सुविधा भी होगी कि वह भविष्य में जब चाहेगा, अखिल भारतीय संघ-शासन में शामिल हो सकेगा। एक और बात जो हमें इस सम्बंध में ध्यान में रखना है, यह है कि उन सब प्रांतों को, जो अखिल-

भारतीय संघ-शासन में शामिल नहीं होंगे, यह अधिकार भी दे दिया गया है कि वे यदि चाहें तो अपना एक अलहदा संघ कायम कर सकते हैं, और उसके लिए जैसा चाहें वैसा शासन-विधान बना सकते हैं। पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लेने का यह एक अनोखा ढङ्ग था। यदि वे सब प्रांत या देशी राज्य, जो अखिल-भारतीय संघ-शासन मे शामिल होने के लिए तैयार न हों, अपना एक अलहदा सघ कायम करना भी न चाहें, तब? वैसी स्थिति में क्या देश भर में छोटे-छोटे खण्ड-शासनो की स्थापना नही होजायगी? यह भी संभव है कि इनमे से कुछ प्रांत और कुछ देशी राज्य तो अपना एक सघ बना लें, और कुछ अपनी स्वतन्त्र स्थिति कायम रखना चाहे। उसका अर्थ होगा, प्रांतीय आत्म-निर्णय के आधार पर, देश को अनेकानेक भागों में विभाजित कर देना। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यदि इस समस्या पर सोचें तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि देशी राज्यो को निकाल कर, कांग्रेसी प्रांत भारतीय-संघ मे सम्मिलित होंगे व शेष अपना एक अलहदा संघ बना लेंगे। "परन्तु," इस समस्या का विश्लेषण करते हुए श्री० मुन्शी ने लिखा है, "यदि उदाहरण के लिए, हम यह मान लें कि पंजाब, बडौदा और हैदराबाद के देशी राज्य अपना एक अलहदा संघ बनाना चाहते हैं तो उस संघ के विभिन्न भागो मे भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक अथवा किसी भी प्रकार की एकता की कल्पना कर पाना असम्भव है।......यदि बम्बई प्रात तो भारतीय-सघ में शामिल हो जाय, और बड़ौदा का राज्य अलहदा जाना चाहे, तो दोनो में से किसी भी संघ के लिए यह सम्भव नहीं रह जायगा कि वह बिना किसी दूसरे के मामलो मे हस्तक्षेप किये अपना काम चला सके।" इस प्रकार के अनेको उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कूपलैण्ड-योजना

इन सब योजनाओ को एक सूत्र में बांधने और वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय प्रो० कूपलैण्ड को है। उन्होने एक सम्पूर्ण, व्यवस्थित और वैज्ञानिक दिखाई देने वाली योजना हमारे सामने रखी। प्रो० कूपलैण्ड ने यह प्रस्ताव किया कि नदियों द्वारा सिचाई किये जाने वाले प्रदेशो को एक-दूसरे से अलहदा सगठित किये जाने की मि० यीट्स की जो योजना थी उसे फौरन अमली रूप दिया जाना चाहिए। उन्होंने विभिन्न भू-खण्डों के लिए शासन-विधान की एक वाह्य रेखा हमारे सामने रखी, और साथ ही केन्द्रस्थ-शासन के लिए भी, जिसे उन्होंने एक 'दुर्बल, माध्यमिक केन्द्र' (weak agency centre) का नाम दिया, शासन की योजना का प्रस्ताव किया। उनका सुझाव था कि हमें अपनी राष्ट्र-

निष्ठा को संकुचित और प्रांत-भक्ति को अधिक व्यापक बनाना चाहिए—जिससे केन्द्र और प्रांत के बीच शासन-दृष्टि से जिस नये भू-भाग अथवा 'क्षेत्र' की सृष्टि का उनका प्रस्ताव है उसके प्रति अपनी भक्ति को विकसित कर सकें। उनका विश्वास है कि हमारी साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने का यही एकमात्र उपाय है। अपनी इस योजना के समर्थन में वह सबसे बड़ी दलील यह देते हैं कि इसके द्वारा देशकी एकता की रक्षा की जा सकेगी। देशकी एकताकी रक्षाके सम्बंध में प्रो० कूपलैण्ड ने अपने आपको बहुत ही उत्सुक बताया है। मि० यीट्स के समान, प्रो० कूपलैण्ड भी यह चाहते हैं कि देशी राज्य भी विभिन्न 'क्षेत्रों' में सम्मिलित हों, परन्तु, उनके विपरीत निर्णय की स्थिति में, उनके बिना भी अपनी योजना को कार्यान्वित देखना चाहते हैं। प्रो० कूपलैण्ड ने केन्द्रीय, क्षेत्रीय व प्रांतीय कार्यकारिणी-समितियों व धारा-सभाओं के शासन-विधान की एक संपूर्ण बाह्य रेखा हमारे सामने रखी हैं, और उनके आपसी सम्बन्धों का निर्धारण किन सिद्धांतों के आधार पर हो, इस विषय पर भी प्रकाश डाला है। शासन के विभिन्न स्तरों के बीच सत्ता के बटवारे के सम्बन्ध में भी उनकी योजना बड़ी स्पष्ट और विशद है। एक अच्छा विधान-शास्त्री अपनी योजना को जितना स्पष्ट रूप दे सकता है, कूपलैण्ड-योजना में हम उसे पाते हैं।

एक और बात जो हमें इस सबंध में अपने ध्यान में रखना है वह यह है कि चर्चिल-एमेरी दल पर प्रो० कूपलैण्ड का बहुत अधिक प्रभाव था, और इस कारण उनकी योजना के पीछे सरकारी समर्थन की कल्पना की जा सकती है, और इग्लैण्ड में हाल के बड़े राजनैतिक परिवर्त्तनों के बाद भी, प्रो० कूपलैण्ड और उनके मित्रों का प्रभाव कम नहीं हुआ है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स जब अपनी योजना लेकर हिंदुस्तान में आये तब प्रो० कूपलैण्ड, सेक्रेटरी की हैसियत से, उनके साथ थे। आज भी स्टैफर्ड क्रिप्स पर उनका प्रभाव है—और अंग्रेज़ी सरकार की ओर से प्रस्तावित की जाने वाली किसी भी योजना में सर स्टैफर्ड क्रिप्स का प्रमुख हाथ रहेगा, यह एक निर्विवाद तथ्य है। आज भी, बीच-बीच में, अंग्रेज़ी समाचार पत्रों में, क्रिप्स-प्रस्तावों और कूपलैण्ड-योजना की चर्चा प्रायः आती रहती है। भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर लेबर पार्टी का दृष्टिकोण बहुत आशाप्रद नहीं है। यह निश्चित है कि वह एक ओर तो हमारी स्वाधीनता की मांग को टाल देना चाहती है, और दूसरी ओर मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग को पूरा करने के पक्ष में भी नहीं है। इस दोहरे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कूपलैण्ड-योजना से अच्छी कोई योजना हमारे सामने नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यदि किसी दिन अंग्रेज़ी सरकार हमारे लिए एक

ऐसे शासन-विधान की तजवीज कर दे जिसका आधार कूपलैण्ड-योजना मे हो। विधान-निर्मात्री-सभा की चर्चा तो की जा रही है, परन्तु अभी यह कहा निश्चित है कि उसका निर्माण किन सिद्धांतो पर, व किन तत्त्वो से, होगा, व उसमे मौलिक मतभेद होने की स्थितिमे कौन हमारे भावी शासन-विधान की सृष्टि करेगा ? इसी कारण कूपलैण्ड-योजना पर बड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

क्षेत्रीय विभाजन के आधार-भूत सिद्धांत

क्षेत्रीय विभाजन के सिद्धात के प्रतिपादको ने उसके पक्ष मे बडी-बडी बाते कही है। उनका कहना है कि इसके द्वारा हमारे देश की दो बहुत बड़ी समस्याए सुलझ सकेगी—एक ओर तो हम अपनी राजनैतिक एकता को कायम रख सकेंगे, और दूसरी ओर मुसल्मानो की आशकाओं को दूर कर सकेंगे। इस आधार पर उन्होने हिंदू और मुसल्मान दोनो से अपने आग्रह को थोडा शिथिल बनाने की अपील की है। मुसल्मानो से उनकी दरख्वास्त है कि वह देश को दो हिस्सो मे बाट देने की अपनी माग पर इतना जोर न दे, और हिंदुओ से उनका कहना है कि वे प्रजातन्त्र के सिद्धात के नाम पर बहु-सख्यक वर्ग के प्राधान्य की अपनी धारणा मे थोड़ा परिवर्त्तन करे। क्षेत्रीय-विभाजन का सिद्धात अपने पक्ष मे जो सबसे बड़ी दलील उपस्थित करता है, वह यह है कि उसके द्वारा देश की एकता को कायम रखा जा सकेगा। यह कहा जाता है कि वह राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय के सिद्धात के बीच एक समझौता है—कूपलैण्ड किसी भी समाज के राष्ट्रीयता के दावे को तो फ़ौरन ही मान लेने के लिए तैयार हैं, परन्तु आत्म-निर्णय के अधिकार को इतना आसानी से मानने के लिए तैयार नहीं। क्षेत्रीय-विभाजन के सिद्धात के समर्थको का कहना है कि मुस्लिम-लीग की दो प्रमुख मागे हैं—(१) वे अपने लिए एक अलग प्रदेश ऐसा चाहते है जहा कि उनके राष्ट्र के व्यक्तियो की प्रधानता हो और (२) वे चाहते है कि उनके राष्ट्रीय प्रदेशो मे एक स्वतन्त्र और सार्वभौम शासन की स्थापना हो। कूपलैण्ड और उनके साथी इन दोनो मागो के सम्बन्ध मे दो भिन्न मत रखते है। वे मुस्लिम-लीग की इस माग को पूरा करने के लिए तैयार है कि मुसल्मानो के लिए एक अलग प्रदेश निर्धारित कर दिया जाय—उन्हे इस बात मे भी आपत्ति नहीं होगी यदि इस प्रकार के कई प्रदेश हो—परन्तु जहा तक एक सम्पूर्ण सार्वभौम राज्य की स्थापना का प्रश्न है, वे उसे एक दकियानूसी विचार मानते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार की कल्पना यूरोप मे १६-वीं शताब्दी मे तो सम्भव थी, परन्तु १८६२ मे जबसे लार्ड एक्टन ने कई राष्ट्रो के मिले-जुले राज्य की कल्पना को जन्म दिया तब से उस पर से लोगो का विश्वास हटता जा रहा है। उनका

यह भी कहना है कि क्योंकि मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग का आरम्भ अभी कुछ दिन पहिले ही हुआ है इसलिए उसे विशेष महत्त्व देनेकी आवश्यकता नही है।

इन आधारभूत सिद्धांतो में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे गहरे मतभेद की गुंजाइश हो, परन्तु उन पर जिस योजना का निर्माण किया गया है वह पाकिस्तान से भी अधिक खतरनाक है। कूपलैण्ड और उनके साथियों का कहना है कि देश के विभिन्न शासन-तत्रों को एक सूत्र में पिरो देने के लिए एक केन्द्रीय शासन का होना आवश्यक है। उनका यह कहना है कि इस केन्द्रीय-शासन का सगठन हम उन सिद्धातों के आधार पर नहीं कर सकते जो अब तक हमारे सामने रहे हैं, और न १६३५ के एक्ट के केन्द्रीय शासन से ही उसकी समानता होगी। १६३५ से पहले की केन्द्रीय शासन की हमारी कल्पना का आधार केन्द्रीकरण का सिद्धात था, १६३५ के एक्ट मे उसका संगठन सघ शासन के सिद्धातो के आधार पर हुआ। क्षेत्रीय योजना में केन्द्रीय शासन का रूप इन दोनों से भिन्न होगा। उसकी स्थिति एक बीच की स्थिति होगी। सघ-शासन में केन्द्र को जो अधिकार मिले होते हैं, इस योजना में वे बिल्कुल भिन्न होंगे। सच तो यह है कि सघ-शासन का इस योजना से एक मौलिक अन्तर होगा। इसमे न केवल शासन की इकाई का रूप ही भिन्न होगा परन्तु उसके केन्द्रीय-शासन की स्थापना के आधार-भूत सिद्धात भी उससे बिल्कुल भिन्न होंगे। इसी कारण से क्षेत्रीय-विभाजन की योजना के समर्थक हमसे अपेक्षा करते हैं कि हम सघ-शासन के सगठन के परम्परागत विचारों को अपने मन से निकाल दें और बिल्कुल नये ढग से सोचने के लिए तैयार रहे।

योजना का राजनैतिक महत्त्व

इस योजना की आर्थिक दृष्टिकोण से तो बड़ी सराहना की गई है, परन्तु उसका राजनैतिक महत्त्व भी बहुत अधिक बताया जाता है। पहली बात तो उसके पक्ष मे यह कही जाती है कि उसके द्वारा मुसल्मानो के लिए एक अलग प्रदेश की मुस्लिम-लीग की माग को पूरा किया जा सकेगा—सिंधु और गगा-ब्रह्मपुत्र द्वारा सिचाई किये जाने वाले प्रदेश, पाकिस्तान और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान का रूप ले लेंगे, और दूसरी बात यह है कि यदि इस योजना को अमल में लाया गया तो हिंदू बहु-सख्यक और मुस्लिम बहु-सख्यक प्रदेशो मे समानता की स्थापना की जा सकेगी। यह तो स्पष्ट ही है कि इस योजना मे मुस्लिम-लीग की दो प्रमुख मागों में से एक माग ही पूरी की जा सकेगी। मुसल्मानों के लिए स्वतन्त्र प्रदेशो की स्थापना हो सकेगी, परन्तु हिंदुस्तान से

संबंध-विच्छेद करने का उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं होगा। इस योजना के समर्थक देश की एकता को बनाये रखने के लिये अपने को बहुत उत्सुक बताते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह योजना कई प्रकार की विभिन्न मांगो को एक साथ ही सन्तुष्ट करने का दावा करती है। एक ओर तो वह अंग्रेज़ो के हाथो से हिन्दुस्तानियो के हाथो में राज्य की सत्ता को सौंपे जाने की राष्ट्रीय माग का समर्थन करती है—यह अलग बात है कि वह सत्ता कितनी खोखली और सारहीन होगी—दूसरे, वह देश की एकता को बनाये रखने की हिन्दू मांग को पूरा करने का दावा करती है, और, तीसरे, मुसलमानोंके लिए अलहदा प्रदेश बना देने का आयोजन भी उसमे है। ये सब बहुत बड़े दावे हैं, और उनका एक सूक्ष्म विश्लेषण करके हमें यह देखना है कि उसके पीछे सचाई का अश कितना है।

क्षेत्रीय शासन-विधान

इसके लिए हमे उस प्रस्तावित शासन विधान पर दृष्टि डालना है जो क्षेत्रीय विभाजन के आधार पर बनाया गया है। सबसे पहले हम केन्द्रीय शासन को ही ले। क्षेत्रीय योजना मे केन्द्रीय शासन एक बहुत ही निर्बल और निःशक्त शासन होगा—इस प्रकार के केन्द्रीय शासन के समर्थन मे यह कहा जाता है कि भारतीय परिस्थितियो मे इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार के केन्द्रीय शासन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रो० कूपलैण्ड ने केन्द्र के अधिकारो के संबध मे जो लिखा है उससे हमें मतभेद नही है। जिस सिद्धान्त पर उन्होंने इन अधिकारो का निर्धारण किया है, वह भी बिलकुल ठीक ही हैं। उनका कहना है कि भारतीय केन्द्रीय शासन के पास जो कम-से-कम अधिकार हो वे ऐसे हो जिनसे बाहर से देखने से हिन्दुस्तान की एकता किसी प्रकार से भंग होती हुई दिखाई नही देती हो। दूसरे शब्दो मे, यह अधिकार ऐसे हों जिनसे बाहर की दुनिया से हिन्दुस्तान का संबंध स्पष्ट होता हो। जैसे—(१) विदेशी नीति और रक्षा, (२) बाहर के देशो से व्यापार और आयात-निर्यात के सबंध की नीति, और (३) मुद्रा (currency) यह बिलकुल ही उचित प्रतीत होता है। कूपलैण्ड ने देश के भीतर के आने जाने के मार्गों और साधनों, मोटरो, रेलो और हवाई जहाजो, आदि के प्रश्न पर भी इस दृष्टि से विचार किया है कि उनका नियन्त्रण केन्द्रीय शासन के द्वारा हो अथवा किसी आन्तर्क्षेत्रीय सत्ता के द्वारा, और इस संबध मे उनका मत यह है कि यह नियन्त्रण आन्तर्क्षेत्रीय सत्ता के द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह विचार भी संघ शासन के उस सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक ही है जिसके अनुसार अधिक-से-

अधिक अकेन्द्रीकरण और कम-से-कम 'केन्द्रीकरण' पर ज़ोर दिया जाता है।

कूपलैण्ड ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि यह आन्तर्क्षेत्रीय संघ संघ-शासन से बिलकुल भिन्न होगा और साथ ही विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों के, विशेष परिस्थितियों के कारण, एक ढीले-ढाले संगठन (confederacy) से भी भिन्न होगा। उसकी स्थिति बीच की होगी। संघ शासन से उसमें यह अन्तर होगा कि जब कि संघ शासन (१) साधारणतः तुलनात्मक दृष्टि से अपने से कम शक्तिशाली राजनैतिक इकाइयों से संबंध रखता है, (२) और उसका निर्माण राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता के आधार पर होता है, क्षेत्रीय विभाजन का सिद्धांत हिन्दुस्तान को कुछ ऐसे बड़े-बड़े राज्यों में बांट देना चाहता है, जो यदि चाहें तो पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो सकते हैं, और एक ऐसे केन्द्रीय शासन की स्थापना करना चाहता है जो शुद्ध रूप से आन्तर्क्षेत्रीय संस्था होगी, और जो अपने अधिकारों के लिए क्षेत्रीय शासन की दया पर निर्भर रहेगी। ये क्षेत्रीय शासन यदि चाहें तो शासन के अधिकारों का स्वतंत्र और सार्वभौम रूप से उपयोग भी कर सकेंगे, परन्तु वे देश की एकता के नाम पर अपनी कृपा-दृष्टि पर सम्पूर्ण रूप से स्थिर रहने वाले एक केन्द्रीय शासन की स्थापना कर लेंगे। प्रो० कूपलैण्ड के शब्दों में "आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र केवल उन्हीं न्यूनतम अधिकारों का उपयोग करेगा जिनका उपयोग देश की एकता को बनाये रखने की दृष्टि से बिलकुल ही आवश्यक होगा और उन अधिकारोंका प्रयोगभी वह किसी अखिल भारतीय जन-मत के द्वारा दी गई सत्ता के आधार पर नहीं परन्तु क्षेत्रीय शासन के एक आज्ञा-पालक की हैसियत से ही करेगा।" इस अन्तिम वाक्य में ही इस योजना का सारा ज़हर छलक उठता है। कूपलैण्ड का केन्द्रीय शासन क्षेत्रीय शासनों का आज्ञा-पालक भर होगा, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होगी और उसकी कार्यकारिणी-समिति और धारा-सभाओं के सदस्यों का एक-मात्र कर्त्तव्य क्षेत्रीय शासन के आदेशों की पूर्त्ति करना होगा।

प्रो० कूपलैण्ड ने हमें यह कह कर आश्वस्त करना चाहा है कि सर सिकन्दर-हयात ख़ा की योजना का केन्द्र तो इससे भी अधिक निर्बल था! इस कथन में सचाई अवश्य है। सिकन्दरहयातखा की केन्द्रीय शासन की कल्पना की जड़ में तो प्रतिक्रिया की भावना काम कर रही थी, एक ऐसे सार्वभौम सत्ता वाले केन्द्र के विरोध में, जो प्रांतीय शासन के कार्य में हस्तक्षेप करने की प्रतीक्षा में ही रहता हो। केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि वह "एक सहानुभूतिपूर्ण शासन-तन्त्र होगा '''''एक ऐसी संस्था जिसका निर्माण 'इकाइयों' द्वारा, केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के नियंत्रण और निरीक्षण के लिए, किया जायगा

और जिसका काम केवल यह होगा कि जो भार उसे प्रान्तोंके द्वारा सौंपा जाय, वह उसे कुशलता, सदाशयता और न्याय की भावना के साथ पूरा कर दे।" सर सिकन्दर तो उसे एक "संयोजक-समिति" (Co-ordination Committee) के नाम से पुकारने को भी तैयार थे। कूपलैएड ने सर सिकन्दर के केन्द्र के संबंध में जो आलोचना की है उससे यह अनुमान हो सकता है कि स्वयं उनके द्वारा प्रस्तावित केन्द्रीय शासन सम्भवतः कुछ अधिक सबल होगा। अपनी क्षेत्रीय योजना को उन्होंने विभिन्न राज्यों के एक सगठन (Confederay) से अधिक सुगठित माना है। उनका कहना है कि इस प्रकार के राज्य-सघ की अपनी कोई सत्ता नही होती, न कोई अधिकार ही होता है, और उसके जो निर्णय होते हैं वे ऐसे होते हैं जिनके संबध मे विभिन्न राज्यो की सहमति होती है और जिन्हे क्रियात्मक रूप उन राज्यो द्वारा उनके अपने खर्च पर दिया जाता है। कूपलैएड का कहना है कि उनका प्रस्तावित आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र इसके बिल्कुल विपरीत एक स्वतन्त्र शासन-तन्त्र होगा, जो स्वयं अपने सिपाहियो को स्वय अपने आदेश दे सकेगा, और अपना खर्चा भी स्वयं ही करेगा। परन्तु इस शाब्दिक आडम्बर के पीछे यदि हम वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करें तो हम स्पष्ट देख सकेंगे कि इन दोनो में विशेष अन्तर नही है।

इन योजनाओं के बनाने वालों की मनोवृत्ति उस समय बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है जब हम आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र की धारा-सभाओं और कार्यकारिणी के प्रस्तावित विधानों पर दृष्टि डालते हैं। सरसिकन्दरहयात खा ने तो १६३५ के एक्ट मे प्रस्तावित धारा-सभा के बराबर बडी धारा-सभा की ही कल्पना की थी, वे केवल यह अन्तर चाहते थे कि उसमें दो के स्थान पर एक चैम्बर हो, ३३ प्रतिशत स्थान देशी नरेशो के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित हों, और २५० स्थानों मे से ३३ प्रतिशत मुसल्मानो के लिए। कूपलैएड व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की सख्या बहुत कम कर देना चाहते हैं, और चाहते है हिंदू बहु-सख्यक और मुस्लिम बहुसख्यक प्रांतों मे एक 'सतुलन' की स्थापना करना। उनकी योजना के अनुसार मुसलमान, जिनकी आबादी देश मे २४ प्रतिशत है, यदि चाहे तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा मे ५० प्रतिशत स्थान प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार से वह कार्यकारिणी सभा के सदस्यो की सख्या व उसके महत्त्व को कम कर देना चाहते हैं। कार्यकारिणी का महत्त्व तो उस समय अपने आप ही कम हो जायगा, जब उसका बहुत कम विभागों पर अधिकार होगा। कूपलैएड एक राजनैतिक दल के हाथों मे सत्ता सौपे जाने के भी विरोधी हैं, और इसलिए वह यह भी चाहते हैं कि कार्यकारिणी का निर्माण मिश्रित रूप से हो, अर्थात्

उसमें कई राजनैतिक दलो का प्रतिनिधित्व हो। इस आधार पर जो कार्य-कारिणी समिति, या मंत्रिमण्डल, बनेगा उसकी स्थिति बडी नाजुक होगी। इसका अन्दाज़ा तो इस बात से भी लगाया जा सकता है कि कूपलैण्ड ने यह सुझाव पेश किया है कि मन्त्रिमण्डल का सगठन स्विजरलैण्ड के विधान के आधार पर हो, अर्थात् धारा-सभा के द्वारा उसका चुनाव तो हो जाय, परन्तु अपने दिन-प्रतिदिन के शासन में वह उसके प्रति उत्तरदायी न हो, उसके अन्तर्गत जो थोड़े से विभाग हो वे हिन्दू और मुसलमान क्षेत्रों में बराबर बाट दिये जाय, और उसका अध्यक्ष बारी-बारी से एक हिंदू और एक मुसलमान हो। ऐसा जान पड़ता है कि अपने इस केन्द्र के स्थायित्व में स्वय कूपलैण्ड को सदेह था, और इसी कारण अपने इन प्रस्तावों के अन्त मे उन्होंने अपनी यह राय भी जाहिर कर दी है कि एक अलग धारा-सभा और एक अलग कार्य-कारिणी बनाने के बदले यदि एक उस प्रकार की मिली-जुली कौंसिल की स्थापना कर दी जाय जैसी कि अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में थी तो उन्हे कोई आपत्ति नहीं होगी।

क्या यह एक बड़े आश्चर्य की बात नही है कि यह योजना जो हिंदुस्तान को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अराजकतापूर्ण व्यवस्था की ओर लौटा ले जाने का प्रस्ताव करती है, हमारी आज की साप्रदायिक समस्या का एक अच्छा समाधान होने का दावा भी करती है? यह कहा जाता है कि विभिन्न क्षेत्रो में 'सतुलन' की स्थापना करने से यह समस्या सुलझ जायगी—इस योजना के समर्थकों को इस 'सतुलन' में ही सब समस्याओं का निदान दिखाई दे रहा है। सिकन्दर-हयातखा के प्रस्तावो को उन्होंने इस कारण अस्वीकृत कर दिया कि वह दो मुसल्मान और पाच हिंदू क्षेत्रों की कल्पना कर रहे थे। जान पडता है कि मुस्लिम हितों के सरक्षण के सबध में प्रो० कूपलैण्ड सर सिकन्दरहयातखा से भी अधिक सतर्क हैं! तभी तो वह हिंदू क्षेत्रो की सख्या पांच से घटा कर दो रखना चाहते हैं। प्रो० कूपलैण्ड का विश्वास है कि ऐसा करते ही हमारी साप्रदायिक समस्या का हल निकल आयगा—क्योंकि अब देश के विभिन्न भागों की जनता साप्रदायिक भावना के स्थान पर उन 'महान् देशों' के प्रति भक्ति की भावना को विकसित कर लेगी जिनका निर्माण क्षेत्रीय विभाजन की योजना के आधार पर होगा। केन्द्रीय सयुक्त-समिति में जो हिंदू और मुसल्मान सदस्य होंगे वे अपने-सम्प्रदायों द्वारा नहीं परन्तु 'क्षेत्रों' द्वारा चुने जायगे। कूपलैण्ड ने हिंदू और मुसल्मान दोनों से यह अपील की है कि वह उनकी इस योजना को स्वीकार कर लें। हिंदुओं से उन्होंने जो अपील की है उसका आधार यह है कि जिस सशक्त केन्द्रीय कार्यकारिणी-समिति और महान् राष्ट्रीय व्यवस्थापिका सभा की वे कल्पना

कर रहे हैं—और जिसकी ओर १८६१ से १९४४ तक हिंदुस्तान अग्रसर होता जारहा था—वह आज की परिस्थितियो मे असम्भव होगये हैं। अपने उस स्वप्न को कार्यान्वित करने के लिए तो हिंदुस्तान को एक राष्ट्र के रूप में पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता होगी। कूपलैण्ड हिंदुस्तान को एक राष्ट्र मे देखने की हिंदुओ की महत्वाकांक्षा को बिल्कुल ही कुचल नही देना चाहते। पर उसके लिए वह उन्हें सब्र करने की सलाह देते हैं। "धीरज" प्रो० कूपलैण्ड एक स्थान पर लिखते हैं, "राजनैतिक गुणो में सबसे श्रेष्ठ है। और अब तो यह स्पष्ट है कि यदि हिंदुस्तान की जनताये कभी एक राष्ट्र बनना चाहें तो उसमे समय लगेगा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो० कूपलैण्ड ने इतनी दया अवश्य की है कि हमारे हृदय से इस आशा और इस स्वप्न को कि हमारा देश किसी दूर, धूमिल, भविष्य मे शायद कभी एक राष्ट्र बन सके, बिल्कुल मिटा नहीं दिया है। प्रो० कूपलैण्ड ने वैसी ही जोरदार अपील मुसल्मानो से देश को दो भागों मे बाट देने की अपनी माग को वापिस ले लेने, और उनकी क्षेत्रीय योजना को स्वीकार कर लेने, के लिए की है, क्योंकि उनका कहना है कि उक्त योजना के अनुसार उन्हे हिन्दुओं के बराबर अधिकार मिल जायंगे। जिस योजना के सम्बन्ध मे इतने बड़े-बड़े दावे किये जा रहे हैं उसका आर्थिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक और राजनैतिक, सभी दृष्टिकोणो से अध्ययन कर लेने का दायित्व हमारे ऊपर आ जाता है।

योजना का आर्थिक-पक्ष

सबसे पहिले योजना के आर्थिक पक्ष को लें। क्षेत्रीय योजना का तो मुख्य आधार ही यह है कि वह राजनीति को साम्प्रदायिक धरातल से उठा कर आर्थिक धरातल पर प्रस्थापित कर देना चाहती है। ऊपर से देखने से तो यह बात बड़ी आकर्षक, और प्रगतिशील, दिखाई देती है, परन्तु वस्तुस्थिति क्या है? क्षेत्रीय विभाजन की योजना क्या शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से हमारी भारतीय परिस्थितियों को सुधारने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है? इस योजना मे दो बातों पर विशेष जोर दिया गया है। एक तो नहरो से सिंचाई, दूसरे पानी से बिजली तैयार करना। यह मानते हुए भी कि हिन्दुस्तान के आर्थिक विकास के लिए ये दोनो बातें जरूरी हैं, यह नही कहा जा सकता कि वे आज देश के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम हैं, और इसके अतिरिक्त, उनका विकास तो किसी भी प्रकार की सरकार के द्वारा, चाहे वह पाकिस्तान की सरकार हो या अखण्ड हिन्दुस्तान की, किया जा सकता है। इसके लिए केवल आन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता है, क्षेत्रीय योजना जैसी औषधि का

प्रयोग, जो सम्भवतः बीमारी से भी अधिक खतरनाक साबित हो, आवश्यक प्रतीत नही होता। इसके अलावा क्षेत्रीय योजनाओ मे से अधिकाश मे आर्थिक पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। सिकन्दर हयात खा योजना में तो जान पड़ता है इस पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया। यदि उनकी योजना अमल में लाई जाय तो मैसूर राज्य को उसके प्राकृतिक आर्थिक सम्पर्कों से उन्मूलित कर दिया जायगा, क्योंकि उनका प्रस्ताव उसे मद्रास या मद्रास की रियासतो या कुर्ग मे शामिल करने का नही परन्तु बम्बई, पश्चिमी भारत की रियासतों और मध्य प्रान्त की रियासतों के साथ रखने का है। इसी प्रकार मध्य प्रान्त की रियासते भी अपने प्राकृतिक सम्पर्कों से अलहदा करके बम्बई की रियासतों और हैदराबाद में मिला दी जायगी। यह समझना कठिन है कि देश के विभिन्न प्रदेशों को इस प्रकार, बिना किसी वैज्ञानिक आधार अथवा सिद्धान्त के, किसी भी शासन के सिपुर्द कर देने से कैसे उनकी आर्थिक उन्नति हो सकेगी।

यह बात नहीं है कि इस प्रकार के दोष केवल सिकन्दरहयातखाँ योजना में ही हों, यीट्स-योजना व कूपलैण्ड-योजना भी जो वैज्ञानिक होने का दावा रखती है, इन दोषों से मुक्त नहीं हैं, यद्यपि उनमें ये दोष इतने बड़े परिमाण में नहीं हैं। यीट्स-योजना ने नदियों और उनके द्वारा सींचे जाने वाले मैदानों को विभाजन का आधार माना है, परन्तु यह समझना कठिन है कि किस सिद्धान्त के अनुसार उन्होने नदी के 'डेलटा' को उसके 'बेसिन' से अलहदा करने का प्रस्ताव रखा है—क्योंकि उनकी योजना में बगाल को गगा-यमुना के प्रदेश से अलग रखा गया है। आर्थिक विकास की किसी भी सुगठित योजना के सम्यक् विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक प्रमुख नदी द्वारा सींचा जाने वाला समस्त प्रदेश एक ही शासन के अन्तर्गत रखा जाय। इसके अतिरिक्त, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सारा दक्षिणी पठार एक ही क्षेत्र मान लिया गया है। इस सबध में श्री० मुन्शी ने लिखा है, "प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से भी प्रो० कूपलैण्ड की क्षेत्रीय योजना अर्थहीन है। नदियों के आधार पर विभाजन की चर्चा में वह नदी द्वारा सींचे जाने वाले प्रदेश को प्रायः बिलकुल भूल गये हैं। राजपूताना सिधु नदी से सम्बद्ध नही है। बगाल, जिसे उन्होंने गगा के मैदान से अलहदा कर दिया है, गगा और उसकी सहायक-नदियो पर ही निर्भर है। उडीसा को उन्होंने गगा के डेलटा के साथ जोड़ा है, पर उसकी अपनी नदिया बिल्कुल भिन्न हैं, गगा के मैदान से अथवा राजपूताने के देशी राज्यों से उनका कोई सबध नहीं है। दक्षिण का तो अपना कोई

अलहदा नदियों का समूह है ही नहीं।"[१]

यीट्स और कूपलैण्ड दोनो ने अपनी क्षेत्रीय योजनाओ की तुलना अमरीका की 'टेनेसी-वैली-ऑथोरिटी' से की है, परन्तु यह तुलना ग़लत और भ्रमोत्पादक है। पहिली बात तो यह है कि टी॰ वी॰ ए॰ के प्रयोगो की सफलता के संबध मे सभी लोग एकमत नहीं हैं। कुछ तो उसके सबध में बहुत सन्देह-शील भी हैं। इसमे तो संदेह नही कि इस प्रयोग में आरम्भ मे तो असफलता ही मिली थी। एक समय आ गया था जब टेनेसी-नदी का बहुत बड़ा हिस्सा धूल से भर गया था, एक सशक्त केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से ही टी॰ वी॰ ए॰ को इस भयावह स्थिति से मुक्ति मिल सकी। टी॰ वी॰ ए॰ के सबंध मे बहुत से राजनैतिक विचारको का तो यह मत है कि यह संघ-शासन द्वारा एक ऐसे क्षेत्र मे अनधिकार हस्तक्षेप है, जो वस्तुतः स्थानीय शासन के अन्तर्गत होना चाहिए। दूसरे, जो लोग टी॰ वी॰ ए॰ का उदाहरण हमारे सामने रखते हैं वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि यह प्रयोग केन्द्रीकरण की दिशा मे है, न कि अकेन्द्रीकरण की, जब कि हमारी क्षेत्रीय योजनाओ के विधाता केन्द्र की शक्ति को ही चकनाचूर करके क्षेत्रो मे बाट देना चाहते हैं। अमरीका मे टी॰ वी॰ ए॰ की स्थापना का परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न राज्यों ने, जिनकी सीमाओ के अन्तर्गत टेनेसी नदी का प्रवाह है, अपनी सार्वभौम सत्ता का एक अश एक ऐसी केन्द्रीय सरकार के हाथों सौप दिया है, जो बहुत से मामलो मे अमरीका की केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत है। इस प्रयोग से अमरीका में केन्द्रीय सरकार की शक्ति तनिक भी कम नहीं हुई है, बल्कि, यह कहना चाहिए, कुछ बढ़ ही गई है। तीसरी बात जो इस संबध मे हम ध्यान मे रखें वह यह है कि टी॰ वी॰ ए॰ का अधिकार-क्षेत्र बहुत ही सीमित है। उसका काम केवल यही है कि वह बाढ़ की रोक-थाम करे, नदी मे यातायात के साधनो की उन्नति करे, और विद्युत्-शक्ति का विकास और प्रसार करे। इसके विपरीत क्षेत्रीय योजना के समर्थक यह चाहते हैं कि क्षेत्रीय इकाइया ही सार्वभौम-सत्ता की वास्तविक केन्द्र बने।

एक बहुत बड़ा प्रश्न जो इस संबध में उठता है, वह यह है कि क्या केवल आर्थिक क्षेत्रवाद (economic regionalism) को ही राजनैतिक इकाइयो के निर्माण का एकमात्र आधार माना जा सकता है? और यदि ऐसा किया भी गया तो क्या यह भारतीय परिस्थितियों मे व्यावहारिक होगा? हिन्दुस्तान को यदि हम आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त के आधार पर

१—के॰ एम॰ मुन्शी: The Indian Deadlock, पृ॰ १०२–४।

कई भागो में बाटना चाहें, तो हम देखेंगे कि हमारी सीमा-रेखाएं भाषा, इतिहास, सस्कृति आदि की सीमा-रेखाओं को स्थान-स्थान पर काट देंगी, और समाज-शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी यह जानता है कि किसी भी देश के सीमा-निर्माण में इन तत्त्वो का भी कितना अधिक महत्त्व है। ऐसी स्थिति में हमे यह पूछने का अधिकार है कि हिन्दुस्तान के आर्थिक विकास की दृष्टि से क्या क्षेत्रवाद ही एकमात्र, अथवा सर्वश्रेष्ठ, मार्ग है? जैसा कि स्वयं प्रो० कूपलैण्ड ने माना है, क्षेत्रो द्वारा जो काम किया जा सकता है वह विभिन्न प्रातो के सलाह-मशविरे और सहयोग से भी हो सकता है। इन परिस्थितियों में, भारतीय शासन-तंत्र में, जो अब भी कुछ कम जटिल नही है, क्षेत्रों की वृद्धि विशेष वाछनीय नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि प्रातीय 'इकाइयां' अपना वर्त्तमान स्वरूप और सत्ता कायम रखेंगे—और यीट्स और कूपलैण्ड दोनों यही चाहते हैं—तब तो क्षेत्रो की आवश्यकता और भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त भी, एक और प्रश्न जो पूछा जा सकता है वह यह है कि आर्थिक क्षेत्रवाद का सिद्धात समस्त देश पर लाद देने की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी उपादेयता स्पष्ट ही कुछ भागों तक ही सीमित है? उसकी आवश्यकता काश्मीर के थोडे से भाग, समस्त पजाब, सीमा-प्रात के पूर्वी भाग, राजपूताना के उत्तर-पश्चिमी भाग और सिंध के लिए तो मानी जा सकती है, पर उसके आधार पर सारे देश की सीमाए बदल डालना, और हिन्दू बहु-संख्यक क्षेत्रो का निर्माण कर लेना--जहा कि उसकी बिल्कुल आवश्यकता नही है—बहुत न्यायसंगत नही जान पडता।

सच तो यह है कि क्षेत्रवाद के आधार पर देश को कई भागो में बाट देना एक बिल्कुल ही अ-वैज्ञानिक कार्य होगा। वैसे देखा जाय तो आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त को या तो प्रो० कूपलैण्ड ने ठीक से समझा नहीं है, या जान-बूझ कर उसके अर्थ को तोडने-मरोड़ने की कोशिश की है! आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त को यदि हम उसके सही रूप मे लें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि इस दृष्टि से समग्र, अविभाज्य, हिन्दुस्तान एक आर्थिक क्षेत्र (region) है, उसका कोई एक भाग विशेष नहीं—उसके प्रत्येक भाग को अपने आर्थिक विकास के लिए अन्य भागो पर निर्भर रहना पडता है, परन्तु यदि हम समस्त देश को लें तो वह आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से एक स्वय-सपूर्ण और स्वावलम्बी इकाई माना जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से भी विश्व की प्रवृत्ति अब एक बडी आर्थिक इकाई की कल्पना की ओर अग्रसर हो रही है—अमरीका के महाद्वीपों, मध्य-पूर्व के देशों, यहा तक कि सतत-

युद्धोन्मुख यूरोप मे भी, यह प्रवृत्ति हम स्पष्ट देख सकते हैं। हिन्दुस्तान तो ससार के उन थोडे से देशो मे से है—इस संबध मे केवल दो अन्य देशो, अमरीका के सयुक्त-राज्य और सोवियट रूस, का नाम लिया जा सकता है—जो भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण इकाई माने जा सके। हिन्दुस्तान मे एकता की यह भावना काफी विकास भी पा चुकी है—देश के एक कोने को दूसरे कोने से जोडने वाली सडके और रेले, तार और डाक के साधन, सामान्य मुद्रा और बैंक, सामान्य नियम और अनुशासन, और एक प्रात से दूसरे प्रात तक फैलता रहने वाला चिर-यात्रा-शील मानव-समुदाय, कलकत्ते के सिख टैक्सी-ड्राइवर और बिहारी रिक्शावाले, देहली की सेक्रेटेरिएट के सहस्र-सहस्र मद्रासी क्लर्क, बम्बई के 'भय्ये'—ये सब प्रतिक्षण एकता की उन कडियो को मजबूत बनाते रहते हैं। यदि हमने क्षेत्रीय विभाजन के सिद्धांत के आधार पर देश को विभिन्न भागो मे बाट दिया तो वे समस्त आधार-तत्त्व जिन पर एक देश-व्यापी आर्थिक योजना की स्थापना की जा सकती है, बुरी तरह से चूर-चूर हो जायगे।

योजना का सांस्कृतिक पक्ष

क्षेत्रीय योजना मे सास्कृतिक प्रश्नो को तो बिल्कुल ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यदि इस योजना के अनुसार देश को कई भागो मे बाट दिया गया तो उसमे भाषा, इतिहास, संस्कृति, परम्पराए आदि, जिनकी किसी भी राजनैतिक पुनर्निर्माण मे उपेक्षा नही की जा सकती, बिल्कुल ही उपेक्षित रह जायगे। इस सबध मे सिकन्दर योजना तो बहुत ही दोषपूर्ण है। उसमे, क्षेत्र न० ५ मे, गुजराती और मलयालम भाषा-भाषियो को एक साथ रख दिया गया है, पर मराठी, तेलगू और कन्नड भाषा-भाषी विभिन्न क्षेत्रो मे बाट दिए गए है। यीट्स व कूपलैण्ड की योजनाओ मे भी हम सास्कृतिक प्रश्नो की अवहेलना के कई उदाहरण पाते हैं। राजपूताना, इतिहास, परम्पराओ और सस्कृति की दृष्टि से, एक सांस्कृतिक इकाई बन गया है, पर प्रो० कूपलैण्ड उसे तीन भागो मे बाट देना चाहते है। उसकी दक्षिणी रियासते, बासवाडा, दाता, डूगरपुर और पालनपुर वे दक्षिण मे मिला देना चाहते हैं, पूर्वी रियासते, भरतपुर, बूदी, धौलपुर, करौली और कोटा, गगा-यमुना के प्रदेश के साथ सबद्ध होगी, और शेष रियासते सिधु नदी के मैदान से जोड दी जायगी। परन्तु, केवल राजपूताना ही एक ऐसी सांस्कृतिक इकाई नहीं है जिसका इस प्रकार से विभाजन किया गया हो। यदि प्रमुख नदियो के द्वारा सींची जाने वाली भूमि को ही विभाजन का आधार बनाया गया, तो सिखो को

भी दो विभिन्न क्षेत्रों मे बाटना होगा—क्योंकि अम्बाला डिवीजन, अलवर और जिद की रियासतों के सहित गगा-यमुना के द्वारा सींचा जाता है, न कि सिंधु के। यदि उसे सिधु नदी के प्रदेश में रखा गया तो आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धात की उपेक्षा होगी। उडीसा की समस्या भी काफी जटिल है। वह वैसे तो एक छोटा-सा प्रांत है, परन्तु सास्कृतिक दृष्टि से उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसके किसी भी प्रकार के निकट, जातिगत अथवा सास्कृतिक, सबध न तो बंगाल से है, और न मद्रास से। ऐसी स्थिति मे यह निश्चय करना कठिन होगा कि उसे किस क्षेत्र में रखा जाय। जहा तक उसकी नदियों का सबंध है, महानदी उसका सबध मध्य-प्रात से जोडती है परन्तु ब्राह्मणी का प्रवाह छोटा नागपुर की ओर है। कूपलैण्ड ने उडीसा को गगा नदी के प्रदेश से संबद्ध किया है, पर किस आधार पर उन्होने ऐसा किया है, यह नही लिखा।

योजना का सांप्रदायिक पक्ष

परन्तु, क्षेत्रीय योजना यदि हमारी साप्रदायिक समस्या को सुलझा पाती है, तब तो हम उसकी दूसरी कमियां को बर्दाश्त कर लेने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। इस दृष्टि से, वह मुसल्मानो की उनके लिए अलहदा प्रदेशो की माग को, सिधु और डेलटा प्रदेशों के निर्माण के द्वारा, जो पाकिस्तान और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान का पर्याय होंगे, पूरा तो करती है, बल्कि उनकी माग से कुछ अधिक ही उन्हे दे देती है, परन्तु मुस्लिम सस्कृति के सरक्षण की दृष्टि से इन प्रदेशों की स्थिति को कमजोर बना देती है। क्षेत्रीय योजना इन प्रदेशों की हिंदू आबादी की सख्या को बहुत बढा देती है। इस संबंध में सख्याओं पर एक तुलनात्मक दृष्टिपात कर लें। जब कि राजाजी की योजना के पाकिस्तान में हिंदू और मुसल्मानो की सख्या का अनुपात पाकिस्तान मे १७:८३ और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान मे २९:७१ होगा, और मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की कल्पना के अनुसार वह क्रमशः ३०:७० और ४५:५५ होगा, कूपलैण्ड-योजना उसे बढा कर ४०:६० और ४५:५५ कर देगी। यह समझना कठिन है कि मुस्लिम प्रदेशों मे हिंदुओ की सख्या बढा देने से साप्रदायिक समस्या के सुलझने मे सहायता कैसे मिलेगी। इससे हिंदू क्षेत्रो मे मुसल्मानो की सख्या अवश्य कम हो जायगी जिसका परिणाम यह होगा कि वे लोग, बिना मुसल्मानों द्वारा किसी रोक-टोक के, अपनी सस्कृति का विकास कर सकेंगे, परन्तु मुस्लिम-क्षेत्रों में हिंदुओं की सख्या बढा देने से तो उनकी समस्या अधिक जटिल ही हो जायगी, क्योंकि इतनी बडी सख्या वाला वर्ग अवश्य इन क्षेत्रो के शासन और धारा-सभाओ मे एक प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त करना चाहेगा।

मुस्लिम-सस्कृति के विकास के प्रश्न को भी यदि हम एक ओर रख दें, तो भी क्या इस योजना से देश का सांप्रदायिक वातावरण कुछ अधिक शुद्ध बन सकेगा ? जब कि क्षेत्रोके निर्माण का आधार ही सांप्रदायिक है—सारा आयोजन ही दो हिंदू क्षेत्रो के 'सतुलन' मे दो मुसल्मान क्षेत्रो को खडा करने का है—तो यह निर्विवाद है कि ये दोनों समूह, शान्ति से रहने के बदले, आपस मे लड़ते-झगडते रहेंगे। इसका परिणाम देश के वातावरण पर बुरा ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी आन्तरिक सांप्रदायिक समस्या तो बनी ही रहेगी। हिन्दू क्षेत्रो की शासन-व्यवस्था दिन-प्रति-दिन हिन्दू-संस्कृति के प्रभाव में आती जायगी, इससे वहां की मुसल्मान जनता का अधिकाधिक क्षुब्ध होना स्वाभाविक होगा, और उनकी इन भावनाओं की प्रतिक्रिया मुसल्मान-क्षेत्रो द्वारा हिन्दू-क्षेत्रों के प्रति बरती जाने वाली नीति पर भी अवश्य पडेगी। यदि मुस्लिम-क्षेत्रो मे रहने वाले हिन्दू और मुसल्मानो के आपसी सबध विगडते रहे, तो यह सभव है कि उनका यह संघर्ष एक बडे गृह-युद्ध का रूप ले ले। इन क्षेत्रो मे हिन्दुओ और मुसल्मानो की सख्या मे विशेष अन्तर भी नही होगा—एक मे उनका अनुपात ४० : ६० व दूसरे मे ४५ : ५५ होगा। ऐसी स्थिति मे इस प्रकार के गृह-युद्ध की सभावना और भी बढ़ जाती है। और क्योंकि इन क्षेत्रो की अपनी सार्वभौम-सत्ता होगी, एक निर्बल केन्द्रीय सरकार के लिए उन पर किसी प्रकार का दबाव डालना भी असभव ही होगा। सच तो यह है कि ऐसे निर्बल केन्द्रीय शासन के द्वारा इस प्रकार के हस्तक्षेप की कल्पना भी नही की जा सकती। इन परिस्थितियो में हम तो केवल यही सोच सकते हैं कि इग्लैण्ड का साम्राज्यवादी पजा इस केन्द्रीय शासन का मुख्य आधार होगा, और देश में किसी भी प्रकार की अशाति अथवा अराजकता की स्थिति मे वह सार्वभौमता के उस निर्बल खोल को बडी आसानी से फाड़ कर फेंक देगा, जिसमे इस योजना के समर्थक क्षेत्रीय शासन को मढ देना चाहते हैं।

योजना का राजनैतिक पक्ष

क्षेत्रीय योजना की समस्त प्रवृत्ति यह दिखाई देती है कि राष्ट्रीयता की भावना के टुकडे-टुकडे करके उसे छोटी-छोटी भौगोलिक सीमाओं मे बांट दिया जाय। इस पर भी क्षेत्रीय योजना भारतवर्ष की एकता को कायम रखने का दावा करती है ! सच तो यह है कि इससे बडे मिथ्या दावे की कल्पना शायद ही की जा सके। क्षेत्रवाद हिन्दुस्तान को चार राज्यों, प्रो० कूपलैण्ड के शब्दो मे 'चार महान् देशों' में बांट देना चाहता है, और उनसे अपेक्षा करता है

कि प्रत्येक अपनी विभिन्न राष्ट्रीयता का विकास करे। परन्तु, राष्ट्रीयता की भावना क्या इस प्रकार, कृत्रिम साधनों द्वारा, विकास पा सकेगी ? समस्त क्षेत्रीय विभाजन अवैज्ञानिकता और स्वेच्छारिता पर निर्भर है। वह सांस्कृतिक समन्वय और आर्थिक सामान्य-हितों के सर्वथा विरुद्ध जाता है। ऐसी स्थिति में जनता से यह आशा करना कि वह डेल्टा-प्रदेश अथवा ब्लॉक न० ४ के प्रति रातों-रात एक राष्ट्रीयता की भावना को परिवर्धित कर लेगी, एक दुराशा-मात्र है। क्षेत्रीय विभाजन का स्पष्ट परिणाम तो यही निकलेगा कि जिस राष्ट्रीय भावना का विकास हम पिछली आधी शताब्दी में, त्याग और साधना, बलिदान और कष्ट सहन के रास्ते कर पाये हैं उसे एक गहरी ठेस पहुँचेगी, और हममें प्रांतीयता की भावना का विकास होगा। प्रांतीयता की भावना हममें काफ़ी गहरी है भी। आज तो वह राष्ट्रीयता के वेग में छिपी हुई है, पर देश की सजीव एकता की भावना जब हमारे सामने नहीं होगी, तब इन कृत्रिम क्षेत्रों के लिए उसे निर्बल बना पाना सर्वथा असंभव होगा। तब तो प्रांतीयता ही हमारी आज की राष्ट्रीयता का स्थान ले लेगी, और, एक बार जब प्रांतीयता की भावना दृढ होने लगेगी, तब क्षेत्रीय विभाजन की जड़ें अपने आप उखड़ती चली जायगी। बंगाली और आसामी कब तक यह बर्दाश्त करेंगे कि वह एक निर्जीव डेल्टा-प्रदेश से संबद्ध रहें। वह स्वभावतः ही आजाद होना चाहेंगे। इसी प्रकार, पंजाब और सिंध और सीमा-प्रांत भी सिंधु-क्षेत्र से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करेंगे, और युक्तप्रांत, व बिहार व उडीसा अपने अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेंगे। देश को चार भागों मे बांटते ही बंटवारे की यह प्रवृत्ति इतना उग्र रूप ले लेगी कि बहुत थोडे अरसे मे ही हिन्दुस्तान कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट जायगा—कहीं तो एक आंध्र-राज्य की सृष्टि होगी, कहीं उत्कल का निर्माण होगा, कहीं विदर्भ और महाकोशल अपनी समस्त ऐतिहासिक परम्पराओं को लेकर पुनर्जन्म ग्रहण करते दिखाई देंगे, और ये सब स्वतंत्र कहलाने वाले 'राज्य' दूरस्थ ब्रिटेन के इशारे पर नाचेंगे।

क्षेत्रीय विभाजन की समस्त योजनाओं को सभी दृष्टिकोणों से देखने के बाद मेरा तो यह निश्चित मत है कि, उनकी तुलना में, पाकिस्तान कहीं अधिक अच्छा है। पाकिस्तान में कम-से-कम एक हिन्दू और एक मुसलमान दो स्वतंत्र राज्यों की कल्पना तो की गई है, जो अपनी-अपनी संस्कृति के संरक्षण और विकास में दत्तचित्त हो सकेंगे। पाकिस्तान के बन जाने पर भी हम यह आशा तो कर ही सकते हैं कि किसी दिन ये दोनों स्वतन्त्र राज्य अपने सांप्रदायिक वैमनस्य से ऊपर उठ कर, जर्मनी और आस्ट्रिया के समान, एक राजनैतिक

एकता मे आबद्ध हो सकेंगे। यह बहुत संभव है कि देश की भौगोलिक एकता, आर्थिक हितो की समानता और रक्षा की आवश्यकताए उन्हें एकता की ओर बढ़ने पर मजबूर कर दे। मेरे आस्ट्रियन मित्रो का कहना है कि यद्यपि आस्ट्रिया सांस्कृतिक दृष्टि से एक बिल्कुल स्वतन्त्र और सपूर्ण इकाई है, परन्तु आर्थिक आवश्यकताएं उसे सदा ही जर्मनी के साथ एक निकटतम राजनैतिक सबंध बनाये रहने पर विवश करेंगी, उसके लिए उसे सास्कृतिक दृष्टि से चाहे कितना ही त्याग क्यो न करना पड़े। मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान की स्थिति भी बिल्कुल वैसी ही होगी। शायद हम पाकिस्तान को जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को दिये जाने वाले आश्वासनों से कहीं अधिक सबल और प्रामाणिक आश्वासन दे सकेंगे। इसके अतिरिक्त, पाकिस्तान की मुस्लिम-माग के पीछे कम-से-कम एक गहरा विश्वास तो है—चाहे उसकी गहराई कितनी ही गलत क्यो न हो और चाहे उस विश्वास से हम कितने ही क्षुब्ध क्यो न हों—कि मुसल्मान एक अलहदा राष्ट्र हैं। ऐसी दशा मे यदि पाकिस्तान की स्थापना की गई, तो वह कम-से-कम एक 'राष्ट्रीय' माग की पूर्त्ति के रूप मे तो होगा, और 'राष्ट्रीयता' की यह भावना, और सब विरोधी परिस्थितियो के होते हुए भी, पाकिस्तान के स्थायित्व का एक सबल आधार बन सकेगी, परन्तु, क्षेत्रीय विभाजन की योजना के पीछे न तो भविष्य के लिए कोई आशा होगी और न निकट-वर्त्तमान में किसी प्रकार की न्याय की भावना। जिस प्रकार के राज्य की कल्पना प्रो० कूपलैण्ड ने की है—जिसमें एक क्षेत्र के विरुद्ध दूसरा क्षेत्र, एक संप्रदाय के विरुद्ध दूसरा संप्रदाय, एक प्रांत के विरुद्ध दूसरा प्रांत होगा—वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपना कोई स्थान बना सकेगा, यह एक संदेहास्पद प्रश्न है। उसका तो अपना आन्तरिक वैषम्य—क्षेत्रीय, साप्रदायिक, जातिगत—इतना अधिक होगा कि वह अन्य देशो, संभवतः ब्रिटेन, के हाथो में एक खिलौना-मात्र बना रहेगा। कौन कह सकता है कि यह स्थिति हमारे देश के लिए वांछनीय अथवा स्पृहणीय होगी?

: ११ :

(अ) भारतवर्ष और संघ-शासन

सांस्कृतिक आधार-भूमि

भारतवर्ष की सास्कृतिक एकता इतिहास का एक निर्विवाद तथ्य है। इस एकता की नींव उस दिन पड़ी जिस दिन आर्यों ने अपनी अध्यात्म-प्रधान सस्कृति की व्यापक परिधि मे इस देश के आदिम-निवासियों को समाविष्ट करने का निश्चय किया। प्रागैतिहासिक-काल की भारतीय सस्कृति आर्य और द्राविड़ सस्कृतियों का समन्वय थी। आर्यों ने न केवल द्राविड़ जाति के देवताओं और उनकी उपासना की पद्धति को अपनाया, पर उनकी भाषा और सस्कृति का भी बहुत अधिक प्रभाव उनकी अपनी विचार-धारा पर पड़ा। क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानो का मत तो यह है कि प्राचीन भारत में यद्यपि आर्यों ने राजनैतिक प्रमुखता प्राप्त कर ली थी, पर जिस वस्तु को आज हम प्राचीन भारतीय सस्कृति के नाम से जानते हैं, उसमें द्राविड़ सस्कृति का प्राधान्य था। शिव और दुर्गा आदि की पूजा का आरम्भ इस सास्कृतिक समन्वय के बाद ही हुआ। विदेशों से जो तत्त्व, शक और हूण, कुशान और सीथियन आदि, भारतवर्ष में आते गये वे सब इस आर्य-द्राविड़ संस्कृति के अविभाज्य अङ्ग बनते चले गये। उन्होंने एक-दो पीढियों के बाद ही भारतीय देवताओं की आराधना आरम्भ कर दी, और अपने विदेशी नामों को छोड़कर भारतीय नामों को अङ्गीकार किया। आर्य-द्राविड़ और विदेशियों की इस अनवरत-शृङ्खला द्वारा लाई जाने वाली मिश्री-यूनानी-असीरियन-बैबीलोनियन सस्कृतियों के समन्वय से वह सस्कृति बनी जिसे आज हम हिंदू-संस्कृति के नाम से जानते हैं।

मुस्लिम-आक्रमण के पहिले इस हिंदू-संस्कृति का रूप स्पष्ट हो चला था, और उसकी बाह्य-रेखाओ मे कुछ कठोरता आने लगी थी। फिर भी समन्वय की शक्ति मिटी नहीं थी। दक्षिण भारत में जहा इस्लाम ने शान्तिपूर्ण उपायों से प्रवेश किया, हिंदू और मुस्लिम सस्कृतियों का समन्वय, प्रधानतः धार्मिक क्षेत्र मे, बहुत जल्दी आरम्भ होगया था, परन्तु उत्तर भारत में इस्लाम का झंडा लेकर जो लोग आये उनके अर्द्ध-सभ्य, और कभी-कभी तो वहशियाना, तरीकों

का असर हिंदुओं पर अच्छा नही पडा, और कुछ दिनो तक उन्होंने आत्म-रक्षा की दृष्टि से यही उचित समझा कि वे अपने समाज के चारो ओर कट्टरता की एक किलेबन्दी कर लें, परन्तु आक्रमण की आंधी के थम जाने पर मुस्लिम-संस्कृति की लहरे इस चहारदीवारी की नींवो को चारो तरफ़ से खोखला बनाने लगी, और धीरे-धीरे न केवल हमारी राजनीति ही मुसल्मानो के प्रभाव मे आगई पर हमारे धार्मिक विचार और आचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज, भाषा और साहित्य, मूर्त्तिकला और चित्रकला, सभी पर उनकी सस्कृति का गहरा प्रतिबिम्ब पडा, और साथ ही जो मुसल्मान बाहर से आये थे, और आते गए, वे भी इस देश की सस्कृति के प्रभाव से अपने कोमुक्त नही रख सके। आज जिस चीज को हम भारतीय-सस्कृति, अथवा हिंदुस्तानी तहजीब, के नाम से पुकारते हैं, उसमें हिंदू और मुस्लिम प्रभाव ताने-बाने के समान एक-दूसरे में गु थ-मिल गए हैं, और बगैर भारतीय-सस्कृति के तार-तार किये हुए, उन्हे एक दूसरे से अलहदा नही किया जा सकता।

हमारे देश मे जातियो और भाषाओ की विभिन्नता के होते हुए भी सास्कृतिक एकता का विकास हो सका है, विभिन्न प्रादेशिक संस्कृतिया अपने व्यक्तित्व को कायम रखते हुए भी, संगीत के स्वरो के समान, एक-रूप हो सकी हैं। जैसा कि एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है, "भारतवर्ष एक सस्कृति का नाम है, न कि एक जाति का,"[1] और प्रसिद्ध पुरातत्ववेता सर हर्बर्ट रिजले के शब्दो मे, "शारीरिक और सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म संबंधी, अनेको विभिन्नताओं के होते हुए भी हिमालय से कन्याकुमारी तक देश का समस्त जीवन एक सूत्र में ही पिरोया गया है।[2]" श्री० मुन्शी के शब्दो मे, "भारत का साहित्य एक है, क्योकि उसके सस्कार कुछ अलग-अलग नही है। जिस तरह आकाश के अनगिनत तारे गिनने की उतावली में अज्ञानी लोग उनकी ताल पर सधी हुई चाल की परीक्षा नही कर सकते, उसी तरह विशाल अन्तर, विभिन्न लिपियों और भाषाओ के भेद, की वजह से भारतीय साहित्य की असली एकता को भी नही देख सकते।" एक अन्य स्थान पर श्री० मुन्शी लिखते हैं,-- "सारे देश के साहित्य का एक ही सस्कार में से जन्म हुआ है। उसमे एक ही किस्म के बीज बोये गए है, एक ही तरह का खाद डाला गया है। इस प्रकार एक ही किस्म के अकुर, क्षेत्र की विशेषता की मात्रा से थोडा-बहुत अलगाव दिखलाते हुए भी विचित्र रगों वाले एक ही प्रकार के रस-समृद्ध परिपाक से

१—ओ'मैली—Modern India and the West.

२—रिज़ले—The People of India

लहलहा रहे है। भारत का साहित्य एक था, एक है और एक रहेगा।"[1]

इस ऐतिहासिक और सास्कृतिक एकता को कायम रखना आज की राजनैतिक परिस्थिति में और भी आवश्यक होगया है। हमारा देश आज एक शक्तिशाली साम्राज्य के साथ सघर्ष कर रहा है, एकता के आधार पर ही इस सघर्ष को सफल बनाया जा सकता है। जिन लोगो का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान गहरा है उनका अनुमान है कि परिस्थितिया अब ऐसी आगई हैं कि हिंदुस्तान की आजादी को बहुत दिनों तक रोका नही जा सकता। यह मान लेने पर कि हिंदुस्तान की आजादी इतना निकट आगई है भारतीय एकता को बनाये रखने का हमारा दायित्व और भी बढ़ जाता है। आजाद हिंदुस्तान का विश्व की राजनीति मे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग होगा, इसमें तो सदेह है ही नही। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गुरुत्व-केन्द्र अटलांटिक से प्रशात-महासागर मे आजाने से हिंदुस्तान का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। भविष्य का महायुद्ध प्रशात महासागर में होगा और उसमें हिंदुस्तान को एक महत्त्वपूर्ण भाग लेने पर विवश होना पड़ेगा। पूर्वी द्वीप-समूह में जिस विद्रोह की लपटे आज अपने पूरे वेग पर हैं, भारतीय राजनीति का 'एशिया छोडो' का ताजा नारा अपने अन्तराल में उसी के विस्फोट को लिये है। आज हिंदुस्तान विवश हो, आज अंग्रेजी और डच साम्राज्यवाद एशियायी आजादी की इस जंग को कुचल सकें, पर आजाद होजाने पर हिंदुस्तान इन सब प्रश्नो को यों ही नहीं छोड देगा। हिंदुस्तान की आजादी एशिया की आजादी में निहित होगी। गुलाम एशिया और आजाद हिंदुस्तान की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। हिंदुस्तान को एशिया की आजादी के लिए भी लड़ना होगा। परिस्थितियों का सारा सकेत इसी दिशा में है कि अतर्राष्ट्रीय राजनीति में हिंदुस्तान अपने लिए एक शक्तिशाली स्थान बना ले।

पिछले दो महायुद्धों, और उनके बीच के अशातिपूर्ण वर्षों में यह बिल्कुल ही स्पष्ट होगया है कि किसी नि.शक्त राष्ट्र के लिए अपनी तटस्थता के निश्चय में आश्वस्त रहना शेखचिल्ली के स्वप्न जैसा है। छोटे राष्ट्रो का अब कोई भविष्य नहीं रह गया है। भविष्य या तो अमरीका और रूस जैसे बड़े राष्ट्रों के हाथ मे है, जिन्हें प्रकृति ने ही स्वय-सपूर्ण बना दिया है, या भौगोलिक दृष्टि से समीप-स्थित और आर्थिक दृष्टि से परस्परावलबी उन छोटे-छोटे राष्ट्रों के हाथ मे, जो अपनी राष्ट्रीय सार्वभौमता को भुलाकर एक राजनैतिक और आर्थिक सूत्र में आबद्ध हो सकते है। दक्षिण अमरीका की लैटिन रियासतें, पश्चिमी यूरोप के

१—के० एम० मुन्शी : भारतीय साहित्य और भाषा।

प्रजातंत्र देश, मध्य-पूर्व के अरब-राज्य आदि इस प्रकार के संघो का विकास कर सकते हैं। हिंदुस्तान अपनी सभावनाओं की दृष्टि से, अमरीका और रूस का समकक्ष है। वह यदि स्वतत्र हो, और अपने आर्थिक साधनो का समुचित विकास कर सके, तो उसकी गिनती संसार के महान् राष्ट्रो (Great Powers) मे हो सकेगी। अपने आर्थिक साधनों को विकास की चरम-सीमा तक पहुंचा देना इस महानता की आवश्यक शर्त्त होगी। प्रत्येक देश की राजनीति आज उसकी अर्थनीति के साथ सबद्ध है। देश भर मे फैले हुए इन राशि-राशि आर्थिक साधनो के समुचित विकास के लिए एक सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता होगी। आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक देश में इस प्रकार की सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता होती है, और जिन देशो मे वैसी सरकार नहीं है, वहा उसकी स्थापना करना पड़ती है। अंग्रेजी शासन से हमे जो एक अप्रत्यक्ष लाभ हुआ है, वह यह है कि उसने देश मे राजनैतिक व आर्थिक एकता की भावना को विकसित किया है। आज जब देश का भविष्य उसकी इस एकता पर निर्भर है, तब अंग्रेज़ी शासन के साथ उसे भी उखाड़ फेंकना आत्म-हत्या के समान होगा।

इसके साथ ही एक दूसरी बात भी हमे दृष्टि से ओझल नहीं कर देना है। केन्द्रीकरण के तत्वो के साथ-साथ हमारे देश मे अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी अपने प्रबल रूप मे है। उसकी जडे इतिहास की गहराई मे हैं, यद्यपि पिछले पचास वर्षों मे उसका बहुत अधिक विकास हुआ है। ईसा से सात शताब्दी पहिले, ज्ञात भारतीय इतिहास के प्रारभिक काल मे, हमे सोलह महाजन पदो, अथवा स्वतन्त्र राज्यो का वर्णन मिलता है, और उनकी जो सीमाए थीं एक हद तक उनकी ही पुनरावृत्ति हम मुग़ल और अंग्रेज़ी साम्राज्यो के प्रान्तों में भी पाते हैं। जब कभी एक महान् साम्राज्य का विकास होता है—और हमारे देश के लम्बे इतिहास मे ऐसे युग बहुत अधिक नहीं हैं—जनपदो की ये सीमा-रेखाए धुंधली पडती जाती हैं, और मिट भी जाती हैं, पर साम्राज्यो के ढहते ही वे फिर एक स्पष्ट रूप ले लेती हैं। सास्कृतिक दृष्टि से इस प्रश्न को देखे तो हमे पता लगेगा कि भारतीय सस्कृति की व्यापक परिधि के अन्तर्गत अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व लिए एक दर्जन से अधिक सस्कृतिया हैं। बगाल और महाराष्ट्र, पजाब और गुजरात, सिध और मलयालम, उड़ीसा और तामिलनाड मे सस्कृति का मौलिक भेद नहीं है, यह कहना वस्तुस्थिति की अवहेलना करना है। हमारे देश की प्रान्तीय सस्कृतियो की विभिन्नता एक ठोस ऐतिहासिक तथ्य है। सच तो यह है कि हमारे देश में संस्कृति की विभिन्नताओ का मुख्य आधार

धार्मिक उतना नहीं है जितना भौगोलिक। बंगाली हिन्दू और बंगाली मुसलमान में भेद करना कठिन है, पर बंगाल के हिन्दू और पंजाब के हिन्दू में बड़ी आसानी से भेद किया जा सकता है। महाराष्ट्र का एक मुसलमान उसी प्रदेश के हिन्दू के साथ अधिक घरेलूपन महसूस करता है, युक्तप्रांत अथवा सीमाप्रांत के मुसलमान के साथ कम। हमारी राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ बंगालियों का बंग-भूमि से प्रेम, मराठों का महाराष्ट्र की परम्पराओं और संस्कृति में गौरव की अनुभूति, गुजरातियों की गुजरात की जय-कामना, यहां तक कि उत्कल और विदर्भ, आंध्र और बुन्देलखण्ड, राजस्थान और मालव की अपनी स्थानीय-राष्ट्रीयता के भाव भी बढ़ते जा रहे हैं।

हिन्दू और मुसलमानों में संस्कृति का भेद उतना गहरा नहीं है, पर इन दोनों समाजों का अन्तर भी दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है, इसमें संदेह नहीं। यह अन्तर राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह कहना चाहिए कि राजनैतिक क्षेत्र में वह उतना गहरा नहीं है, जितना सांस्कृतिक क्षेत्र में। राजनैतिक क्षेत्र में तो एकता के प्रयत्न लगातार जारी हैं, पर हिन्दुओं और मुसलमानों की सांस्कृतिक विभिन्नताएं बढ़ती जा रही हैं। भाषा के क्षेत्र में हिन्दुस्तानी, अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी, का माध्यम लेकर समन्वय के जितने प्रयत्न हुए, वे सभी असफल रहे हैं। हिन्दी और उर्दू का भेद बढ़ता जा रहा है— हिन्दुओं का झुकाव प्रायः संस्कृतमयी हिन्दी की ओर है, मुसलमान ऐसी उर्दू को जो फारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई है, अपनाते जा रहे हैं। बंगाल, गुजरात और सुदूर दक्षिण के मुसलमान भी अब अपनी प्रांतीय भाषाओं की एक अलग शैली का निर्माण करने में जुटे हैं। रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार का अन्तर भी बढ़ता जा रहा है। पोशाक और तहजीब, अदब और इखलाक की असमानताएं तो कुछ पहिले से थी ही, अब वे और भी स्पष्ट होती जा रही हैं। एक दूसरे के उत्सव और त्योहारों के प्रति उदासीनता का भाव बढ़ता जा रहा है, पर साथ ही अपने त्योहार और उत्सवों को अपने प्राचीन रूप में मनाने का आग्रह भी अब पहिले से अधिक प्रबल है। यह बढ़ती हुई सांस्कृतिक विभिन्नता ही मुस्लिम-लीग के दो-राष्ट्रों के सिद्धान्त की जड़ में है।

इस प्रकार, हमें एक ओर तो भारतवर्ष की राजनैतिक एकता की अनिवार्यता को मानना पड़ता है, और दूसरी ओर साम्प्रदायिक और प्रांतीय भेदों के आधार पर प्रस्थापित उसकी सांस्कृतिक विभिन्नता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता इन दोनों के बीच एक समन्वय

स्थापित करने की है। हम आज करते यह हैं कि अपनी राजनैतिक आकांक्षाओ के आवेश मे सांस्कृतिक विभिन्नताओ की अवहेलना करते हैं—दो राष्ट्रो के सिद्धान्तों के विरोध और अखण्ड हिन्दुस्तान के नारे के पीछे राष्ट्रीयता का यह अनसमझ जोश ही है। अपनी इन सास्कृतिक विभिन्नताओ का हमे खुले दिल से स्वागत करना चाहिए : वह हमारे गौरव की वस्तु है। यह विभिन्नता हमारी भारतीय सस्कृति को अधिक समृद्धिशाली ही बनाएगी। उसके लिए शर्त्त यही है कि हम अपने सांस्कृतिक प्रश्नों को राजनैतिक प्रश्नों से सबद्ध करने की ग़लती से बचें। दूसरे शब्दों मे, हम राजनैतिक इकाई और सास्कृतिक इकाई में भेद करना सीखें। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से समस्त भारतवर्ष का एक सशक्त केन्द्रीय-शासन के अन्तर्गत रहना अत्यन्त आवश्यक है, पर सास्कृतिक दृष्टि से उसे अनेकों इकाइयों में बांटा जा सकता है, बाटा जाना चाहिए। उनमें से कुछ प्रदेशो में मुस्लिम-सस्कृति का प्राधान्य होगा, अधिकाश मे हिन्दू-सस्कृति का, पर वे सब अपनी प्रांतीय सस्कृति का व्यक्तित्व लिए होंगे, और प्रत्येक में अपनी सस्कृति के चरम विकास के लिए पूरी सुविधाए होंगी। जिस दिन हम सास्कृतिक विविधता के साथ राजनैतिक एकता के सामंजस्य की स्थापना कर लेंगे, हमारी बहुत सी समस्याए अपने आप सुलझ जाएगी।

संघ-शासन के आधार-तत्त्व

यह सामञ्जस्य सघ-शासन के अन्तर्गत ही संभव है। सघ-शासन राजनीति के इतिहास में एक नया प्रयोग है, पर वह अपने छोटे से इतिहास में कई बड़ी-बडी समस्याओ को सुलझाने में सफल हुआ है। सच तो यह है कि सघ-शासन का विकास ही उन परिस्थितियो मे हुआ है, जो आज हमारे देश में मोजूद हैं। एक ओर तो कई राजनैतिक इकाइया रक्षा-सम्बंधी, राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियो के कारण मिल-जुल कर रहना चाहती हैं, और दूसरी ओर वह अपनी स्वतन्त्र सास्कृतिक सत्ता को खोने के लिए भी उद्यत नहीं होती। संघ-शासन के निर्माण मे जो प्रवृत्तिया काम करती हैं, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—(१) राष्ट्रीय एकता का एक आध्यात्मिक आदर्श, (२) सामान्य आर्थिक स्वत्वो के विकास व सामान्य समस्याओ को मिल-जुल कर सुलझा लेने की तत्परता और (३) रक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय साख की चिन्ता। प्रसिद्ध विधान-शास्त्री डाइसी ने सघ-शासन की सफलता के लिए दो शर्तों को आवश्यक माना है—एक तो यह कि वे सब राज्य जो सघ-बद्ध होना चाहते हों भौगोलिक, ऐति-हासिक, जातिगत आदि दृष्टियो से एक दूसरे के इतना निकट हों कि उनकी जनता के लिए एक सामान्य राष्ट्रीयता की अनुभूति सम्भव हो सके, और दूसरे,

इन राज्यों के निवासियों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में भी पूरा बोध हो। सघ-शासन, इस प्रकार, दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के समन्वय की दिशा में एक प्रयत्न है—उसमें केन्द्रीकरण की आवश्यकता और अकेन्द्रीकरण की अनिवार्यता दोनों एक-सी प्रबल होनी चाहिए। संघ-शासन में एक ओर तो वे सब आवश्यकताए पूरी हो जाती हैं जिनकी किसी भी जन-समूह को एक रखने के लिए आवश्यकता होती है, और दूसरी ओर सघ में शामिल होने वाली इकाइयो को आतरिक शासन में सम्पूर्ण स्वतत्रता और अपनी सस्कृति के विकास के लिए सम्पूर्ण सुविधाएं प्राप्त रहती हैं। एक ऐसे देश में जहा अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तिया प्रबल हों, सघ-शासन ही एक सशक्त केन्द्र की स्थापना करने में सफल होता है।

सघ-शासन के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही जाती हैं। विधान-वेत्ताओं का कहना है कि अधिक-से-अधिक अनुकूल वातावरण में भी सघ-शासन जटिलताओं और पेचीदगियों, कानूनी झगड़ों और अराजकता से मुक्त नहीं रखा जा सकता। कानून को अमल में लाने के संबध में तो वह शासन-तन्त्रों में सबसे निःशक्त माना जाता है। प्रसिद्ध कानून-वेत्ता जे० सी० मॉर्गन के शब्दों में "यदि हम एक इसी बात को ले लें कि सघ-शासन में 'आन्तरिक' सार्वभौमता, कानून और शासन दोनों क्षेत्रों में, केन्द्रीय शासन और उससे सबद्ध 'राज्यों' अथवा प्रान्तों में बट जाती है, हम आसानी से समझ सकेंगे कि उसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी 'निष्ठा' दो शासन-तन्त्रों को देना होती है और धर्म-पुस्तकों में दिए गए इस सिद्धान्त की सचाई कि कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा एक साथ नहीं कर सकता सब संघबद्ध समाजों के राजनैतिक इतिहास में मोटे अक्षरों में लिखी हुई है।" एक आस्ट्रेलियन लेखक, कैनेवे, का कहना है—"सघ-शासन की सबसे बड़ी खराबी यह है कि उसमें राष्ट्रीय सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना बहुत निर्बल पड़ जाती है।" उनका मत है कि आस्ट्रेलिया में सघ-शासन की स्थापना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ, और अमरीका के सयुक्त-राज्य में भी कानून के प्रति अवज्ञा की भावना, जो पिछले वर्षों में बहुत बढती जा रही है, इस द्वैध राजनिष्ठा के परिणाम स्वरूप ही इतनी प्रबल हो सकी है।

भारतवर्ष में सघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध तो और भी बहुत-सी बातें कही जाती हैं। यह कहा जाता है कि पिछले वर्षों में हिंदुस्तान में जो भी प्रगति हुई है वह इस कारण कि हमारे यहा एक सशक्त केन्द्रीभूत शासन विद्यमान था। उसके अभाव में राष्ट्रीयता की भावना का विकास पाना असभव

ही होता। एक सशक्त केन्द्रीभूत-शासन की स्थापना का ही यह परिणाम हुआ कि देश में एकता की भावना फैली, और एक अखिल-अखण्ड-अविभाज्य भारतवर्ष की कल्पना ने जन्म लिया। यह भी कहा जाता है कि अकेन्द्रीकरण की भावना भारतीय इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति और प्रधान शाप रहे हैं। कुछ विशेष-परिस्थितियो में पिछले १५० वर्षों में इस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखा जा सका है, और एक विरोधी क्रम की स्थापना की जा सकी है। हमे उस क्रम को अपनी चरम सीमा तक ले जाना है। अगले शासन-विधान के पीछे केन्द्रीकरण की भावना प्रमुख होनी चाहिये। अपने इतिहास के इस नाजुक अवसर पर यदि हमने इस प्रवृत्ति को रोका, और अकेन्द्रीकरणकी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया, तो हमारे देश मे फिर वही अराजकता फैल जाएगी, जो अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के पहिले थी। देश का विस्तार, संस्कृतियों की विविधता, आर्थिक आवश्यकताए, प्रांतीयता के भाव के प्रबल होजाने का खतरा, सांप्रदायिक वैमनस्य के बढने का डर, ये सब बातें ऐसी हैं जो एक सशक्त केन्द्रीय शासन की अनिवार्यता की ओर सकेत करती हैं। अतिम, और सबसे बड़ा तर्क जो हमारे देश मे सघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध दिया जाता है, वह यह है कि सघ-शासन की कल्पना हमारे इतिहास और परम्पराओं के विरुद्ध जाती है। जैसा कि लॉर्ड फ़िलीमोर ने १६ जून, १६३५ के हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स के अपने भाषण में कहा, "क्या वे लोग (जो सघ-शासन का समर्थन कर रहे हैं) भारतवर्ष के लंबे इतिहास मे कहीं भी संघबद्ध होने की प्रवृत्ति पाते हैं? क्या वे सोच सकते हैं कि जटिल पद्धतियो द्वारा चुनी गई धारा-सभाओं और गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों की यह भूल-भुलैया भारतीय परिस्थितियो मे पांच वर्ष भी टिक सकेगी?" सघ-शासन निःसन्देह एक जटिल शासन-तन्त्र है, और उसकी यह जटिलता और पेचीदगी, वैधानिक नियन्त्रणों और सतुलन का प्राधान्य, सत्ता के बंटवारे की कठिनाइयां, ये सब तथ्य उसके विरुद्ध बार-बार दोहराए जाते हैं। यह कहा जाता है कि यदि और कोई कारण उसकी सफलता के मार्ग में बाधक नहीं हुआ तो उसकी यह पेचीदगी ही उसे खत्म कर देगी।

हमारे देश में सघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध प्रधानतः ये तीन बातें कही जाती हैं—

(१) संघ-शासन भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में बाधा उपस्थित करेगा।

(२) वह ब्रिटिश भारत व देशी-राज्य दोनों को एक साथ समन्वित करने के अपने प्रयत्न में दोनों के वैधानिक विकास मे रुकावट पैदा कर देगा।

(३) उससे स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के समुचित विकास में भी बाधा पड़ेगी।

१९३५ के संघ-शासन का आयोजन तो मानो इन तीन बातों को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही किया गया था। उससे राष्ट्रीयता की भावना के अवरुद्ध होने और प्रांतीयता की भावना के विकसित होने की पूरी सभावना थी। उसमे देशी राज्यों का उपयोग ब्रिटिश भारत के वैधानिक विकास के मार्ग में रुकावट डालने के लिए किया गया था। यह भी निश्चित है कि यदि उसे अमल में लाया गया होता तो उससे भारतीय स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र दोनों को बड़ी क्षति पहुचती। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लॉर्ड फिलीमोर ने हाउस ऑफ लॉर्डस के अपने उपर्युक्त भाषण में पूछा था, "क्या संघ शासन के बिना आप आज़ादी की कल्पना कर ही नहीं सकते? भारतवर्षके समस्त वैधानिक विकास को सकुचित-सीमाबद्ध दिशा में मोड़ देने के लिए क्यों सरकार इतनी व्यग्र है? क्या उसका कारण यह नहीं है कि वह डरती है कि भारतीय राजनैतिक विकास को यदि प्राकृतिक रूप से बढ़ने दिया गया तो वह उसके वेगका सामना नहीं कर सकेगी?" परन्तु, इस प्रकार की आलोचनाओं का लक्ष्य प्रधानतः १९३५का शासन-विधान था। १९३५ की शासन-योजना को ही सघ-शासन की सीमा नहीं माना जा सकता। उसे तो सघ-शासन का नाम देना भी एक महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रयोग का अपमान करना है। जे०सी० मॉर्गन ने १९३५के शासन-विधानके सबंध में लिखा था—"दूसरे सभी सघ-शासनो में कानून बनाने वाली शक्ति अधिक-से-अधिक दो भागों में बटी रहती है—एक ओर तो केन्द्रीय धारासभाएं इस काम को करती हैं, और दूसरी ओर राज्यो अथवा प्रांतों की धारासभाओं पर उसका उत्तरदायित्व रहता है, सत्ता का बटवारा शासन को निर्बल तो बनाता ही है, पर उसे जितने अधिक भागों में बाटा जाए, शासन की निर्बलता उतनी ही मात्रा में बढ़ जाती है। ह्वाइट पेपर द्वारा प्रस्तावित बंटवारा तहस-नहस की सीमा का स्पर्श करता है। उसमें सत्ता दो भागों मे नहीं; कम-से-कम ६ भागों में, बाटी गई है। उन प्रस्तावों के अनुसार; प्रत्येक भारतीय को ६, बल्कि ७, विभिन्न, और प्रायः सघर्ष-शील, कानून बनाने वाली शक्तियो के अन्तर्गत रहना होगा, जिनमें से तीन तो गवर्नर-जनरल के बहुमुखी व्यक्तित्व में ही केन्द्रित होंगी, जिसका परिणाम यह होगा कि गवर्नर-जनरल को अपने मन्त्रियों से सहमत होने में तो कठिनाई पड़ेगी ही, स्वयं अपने से भी सहमत हो पाना उनके लिए सदा संभव नही हो सकेगा।"

यहां हमें यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि अपने देश के संघ-शासन की योजना हमें १९३५ के एक्ट के अनुसार नहीं बनाना है। उससे बिल्कुल स्वतन्त्र, और बहुत अंशों में विपरीत, सिद्धांतों पर ही हम एक सफल भारतीय सघ-शासन का निर्माण कर सकते हैं।

सघ-शासन की स्थापना के पक्ष मे ये तीन बाते उपस्थित की जा सकती हैं—

(१) हिंदुस्तान की विभिन्न समस्याओ का एक मात्र निदान हम सघ-शासन मे ही पा सकते हैं।

(२) वैधानिक स्थिति कुछ भी हो, देशी राज्यो की राजनीति पर ब्रिटिश भारत की राजनैतिक विचार-धाराओ का प्रभाव पड़ना अवश्यभावी है।

(३) सघ-शासन की हमारी प्रारम्भिक योजना यदि दोषपूर्ण भी हुई तो वैधानिक अदालतो द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले निर्णयो से उसके सुधरते जाने की आशा है।

भारतीय परिस्थितियां मे सघ-शासन ही एकमात्र रास्ता है, यह बात तो हमारे इतिहास की समस्त सास्कृतिक आधार-भूमि—केन्द्रीकरण और अकेन्द्रीकरण के एक अनोखे सतुलन—से ही स्पष्ट होजाती है। सर मॉरिस ग्वायर के शब्दों मे, सघ-शासन "एक ऐसा आयोजन है जो एक बड़े पैराए पर ससार के दूसरे भागो मे एकता व विविधता के बीच सामजस्य स्थापित करने, और स्थानीय निष्ठा के दावे को एक ऐसे प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीय शासन की आवश्यकता से, जिसमे विभाजन और अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियो को रोक रखने की शक्ति हो, सम्बद्ध करने मे सबसे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ है।" जो प्रयोग 'एक बडे पैराए पर, संसार के दूसरे भागो मे सफल हुआ है, वह हमारी वैसी ही परिस्थितियो का सामना नहीं कर सकेगा, यह मानने का कोई कारण दिखाई नही देता। देशी राज्यो का सघ-शासन में ले आना भी, एक लबे अर्से में उपयोगी ही सिद्ध होगा। ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के बीच आज जो राजनैतिक दीवारें हैं वे कृत्रिम हैं। उनकी समकक्ष वैचारिक और सास्कृतिक दीवारें कहीं हैं ही नही। सघ-शासन मे देशी राज्यो का शामिल होना आरभ मे कुछ कठिनाइया तो उपस्थित करेगा ही, पर उससे देशी राज्योकी राजनैतिक जाग्रति अधिक गतिशील बनेगी, और हमारे सामूहिक राजनैतिक विकास में एक बोझा बनने के स्थान पर देशी राज्य उसमे सहायक बन सकेंगे। सर तेज बहादुर सप्रू के शब्दों मे, "संघ-शासन की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में एक सामान्य कार्य-क्षेत्र मे ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यो के मिल-जुल कर काम करने का एक स्पष्ट परिणाम तो यह होगा कि देशी राज्यो के आज के स्वेच्छाचारी शासन से एक ऐसे वैधानिक शासन मे, जिसमे जनता के अधिकारों की परिभाषा व गणना की गई हो, और उन्हे पूरा संरक्षण मिला हो, परिवर्त्तित होने का मार्ग सरल हो जायगा।" सघ-शासन के पक्ष मे यह भी एक प्रबल दलील है। अत में, यह भी एक निर्विवाद तथ्य तो है ही कि सघ-शासन एक जीवित शासन-तत्र है। हम सयुक्त-राज्य

अमरीका का आदर्श लें, अथवा कनाडा और आस्ट्रेलिया के सघ-शासनों का उदाहरण, यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश मे संघ-शासन की अपनी एक प्रवृत्ति होती है, उसके विकास का एक निश्चित मार्ग अपने-आप बन जाता है, और समय और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उसकी सत्ता के विभाजन की ऊपर से दीखने वाली कठोर बाह्य-रेखाओ मे धीरे-धीरे परिवर्त्तन होता रहता है।

इस सबध में दो और बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक हैं। एक तो यह कि अन्य शासन-तन्त्रों की तुलना मे सघ-शासन के कुछ कम शक्तिशाली होने की धारणा वर्त्तमान महायुद्ध में निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। यह कल्पना कि सार्व-भौम सत्ता के दो भागों में बट जाने से शासन में किसी प्रकार की निर्बलता आ जाएगी एक भ्रामक कल्पना है। इस युद्ध में जिन दो राष्ट्रों को सबसे अधिक सफलता मिली, वे हैं अमरीका और रूस, और इन दोनो के शासन-सूत्रों का सगठन सघ-शासन के सिद्धान्त के अनुसार हुआ है। इसका कारण यह है कि सघ-शासन की कार्य-पद्धति साधारण रूप से एक प्रकार की होती है, परन्तु युद्ध के दिनो में उसका रूप बिल्कुल बदल जाता है। साधारणतः केन्द्रीय शासन का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित रहता है, पर विशेष परिस्थितियों में, बड़े आर्थिक सकट अथवा युद्ध के अवसर पर, वह राष्ट्रीय जीवन के सभी आवश्यक अगो को अपनी परिधि में ले आता है। सघ-शासन की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि वह अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न के बीच एक सामजस्य की स्थापना करता है। उसे राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण बनाने का कारण मानना ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध जाना है। इसी प्रकार की एक दूसरी भ्रामक कल्पना, जो साधारणतः प्रचलित है, यह है कि सघ-शासन हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध जाता है। सच तो यह है कि हमारा विगत इतिहास और वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थितिया दोनों ही सघ-शासन की आव-श्यकता को पुष्ट करते हैं।

हिन्दुस्तान में सघ-शासन की सभी आवश्यक शर्त्तें मौजूद हैं। उसके सभी प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से सबद्ध हैं। उन सबकी सामान्य ऐतिहा-सिक परम्पराए हैं, और सास्कृतिक कृतियों का एक लम्बा सामान्य इतिहास है। उनकी आर्थिक आवश्यकताए सामान्य हैं। आध्यात्मिक और राष्ट्रीय एकता की सामान्य आकाक्षा है। इसके साथ ही अपना व्यक्तित्व और अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की बेचैनी भी है। मुस्लिम-बहुसख्यक प्रातों में इस बेचैनी ने बड़ा उग्र रूप ले लिया है, पर अन्य प्रातों में भी वह मौजूद है ही। आज की

इन परिस्थितियो में संघ-शासन हमारे लिए अनिवार्य बन गया है। पर उसमें कोई ऐसी बात नही है जो हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध जाती हो। संघ-शासन की वर्त्तमान कल्पना तो ससार की राजनीति में ही एक नवीन प्रयोग है, पर कुछ शिथिल प्रकार के सघ समय-समय पर हमारे देश मे बनते रहे है, बल्कि यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि हमारे बहुत से साम्राज्यों में भी बहुत अंशो तक साम्राज्यत्व कम और राज्य-सघ की भावना अधिक थी। प्रत्येक साम्राज्य के अन्तर्गत प्रायः बहुत से स्वतन्त्र राज्य रहते थे, और आन्तरिक शासन मे इन राज्यों को प्रायः सपूर्ण स्वतन्त्रता मिली होती थी। यह कथन मौर्य अथवा गुप्त साम्राज्यों के लिए भी उतना ही सच है जितना मुग़ल-साम्राज्य के लिए। मुग़ल-साम्राज्य के बाद मराठा-शक्ति का संगठन जिन सिद्धान्तो पर हुआ उनमे और संघ-शासन के आधार-भूत सिद्धान्तो में बहुत ही अधिक सादृश्य है। पूना की केन्द्रीय सरकार और होल्कर, सिंधिया, भोसले और गायकवाड की प्रान्तीय सरकारो के आपसी सम्बन्ध बहुत कुछ इसी आधार पर बने थे : उन्हें सघबद्ध रखने के पीछे मराठा-पद-पादशाही की भावना वैसी ही प्रबल थी, जैसी आज के सघ-शासन मे राष्ट्रीयता की भावना होगी।

अन्य संघ-शासन : स्विज़रलैण्ड और रूस

सघ-शासन के आधार पर प्रस्थापित भारतीय प्रजातन्त्र का मान-चित्र खींचने के पहिले हम यह देखने का प्रयत्न करें कि ससार के अन्य देशों ने इस समस्या को कैसे सुलझाया है। इस अध्ययन मे मैं ससार के केवल दो देशो का उदाहरण पाठक के सामने रखना चाहूँगा, जिनमें भारतीय परिस्थितियों से बहुत अधिक समानता है। वे हैं—स्विजरलैण्ड और सोवियट रूस। स्विजरलैण्ड में कुछ ऐसी परिस्थितिया हैं जो जातिगत और सांस्कृतिक एकता के राष्ट्रीय सिद्धान्तो के बिल्कुल विरुद्ध जाती हैं। देश की थोड़ी-सी आबादी तीन विभिन्न भाषा-भाषियो में बटी है; इसके अतिरिक्त, कई प्रदेशो में स्थानीय बोलियो का व्यवहार भी प्रचलित है। इन विभिन्न भाषा-भाषियो की संस्कृतियाँ भी एक दूसरी से जुदा है, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर बात यह है कि भौगोलिक स्थिति भी भाषा और संस्कृति की इस विभिन्नता को पुष्ट करती है। स्विजरलैण्ड के विभिन्न कैन्टन स्पष्टतः विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों मे बटे हुए हैं : टिसिनो बिल्कुल ही इटालियन-भाषा-भाषी प्रदेश है; जिनीवा, वॉड, न्यूशैटल, वैले; शुद्ध फ्रांसीसी हैं; अन्य कई प्रदेश सपूर्णतः जर्मन हैं। इन प्रदेशों के निवासियो के लगभग उतने ही निकट सांस्कृतिक सम्पर्क इटली, फ्रांस और जर्मनी की जनता से हैं, जितने आपस में। इनमें तीव्र धार्मिक मतभेद भी

हैं ही। कुछ प्रदेश प्रधानतः प्रोटेस्टैण्ट हैं, अन्य प्रधानतः रोमन कैथोलिक। स्विजरलैण्ड के इतिहास में धार्मिक संघर्षों की भी कमी नही रही, और धार्मिक भेद भाव की प्रतिक्रिया आज भी वहा के राजनैतिक दलों के संगठन पर बिल्कुल ही स्पष्ट है। पर, इन विविधताओं और मतभेदो के बावजूद भी, स्विजरलैण्ड की जनता राष्ट्रीय एकता और देश भक्ति की ऐसी ज्वलत भावना का विकास कर सकी है जिसकी समानता ससार के अन्य किसी देश में नहीं है।

लार्ड ब्राइस के कथनानुसार, "आधुनिक प्रजातन्त्रों में जो थोडे से सच्चे प्रजातन्त्र हैं, उनमें स्विजरलैण्ड का स्थान सर्व प्रथम है। उसमें किसी भी अन्य देश की तुलना में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धातो पर स्थापित सस्थाओं की विविधता कहीं अधिक है। ... सबसे बड़ा सबक जो स्विजरलैण्ड हमे सिखाता है, वह यह है कि किस प्रकार ऐतिहासिक परम्पराएं और राजनैतिक सस्थाए मिल कर साधारण व्यक्ति मे, एक अभूतपूर्व रूप से, उन सब गुणों की सृष्टि कर देती हैं जो उसे एक अच्छा नागरिक बना देने के लिए आवश्यक हैं—कुशाग्र बुद्धि, संयम, समझदारी और समाज के प्रति कर्त्तव्य की भावना। स्विज़रलैण्ड को इसमें सफलता मिली है, इसी कारण वहा प्रजातन्त्र ससार के अन्य किसी भी देश की तुलना में कहीं अधिक प्रजातन्त्रात्मक है।"[1] आर्नोल्ड जूकर ने इसी सम्बन्ध में लिखा है—"धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताओ, और आन्तरिक मतभेदों के बावजुद भी, प्रत्येक युग में स्विजरलैण्ड की कानूनी और नैतिक एकता अधिक सशक्त बनी है। आज यूरोप में कोई राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसमें राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति की भावना उतनी गहरी हो जितनी स्विजरलैण्ड में। एक ऐसी दुनिया में, जो जाति और भाषा के आधार पर राजनैतिक 'आत्मनिर्णय' के अधिकार को बार बार दोहराए जाने से थक गई हो, स्विजरलैण्ड इस बात का एक शानदार उदाहरण हमारे सामने रखता है कि इस सिद्धान्त के खुले विरोध में किस प्रकार राज्य की भावना और राष्ट्रीय देशभक्ति एक साथ प्रश्रय पा सकते हैं।"[2]

यह सब कैसे संभव हुआ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है, और वह है संघ-शासन। स्विजरलैण्ड में सार्वभौम सत्ता के बटवारे पर एक सरसरी सी दृष्टि डाल लें। शासन की मूलभूत सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथों में है। उसके नियन्त्रण में जो प्रमुख विभाग हैं, वे हैं विदेशी नीति और शान्ति और युद्ध के प्रश्नों संबंधी, इसके अतिरिक्त, जो ऐसे आर्थिक और व्यापार संबंधी प्रश्न हैं

१ ब्राइस : Modern Democracies, भाग [illegible], पृष्ठ [illegible]

२ Governments of Continental Europe, पृ० [illegible]

जिनका सबध सारे देश से है, जैसे मुद्रा, आने-जाने के साधन, व्यापार, वजन और तौल, प्राकृतिक साधनों का संरक्षण आदि, वे भी केन्द्रीय सरकार के नियत्रण में ही हैं। यह भी सच है कि केन्द्रीय सरकार का अधिकार-क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। उसने टेलीफ़ोन और वायरलैस के साधनो, और रेल के शासन, को अपने अन्तर्गत ले लिया है। उसने अपनी आय को बढ़ाने के उद्देश्य से कई नए टैक्सों की स्थापना कर ली है। पर इसके साथ ही विभिन्न प्रदेश (Cantons) अपनी सार्वभौमता भी सपूर्ण रूप से सुरक्षित रख सके हैं। शासन के कुछ आवश्यक तत्त्व, जैसे शाति और सुव्यवस्था की रक्षा, सार्वजनिक इमारतो और सड़कों आदि का निर्माण-कार्य, चुनाव और स्थानीय शासन का प्रबध आदि, आज भी सपूर्णतः प्रादेशिक सरकारों के आधीन ही हैं। केन्द्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र में भी विभिन्न प्रदेशों का प्रमुख हाथ रहता है। उदाहरण के लिए, कानूनो का निर्माण यद्यपि केन्द्रीय शासन के द्वारा होता है, पर उन्हे कार्य-रूप में परिणत करने का दायित्व प्रदेशो को है। इसी प्रकार केन्द्रीय शासन के सेना-सबधी नियम-अनुशासन आदि का पालन भी प्रादेशिक शासन द्वारा ही किया जाता है, और वही केन्द्रीय सेना के लिए रंगरूट भरती करने और उन्हें सैन्य-शिक्षा देने का प्रबध करते हैं। विधान के सशोधन में भी प्रदेशों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। केन्द्रीय शासन की शक्ति और सबद्ध इकाइयो की स्वतन्त्रता के बीच इस संपूर्ण सामजस्य के कारण ही स्विजरलैण्ड को आज ससार के देशों में इतना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

यहा यह कहा जा सकता है कि स्विजरलैण्ड तो एक छोटा-सा देश है, और उसका उदाहरण हिंदुस्तान जैसे महाद्वीप के सामने रखना ठीक नहीं है। इसलिए हम सोवियट रूस का उदाहरण ले सकते हैं। अल्पसख्यक वर्गों की समस्या और विभिन्न प्रदेशों द्वारा स्वतत्रता की इच्छा हिंदुस्तान की अपेक्षा रूस में सभवतः कहीं अधिक जटिल और तीव्र है। रूस मे लगभग १८५ विभिन्न राष्ट्रीयताए हैं, जो १४७ विभिन्न भाषाओं और बोलियो का प्रयोग करती हैं, परन्तु वहा भी ये सब राष्ट्र और राष्ट्रीयताए, जाति और धर्म, समाज और संप्रदाय सघ-शासन द्वारा एक सूत्र में बाध दिए गये हैं। वर्त्तमान महायुद्ध मे रूस का जो शानदार भाग रहा है, उससे यह धारणा तो सदा के लिए खत्म हो जानी चाहिए कि सघ-शासन किसी प्रकार की राष्ट्रीय शक्ति के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। रूस में प्रत्येक इकाई का अपना एक शासन-विधान है, अपनी धारा-सभाए और अपनी कार्यकारिणी-समितियां हैं, अपनी अदालतें और अपना कोष है। उनकी सीमाए बिना उनकी स्वीकृति के नही बदली जा सकती। सघ-

शासन से अपना संबध-विच्छेद कर लेने का भी उन्हें अधिकार है। इन राजनैतिक इकाइयों का सगठन विभिन्न स्तरो पर किया गया है, कुछ बडे-बड़े प्रजातन्त्र (Constituent Republics) हैं, कुछ उनसे छोटे (Autonomous Republics), कुछ हमारे प्रांतों के समकक्ष (Autonomous Provinces) और कुछ राष्ट्रीय जिले (National Districts) भी हैं, जो अपने आंतरिक शासन में बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। परतु इसके साथ ही केन्द्रीय-शासन को वे सब अधिकार प्राप्त हैं जो देश की शक्ति को बढाने के लिए आवश्यक हैं। विदेशी नीति, युद्ध और संधि, फौज और जहाजी बेडा, विदेशी व्यापार, आवागमन के साधन, डाक और तार, मुद्रा, बैंक, न्याय, नागरिकता आदि विभाग केन्द्रीय-शासन के नियन्त्रण में हैं, और उसे यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह आवश्यकता पडने पर ऐसे कानून बना सकें जिनके द्वारा जमीन का उपयोग, प्राकृतिक साधनो का विकास, मजदूरो की समस्या, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि पर भी उसका मौलिक अधिकार स्थापित किया जा सके। आर्थिक पुनर्निर्माण की राष्ट्रीय योजनाओं को प्रस्तावित और कार्यान्वित करने का समस्त दायित्व उस पर है ही। स्थानीय स्वतन्त्रता के साथ एक सशक्त केन्द्रीय सरकार के समन्वय के द्वारा ही, जो संघ-शासन का मूल-मत्र है, सोवियट रूस आज के विश्व मे अपनी वर्त्तमान स्थिति को प्राप्त कर सका है।

(आ) प्रस्तावित संघ-शासन : आधारभूत सिद्धान्त

केवल यह निश्चय कर लेना ही कि वर्त्तमान भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन ही सबसे उपयुक्त सिद्ध हो सकता है काफी नहीं है, हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों का भी निर्णय करना होगा, और उसकी रूप-रेखा के सबध में भी कुछ निश्चित विचार बनाने होंगे, सघ-शासन की एक विशेषता यह है कि उसमें केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के बीच सत्ता का बड़ा स्पष्ट बटवारा रहता है। परन्तु, इस बटवारे की स्पष्टता के बावजूद भी बहुत से ऐसे अधिकार होते हैं जिनके प्रयोग के सम्बन्ध में मतभेद की गु जाइश रह जाती है। इन अव्यक्त, बचे-खुचे अधिकारो (residuary power) का प्रयोग कहीं तो केन्द्रीय सरकार को सौंप दिया जाता है, और कहीं प्रातीय सरकार को। सघ-शासन की प्रमुख प्रवृत्ति का झुकाव दूसरी ओर है। प्रायः प्रत्येक अच्छे सघ-शासन में इस प्रकार के अधिकार प्रातीय सरकार के हाथ में ही रहते हैं। सयुक्त-राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, स्विजरलैण्ड आदि सभी देशों के शासन-विधान उपयु क्त कथन की पुष्टि करते हैं। हमारे देश में इस प्रकार की व्यवस्था के विरुद्ध प्रायः यह बात कही जाती है कि उन देशों और हममें एक बडा अन्तर यह है कि जब

कि उनमें से अधिकांश में कई छोटे-छोटे राज्यो ने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खोकर संघ-शासन का निर्माण किया, हमारे यहां इन इकाइयो के स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनने के बहुत पहिले अखिल देश का एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व मौजूद था। ऐसी परिस्थितियो में यह सिफारिश की जाती है कि हमारे देश के प्रस्तावित शासन-विधान मे विभाजन के बाद बच रहने वाली यह अव्यक्त सत्ता (residuary power) केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही सौंपी जानी चाहिए।

कनाडा मे ऐसा है भी, पर, जहां तक कनाडा का प्रश्न है, हमें दो बातों पर ध्यान रखना है। एक तो यह कि इस सम्बन्ध मे कनाडा अपवाद है, वह सघ-शासन के सामान्य अनुशासन मे नही आता। दूसरे, कनाडा की स्थिति ऊपर से देखने मे अन्य देशो से भिन्न होते हुए भी मूल-रूप मे उनसे भिन्न नहीं है। जब कि अमरीका के संयुक्त राज्य व अन्य देशो में यह अवशिष्ट सत्ता प्रांतो को दी गई है, पर अदालतो ने अपने वैधानिक निर्णयो से केन्द्रीय सरकार को अधिक-से-अधिक सशक्त बना दिया है, कनाडा मे इस सत्ता के केन्द्र के पास रहते हुए भी अदालती निर्णयो की प्रवृत्ति प्रांतों को सशक्त बनाने की है। इस प्रकार कनाडा और अन्य देशो की वस्तु-स्थिति मे ,विशेष अन्तर नही है। इस सम्बन्ध में हम १८०० से १८३५ ई० तक अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के चीफ़ जस्टिस मार्शल के "निहित शक्तियों के सिद्धान्त" (the doctrine of implied powers) को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय कर सकते हैं कि यह अवशिष्ट सत्ता उन अधिकारो के सबध मे, जो केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आते हों, केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहे, व इसी प्रकार उन अधिकारो के सम्बन्ध मे, जो प्रातीय शासन मे निहित हो, उसका प्रयोग प्रातीय सरकारो के द्वारा किया जाय। इस सिद्धान्त को मान लेने पर अवशिष्ट सत्ता का क्षेत्र कुछ सकुचित तो अवश्य हो जायगा, पर फिर भी बहुत से ऐसे अव्यक्त अधिकार रह जायंगे, जिनके सबध मे यह निश्चय करना जरूरी होगा कि उनका प्रयोग किसे सौपा जाय। मैं समझता हूँ कि उन्हें, बिना किसी हिचकिचाहट के, प्रातीय सरकारो के हाथ मे सौंप देना चाहिए। जबकि विदेशी नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा सबधी सभी अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास होंगे, और 'निहित शक्तियो के सिद्धात' को क्रियात्मक रूप देने का दायित्व भी केन्द्रीय वैधानिक अदालत को ही होगा, तब इसके संबंध मे हमे विशेष चिंतातुर होने की आवश्यकता नहीं है। हमारे देश के प्रात स्वय ही इतनी बडी राजनैतिक इकाइया हैं, और उनमें से अधिकांश का अपना सांस्कृतिक व्यक्तित्व अपने पीछे इतनी बडी ऐतिहासिक परम्पराओ को लिये हुए है, और उनमें से कुछ की 'आत्मनिर्णय' की माग आज भी इतनी

प्रबल है, कि उन्हें प्रत्येक सघ-शासन मे शामिल होने वाली इकाइयों के नैसर्गिक अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता।

इस सबध में सघ-शासन की मूल प्रवृत्ति को एक बार फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है। बात साफ और सीधी होनी चाहिए। दुनिया के सभी देशों में सघ-शासन की प्रवृत्ति केन्द्रीय शासन के अधिकारों को बढाने की ओर है। यदि हिंदुस्तान में सघ-शासन की स्थापना हुई तो यहा भी इस प्रवृत्ति को अनिवार्यतः प्रोत्साहन मिलेगा। इससे हमें झिझकना नहीं चाहिए। सघ-शासन (Federal) और केन्द्रीभूत (Unitary) सरकार में अतर यह है कि सघ-शासन अकेन्द्रीकरण की स्वस्थ प्रवृत्तियो को निरुत्साहित न करते हुए, उन्हें आवश्यकतानुसार बढावा देकर भी, उन सब तत्त्वो का सरक्षण कर लेता है जो एक सशक्त केन्द्रीय-सरकार को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। केन्द्रीभूत सरकार अकेन्द्रीकरण की, स्वस्थ अथवा अस्वस्थ, सभी प्रवृत्तियो को कुचलती हुई आगे बढती रहना चाहती है, चाहे उसमें यह खतरा ही क्यो न हो कि किसी दिन अकेन्द्रीकरण के ये कुचले जाने वाले तत्त्व उसके विरुद्ध बगावत कर दें और उसकी स्थिति को ही जड-मूल से समाप्त कर दे। सघ-शासन एक व्यवहार-कुशल शासन-तन्त्र है, वह विशृंखलशील तत्त्वों को जान-बूझ कर अपना शत्रु बनाने में विश्वास नहीं रखता, पर उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के संरक्षण पर भी पूरा जोर रहता है। सघ-शासन की इस मूल-प्रवृत्ति से उसके विरोधी भली-भाति परिचित हैं, और इसी कारण एक ओर तो पाकिस्तान के समर्थक उसकी भर्त्सना करते हैं, और दूसरी ओर देश को खण्ड-खण्ड कर देने की अगणित योजनाओ के कट्टरपथी अग्रेज विधायक उससे बच निकलना चाहते हैं। इन दोनो दलों का मुख्य आक्रमण हमारे देश में एक सशक्त केन्द्र की स्थापना पर है। पर, प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लिए जो हेय और अवाछित है, वही तो आज हमारा प्रिय और अभीप्सित है। हमें केवल शब्दों की मरीचिका में भटकना तो है नहीं, हमे तो अपने देश के लिए एक महान् भविष्य का निर्माण करना है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अग्रगण्य और अर्थनीति मे स्वयमावलम्बी और एक महान् देश का रूप देना है, उसके लिए शाब्दिक आडम्बर से ऊपर उठना होगा। राष्ट्रीय अथवा सास्कृतिक आत्म-निर्णय अथवा सार्वभौमता के आकर्षक और भ्रामक सिद्धातों को चुपचाप मान नहीं लेना होगा, उनका बौद्धिक विश्लेषण करना होगा, और उन्हें एक ओर तो समस्त देश की आवश्यकताओं और दूसरी ओर उसकी आधारभूत इकाइयों के हिताहित से सश्लिष्ठ करना होगा। इस कारण मुझे यह कहने में सकोच नहीं है कि भारतीय सघ-शासन आज की भारतीय राजनीति के

प्रतिक्रियावादी पक्ष की भाव-प्रवण उद्घोषणाओं को सन्तुष्ट नही कर सकेगा।

जहा तक सघ-शासन(Federation)और राज्य-सघ (Confederation) मे चुनाव का प्रश्न है, हमारा निश्चित मत सघ-शासन को ही मिलना चाहिए। राज्य-सघ, जहा प्रत्येक सदस्य समष्टि से अधिक अपनी सार्वभौमता के लिए चिन्तित रहता है, आज के युग और उसकी जटिल आवश्यकताओं मे एक असबद्ध-सी कल्पना है। कूपलैण्ड आदि भी अपनी योजनाओ को उससे कुछ ऊ चे स्तर पर ही रखते है, यद्यपि उनके वास्तविक रूप को समझ लेने पर उनका खोखलापन स्पष्ट होजाता है। पाकिस्तान एक देश मे, जिसे भौगोलिक स्थिति, आर्थिक साधनो, रक्षा संबधी आवश्यकताओ और सास्कृतिक परम्पराओ ने एक राजनैतिक इकाई बनाया है, दो सघो की स्थापना कर देना चाहता है। ये दोनो ही मार्ग देश के बल को कम करने की दिशा मे जाते हैं। सघ-शासन ही एक ऐसा प्रयोग है, जो देश की शक्ति को कम नही करता। कई देशो के इतिहास से हमे पता लगता है कि केवल वही राज्य-सघ अपने को कायम रख सके है, जिनका विकास, बाहरी दबाव अथवा आन्तरिक आवश्यकताओ के कारण, सघ-शासन की दिशा में हो सका है। अन्य सभी राज्य-सघ बहुत शीघ्र टूटकर अलग-अलग इकाइयो मे बंट गए है। अमरीका का सयुक्त राज्य, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विजरलैण्ड, सोवियट रूस, सभी का विकास इसी पद्धति से हुआ है, और इन सब मे केन्द्रीय-शासन की शक्ति लगातार बढती गई है।

सत्ता का बंटवारा : रक्षा और विदेशी नीति

सत्ता के बटवारे के सबध मे, मैं समझता हू, इस सिद्धान्त पर चलना ठीक होगा कि उन अधिकारों को छोडकर जिन्हे केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रखना अत्यन्त आवश्यक होगा, शेष सब अधिकार प्रातीय सरकारो के हाथ मे रहेंगे। इस सबध मे सप्रू कमैटी के इस सुझाव को मान लेना चाहिए कि केन्द्रीय अधिकारो की सख्या कम-से-कम हो, और ये अधिकार मुख्यतः ऐसे हो जो विदेशो से हमारा सबध स्थापित करते हो। मैं तो समझता हूँ कि सप्रू-कमैटी ने केन्द्रीय सरकार के जो अधिकार प्रस्तावित किये हैं, उनमें भी कमी की जा सकती है। परन्तु, वे 'कम-से-कम' अधिकार क्या हों, और किस आधार पर उनका चुनाव किया जाय? इस सबध में यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान की मूल एकता के सरक्षण की भावना में हमे वह आधार मिल सकता है। कुछ भी हो पर देश की यह मौलिक एकता विशृ खल न होने पावे, यह संघ-शासन का ध्येय होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से हिंदुस्तान के लिए इस एकता को कायम रखना ज़रूरी है ही। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक

दिखाई देता है कि हिंदुस्तानकी एक रक्षानीति और एक ही फौज होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, रक्षा और विदेशी सबधो मे अतिम अधिकार केन्द्रीय शासन को ही दिये जाने चाहिए। रक्षा के अन्तर्गत फौज, जहाजी बेड़ा और हवाई जहाज तीनो आ जाते हैं। इन सब पर सपूर्ण नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार का ही रहना चाहिए।

रक्षा और विदेशी नीति के सबध मे समझौते की गुजाइश नहीं है। आज की अव्यवस्थित और अस्थिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रक्षा का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रशात महासागर मे शक्ति की राजनीति के खुले सघर्ष से हिंदुस्तान का दायित्व और भी बढ़ गया है। अनुमान तो यह किया जाता है कि भविष्य के महायुद्ध का मुख्य केन्द्र प्रशान्तमहासागर में होगा, उसमें हिंदुस्तानका महत्त्वपूर्ण भाग लेना अनिवार्य होगा, ऐसी स्थिति मे हिंदुस्तान को अपनी सैन्य-शक्ति को अधिक-से-अधिक और सुसङ्गठित रखने की आवश्यकता है। उसे प्रातीय शासन के हाथों सोप देना राष्ट्रीय आत्मघात के समान होगा। प्रातो को अपनी फौजे रखने का अधिकार भी हो तो भी केन्द्र का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह उन्हें किसी प्रकार के आपसी सघर्ष में न पड़ने दे, और उसे अपने इस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए स्वय उन सब से अधिक सशक्त होना पड़ेगा। प्रांतों के आपसी वैमनस्य को प्रोत्साहित न करने और केन्द्र और प्रांतों के बीच भी आवश्यक गलतफहमियों को खड़ा न होने देने की दृष्टि से भी यही उचित जान पड़ता है कि इस सबध मे अखिल, और अविभाज्य, अधिकार केन्द्रीय शासन को ही हो, वैसे, हमारे भावी विधान का आधार-भूत सिद्धात भी यही होना चाहिए कि केन्द्र को कम-से-कम अधिकार प्राप्त हो, पर जो थोड़े से अधिकार उसे प्राप्त हो उनमे सपूर्ण सत्ता उसके हाथों में रहे, देश की रक्षा की भावना व विश्व की भावी राजनीति में एक अग्रगण्य स्थान पाने की आकाक्षा, दोनों ही आज इतनी प्रबल है कि उनकी कीमत पर इन विभागो की सत्ता का विभाजन कल्पना के परे की वस्तु हो जाता है।

यदि हम ससार के दूसरे सघ-शासनो पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि रक्षा और विदेशी नीति के विभागों पर प्रत्येक देश मे केन्द्रीय शासन का ही सम्पूर्ण नियन्त्रण है—क्योंकि यदि इन क्षेत्रों पर भी केन्द्रीय सरकार का एकाधिपत्य न हुआ तो उसकी स्थिति का उपयोग ही क्या हुआ और क्यों सघ-शासन जैसे एक जटिल शासन-तन्त्र को खड़ा करने की आवश्यकता ही पड़ी? जैसा कि अमरीका के सघ-शासन के नियन्ता जेम्स मैडीसन ने कहा है, "विदेशी आक्रमण के विरुद्ध बचाव सभ्य समाज के मूल उद्देश्यों मे से एक है। यह अमरीका के

सघ का एक उद्घोषित और आवश्यक लक्ष्य है। उसे प्राप्त करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता हो, वह सब केन्द्रीय सरकार को सम्पूर्ण रूप से सौंप दी जानी चाहिए।" अमरीका की केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति प्राप्त है। मनरो के शब्दो मे, "विधान के निर्माताओ ने यह निश्चय कर लिया था कि, चाहे जो भी हो, नई राष्ट्रीय सरकार के पास वे सब शक्तियां यथेष्ट मात्रा मे होनी चाहिए जिनकी सहायता से यह बाहरी शत्रुओ और भीतर की अराजकता से देश की रक्षा कर सके।"[1] इसी कारण उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को इस सम्बन्ध मे बहुत बडी-बडी शक्तिया दे डालीं। युद्ध की घोषणा करने, फौजो की भर्ती व फौजियों को कील-काटे से लैस करने, जहाजी बेड़े के सगठन और सरक्षण, जमीन और समुद्र की फ़ौजो के लिए नियम और अनुशासन की रचना, अर्द्ध-सगठित फौज (militia) का निर्माण, किलो और लडाई का सामान बनाने वाले स्थानों का नियन्त्रण, ये सब अधिकार अमरीका के सयुक्त-राज्य मे केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को ही प्राप्त हैं।

कनाडा और आस्ट्रेलिया का सगठन अमरीका की पद्धति पर ही है। दूसरे, अभी यह निश्चित नहीं है कि युद्ध और सन्धि की वास्तविक और अंतिम शक्ति इन देशो को प्राप्त है भी या नहीं, परन्तु, यदि हम दूसरे ढग के संघ-शासनो को भी देखे तो हमे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन और समर्थन मिलेगा। स्विजरलैण्ड मे रक्षा और विदेशी नीति के विभाग केन्द्रीय सरकार के अधीन है। प्रत्येक पुरुष-नागरिक को अपने उन्नीसवे वर्ष मे तीन महीने के लिए अनिवार्य सैन्य-शिक्षा लेना पड़ती है, उसके बाद अगले बारह वर्ष तक प्रति वर्ष १३ दिन के लिए अपनी इस शिक्षा की पुनरावृत्ति के लिए उपस्थित होना पड़ता है। शिक्षा देने व निरीक्षण आदि का कार्य प्रादेशिक सरकारो के द्वारा किया जाता है, परन्तु सघ के सैन्य-विभाग के नियन्त्रण में, और उसके खर्चे का एक भाग भी उन्हे सघ-शासन द्वारा दिया जाता है। सोवियट रूस में भी, इस बात के बावजूद कि फर्वरी १६४४ के विधान के अनुसार सघ के सदस्य प्रजातन्त्रो को अपनी सेना व विदेशी सम्बन्धो के विभाग स्वतन्त्र रखने का अधिकार दे दिया गया है, जहा तक राष्ट्रीय विदेशी नीति का सम्बन्ध है, केन्द्रीय सरकार पर ही उसका दायित्व है, युद्ध और सन्धि के प्रश्नो पर केवल वही निर्णय दे सकती है, नये प्रजातन्त्र यदि संघ मे शामिल होना चाहे तो उन्हें समाविष्ट करने या न करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही है, आतरिक

१—डब्ल्यू० बी० मनरो : The Government of the United States, पृ० ४५१।

प्रजातन्त्रात्मक प्रदेशो के सीमा-निर्धारण अथवा उनके अन्तर्गत नये स्वशासित प्रदेशों की सृष्टि भी केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर ही निर्भर है, इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय रक्षा और आन्तरिक शान्ति का संरक्षण भी उसी के सिपुर्द है।

परन्तु यदि हम इस प्रश्न की गहराई में जाय तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि रक्षा और विदेशी नीति के विभागों में केन्द्रीकरण के होते हुए भी, प्रान्तीय सरकार के हस्तक्षेप की काफी गुञ्जाइश रह जाती है। इस सम्बन्ध में वैधानिक धाराओं को उद्धृत करना तो सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सघ-शासन में प्रायः प्रान्तीय सरकार के अधिकारों की व्याख्या नहीं की जाती, उसमें तो यह मान लिया जाता है कि जो अधिकार स्पष्टतः केन्द्रीय सरकार को नहीं सौप दिये गए हैं, उनके उपयोग का समस्त अधिकार प्रातीय सरकार को ही रहेगा। अमरीका के सयुक्त-राज्य में विभिन्न 'राज्यो' को किसी अन्य देश से सन्धि अथवा समझौता करने का अधिकार नही है, और न शाति के अवसर पर फौजी या जहाजी बेडा रखने की इजाजत ही है, परन्तु, रक्षा-विभाग के लिए उन्हें रुपया देना होता है, और इसलिए उसके शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार उन्हें मिल जाता है, फिर भी, अमरीका मे केन्द्रीकरण की मात्रा अन्य सघो की तुलना में अधिक है। स्विज़रलैण्ड मे सेना-विभाग का शासन व उसके लिए कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय शासन को है, पर उन अधिकारो का उपयोग प्रधानतः प्रादेशिक सरकारों के द्वारा ही किया जाता है। विदेशी नीति का नियन्त्रण सघ की सरकार के हाथ में है, परन्तु प्रदेशो को एक सीमा तक, केन्द्रीय सरकार की अनुमति से, विदेशों से समझौते करने का अधिकार है। अमरीका और स्विजरलैण्ड के विधानों में एक बडा अन्तर यह है कि जब कि अमरीका में देश की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व भी, केन्द्रीय सरकार को है, और राज्यों में अशान्ति और अराजकता के फैलने पर उनकी प्रार्थना पर, और कभी-कभी अपनी इच्छा से भी, हस्तक्षेप करने का उसे पूरा अधिकार है, स्विजरलैण्ड में आन्तरिक शान्ति का दायित्व सम्पूर्णतः प्रादेशिक सरकारों पर ही है। फौजी नियमो का पालन भी उनके द्वारा ही होता है, और वही केन्द्रीय सरकार की सेना की भर्त्ती और शिक्षा की व्यवस्था करती हैं।

सोवियट रूस में फर्वरी १६४४ के बाद से प्रान्तीय सरकारो को सेना व विदेशी नीति के सम्बन्ध में बहुत अधिक अधिकार दे दिये गए हैं। विधान में प्रस्तावित सशोधनों को पेश करते हुए मोलोटॉफ़ ने कहा था, "प्रस्तावित सुधार का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है। इसका अर्थ है कि 'यूनियन' के प्रजातन्त्रों का

कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो जायगा, और उनके राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक, दूसरे शब्दों मे राष्ट्रीय, विकास को देखते हुए यह आवश्यक भी हो गया है। यह हमारे अनेको राष्ट्रो वाले सोवियट राज्य की राष्ट्रीय समस्या के व्यावहारिक समाधान की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है,'''''परन्तु, यह सुधार केवल हमारे प्रजातन्त्रों मे सगठन की भावना के परिणाम-स्वरूप ही संभव नही हो सका, वह इसलिए भी सभव हो सका कि हमने अखिल-यूनियन राज्य के क्षेत्र में भी एक अभूतपूर्व सगठन की भावना को विकसित कर लिया है।"[1] इन सुधारो के साथ सोवियट राज्य ने निःसन्देह अपने विकास के एक नये युग मे प्रवेश कर लिया है। हमारे देश मे भी, राष्ट्रीय शक्ति के विकास के साथ-साथ, रक्षा और विदेशी नीति के क्षेत्रो मे अकेन्द्रीकरण के प्रयोग किये जा सकेंगे। विदेशी नीति के क्षेत्र मे तो आरम्भ से ही प्रातो के दृष्टिकोण का प्रभाव सघ-शासन के विदेशी सम्बन्धो पर पड़ना अनिवार्य होगा। रक्षा के क्षेत्र में बाद मे जाकर वैसा अकेन्द्रीकरण सम्भव हो सकेगा, जैसा आज रूस मे हुआ है। परन्तु, यहा हम यह न भूले कि रूस में भी यह अकेन्द्रीकरण कागज पर अधिक है, व्यवहार में कम। हिन्दुस्तान में भी यह सम्भव है, कुछ समय तक इन क्षेत्रो मे केन्द्रीय सरकार का ही एकाधिपत्य रहेगा, पर, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और आवश्यकताओ के अनुसार इस नीति में परिवर्त्तन तो होगा ही।

आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न

रक्षा और विदेशी नीति के साथ आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न का भी बडा निकट का सम्बन्ध है। जैसा कि पिछले अध्यायो मे बताया जा चुका है, अपरिमित आर्थिक साधनो और उनके समुचित विकास के लिए आर्थिक पुनर्निर्माण की एक विशद योजना के बिना कोई भी देश आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपने लिए स्थान बना लेने की कल्पना नही कर सकता। आज तो हम आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओ (economic planning) के युग में जी रहे हैं। इस कल्पना का प्रारम्भ रूस की प्रथम पच-वर्षीय योजना (१६२८-३२) से हुआ, इस योजना का ही यह परिणाम था कि रूस विश्व की राजनीति में अपने लिए एक अग्रगण्य स्थान बना सका, और १६२६-३१ के ससार-व्यापी आर्थिक संकट से अपने को सर्वथा मुक्त रख सका। उसके बाद से तो इस प्रकार की कई आर्थिक योजनाए हमारे सामने आती रही हैं। अमरीका ने अपनी 'नई व्यवस्था' (New Deal) प्रचलित की, फ़ासिस्ट देशो ने अपने तरीके के

१—New Powers of Soviet Republics, पृ० २।

आर्थिक पुनर्निर्माण (planning) को अपनाया, जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में सह-समृद्धि (Co-prosperity) के सिद्धान्तको जन्म दिया; डेन्मार्क और स्वेडन जैसे छोटे-छोटे देशों ने इस मार्ग पर चल कर अपनी आर्थिक स्थिति को बहुत समुन्नत बना लिया। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में जर्मनी का 'न्यू ऑर्डर' (New Order) पराजित और साथी देशों पर हावी रहा। हमारे देश में भी बम्बई योजना और गाधीवादी योजनाए हमारे सामने आई। स्वाधीन हो जाने के बाद यह अनिवार्य दिखाई दे रहा है कि हमें किसी विस्तृत आर्थिक योजना को अपनाना पडेगा।

आर्थिक पुनर्निर्माण का समस्त प्रश्न प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड दिया जाता है। यह सच है कि प्रातीय सरकारें एक सीमा तक चाहे अपने आर्थिक साधनों का स्वय भी विकास कर सकें, उद्योग-धन्धों और व्यापार की वृद्धि, कृषि की उन्नति और आवागमन के साधनों के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वे अपने पडौसी प्रातो, और कभी-कभी दूर के प्रातों पर भी, निर्भर रहे। बहुत सी बातो के लिए उन्हें ऐसे अपरिमित साधनों की आवश्यकता भी होगी जो उनकी सीमित शक्ति के दायरे से बाहर होंगे। अन्य देशों का उदाहरण भी केन्द्रीकरण के पक्ष में ही जाता है। रूस में प्रारम्भ से ही योजना-निर्माण का समस्त कार्य एक 'स्टेट प्लैनिंग कमीशन' के सिपुर्द किया गया था। इसके सदस्यों की नियुक्ति रूस की केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा (Council of People's Commissars) द्वारा होती है, और उन्हें कम्यूनिस्ट पार्टी के निकट-नियन्त्रण में अपना काम करना होता है। इस सस्था (Gosplan) का यह काम है कि वह देश भर से मिलने वाली सूचनाओं का अध्ययन करके एक केन्द्रीभूत योजना का निर्माण करे। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह सघ-शासन के सदस्य-प्रजातन्त्रों की आन्तरिक व्यवस्था में उतना हस्तक्षेप कर सके जितना उसे अपने कार्य की सफलता के लिए आवश्यक हो। रूस की तीनों पच वर्षीय योजनाओं का विकास इसी पद्धति से हुआ है। इन योजनाओं के परिणामस्वरूप ही हम देखते हैं कि आज रूस में उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व बिल्कुल मिट गया है, और खेती बाडी का काम, बिना व्यक्तिगत लाभालाभ के विचार के, मिल-जुल कर किया जा रहा है। देश में उद्योगीकरण अभूतपूर्व तेजी से बढा है, और औद्योगिक उत्पादन पहिले के मुकाबिले मे कई गुना अधिक बढ गया है। मोलोटॉफ के कथनानुसार, रूस के १६३७ के औद्योगिक उत्पादन का ८० प्रतिशत पहिली दो पच-वर्षीय योजनाओं का परि-

णाम थी। इसी वर्ष रूस में जितने ट्रैक्टर काम मे लाए जा रहे थे उनमे से ९० प्रतिशत उसके अपने बनाए हुए थे। कहा जाता है कि १९२६ और १९३७ के बीच रूस का औद्योगिक उत्पादन ३०० से ४०० फ़ीसदी तक बढ गया था। यह सच है कि अब भी औद्योगिक उत्पादन में संसार के कुछ पूंजीवादी देश रूस से आगे बढे हुए हैं; परन्तु, उनके औद्योगीकरण के पीछे शताब्दियों का इतिहास है जब कि रूस ने बहुत थोडे वर्षों मे यह सब कर लिया है। रूस का यह कार्य कभी सफल नहीं हो पाता यदि उसका नियन्त्रण एक केन्द्रीभूत सत्ता के हाथ मे न होता।

आर्थिक विकास की दृष्टि से हमारे देश मे विकास के अपरिमित साधन मौजूद हैं। मुक्त-व्यापार (Free Trade) के लिए हमारे पास किसी भी देश की तुलना मे कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र है, जिसमे ग़रीबी और बेबसी चाहे कितनी रही हो, पर एक लबे अर्से से शान्ति और व्यवस्था भी मौजूद रही है। आवागमन के साधन और रेल और डाक आदि के विभाग भी पूर्ण विकसित हैं। प्राकृतिक साधनो की कमी नहीं हैं—लोहा और कोयला प्रायः साथ-साथ पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए औद्योगीकरण का मार्ग सुलभ और प्रशस्त है। इस क्षेत्र मे पिछले पचास वर्षों मे जो प्रवृत्ति बढती गई है, पहिले महायुद्ध मे जिसे काफी प्रोत्साहन मिला और इस महायुद्ध में जो अनिवार्यता की स्थिति तक जा पहुची है, उसे भी रोका नही ज़ा सकेगा। आज हमारे लिए यह सोचने का अवसर नही रह गया है कि औद्योगीकरण हमारे लिए हितकर है अथवा अहितकर, अथवा किस सीमा तक वह हमारे लिए लाभप्रद हो सकता है; आज तो हमारे सामने मुख्य प्रश्न यही है कि किस प्रकार हम उसकी गति पर नियत्रण पा सके, और उसे एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति से, और दूसरी ओर अपने ग्रामोद्योगो से, सबद्ध कर सकें। यह कार्य सरल नहीं होगा। यों तो आर्थिक औद्योगीकरण के लिए भी सदा राजनैतिक केन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है, पर हमारे देश मे आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न केवल औद्योगीकरण का नहीं है। हमें अपने औद्योगिक उत्पादन को बढाना तो है ही, हमारी गरीबी को दूर करने की दिशा मे वह एक अनिवार्य कदम है; पर इसके साथ ही यदि हम अपनी कृषि-सबधी स्थिति में भी सुधार न कर सके तो वह एकागी कार्य होगा। पिछले दो महायुद्धों के बीच के अशातिपूर्ण वर्षों मे यह तो स्पष्ट होगया है कि हमें उत्पादन (Production) के साथ-साथ वितरण (Distribution) के प्रश्न को भी लेना है। हिंदुस्तान की ९० फ़ीसदी आबादी गाव मे रहती है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है, यदि उसकी आर्थिक अवस्था

को समुन्नत न किया गया, तो वह इस स्थिति में कभी नहीं होगी कि देश के बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन की खपत (Consumption) में सहायता पहुंचा सके, और यह तो निश्चित है कि आज जब प्रत्येक देश आर्थिक स्वावलम्बन (economic self-sufficiency) पर जोर दे रहा है, तो हमें भी अपनी औद्योगिक उत्पत्ति के एक बड़े अंश के लिए यहीं बाजार तैयार करना पड़ेगा। गरीबी का प्रश्न बहुत कुछ कृषि के क्षेत्र में व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति की हीनता के साथ भी जुड़ा हुआ है। जैसा कि कॉलिन क्लार्क ने अपनी एक पुस्तक में बताया है, न्यूजीलैण्ड में श्रमिकों का (६.४) प्रतिशत अपनी महनत के द्वारा कुल आबादी के लिए अन्न जुटा सकता है, जब कि जार-कालीन रूस में उस काम के लिए २००फीसदी व्यक्तियों की आवश्यकता थी।[1] हिंदुस्तान में इस व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। तभी औद्योगीकरण का प्रयत्न सफल हो सकेगा। औद्योगीकरण के कृषि-सुधारों के साथ संबद्ध करने का यह काम केवल एक सशक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा ही संपन्न किया जा सकता है।

आर्थिक समस्याओं के साथ सामाजिक समस्याएं भी घुली-मिली रहती हैं। बेकार पड़ी हुई जमीन को जोतने की व्यवस्था, जिस जमीन में खेती हो रही है उसकी उत्पत्ति बढ़ाने के उपाय, कृषि में आधुनिक वैज्ञानिक उपायों और उपादानों का प्रयोग, ये सब समस्याएं तो हैं ही, पर किसान की केवल आमदनी बढ़ा देने से तो काम नहीं चलेगा। आज भी अपना पेट काट कर वह जो थोड़ा-बहुत बचा सकता है, वह अंध-विश्वास और सामाजिक कुरीतियों पर खर्च करता है। कर्ज में वह बाल-बाल बिंधा रहता है। यदि उसकी आमदनी बढ़ गई तो यह मान लेने के लिए हमारे पास क्या कारण है कि उसका उपयोग वह अपने खाने-पीने और रहन-सहन के स्टैण्डर्ड को बढ़ाने में करेगा? सच तो यह है कि उसकी आर्थिक उन्नति के साथ उसके बौद्धिक विकास की व्यवस्था भी आवश्यक है। वास्तविक प्रश्न शिक्षा के प्रसार और समाज-सुधार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने का है। शिक्षा और समाज-सुधार के लिए राष्ट्रीय-सरकार तो वाञ्छनीय है ही, एक राष्ट्रीय आंदोलन की भी आवश्यकता होगी, और उसकी चिनगारियों को देश के कोने-कोने तक फैलाने के लिए आत्मोत्सर्ग के लिए सतत तत्पर राष्ट्र सेवकों की एक संगठित सेना खड़ी करना पड़ेगी। इन सब कामों के लिए एक केन्द्रीभूत संगठन की जरूरत है। उसके साथ ही साथ प्रयोग और अनुसंधान का काम भी चलता रहना चाहिए। इस संबंध में कुछ प्रयोग हमने अपने देश में किए हैं, और बहुत कुछ ज्ञान हम अन्य देशों से प्राप्त कर

१–कॉलिन क्लार्क : The Conditions of Economic Progress.

सकते है, पर बिना एक बड़ी केन्द्रीय प्रयोगशाला के, जहा देश के अग्रगण्य वैज्ञानिक दिन-रात अध्ययन और अनुसधान में लगे हो, और जिसके पास अपरिमित साधन हो, यह काम नहीं किया जा सकता। प्रान्तीय सरकारें इस क्षेत्र मे एक सीमा तक ही जा सकती है।

उपर्युक्त विचार-धारा का स्पष्ट झुकाव केन्द्रीकरण की दिशा में है। पर, मैं योजना-निर्माण और उसे कार्यान्वित करने की क्रिया मे भेद करना चाहूँगा। पुनर्निर्माण के सबध मे अनुसन्धान और योजना-निर्माण का काम तो केन्द्र के द्वारा करना ही ठीक होगा। औद्योगीकरण के क्षेत्र मे भी, प्राकृतिक साधनोंके देश भरमें बिखरे होने व अन्य कारणो से, नेतृत्व केन्द्रीय सरकारके हाथमे ही रहेगा। जहा तक हमारी राष्ट्रीय अर्थनीति को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-नीति से सबद्ध करने का प्रश्न है, अतिम सत्ता केन्द्र के हाथो मे ही रहेगी, पर हमारी अर्थनीति का आधार यदि औद्योगीकरण को कृषि और ग्रामोद्योगो के साथ सबद्ध करने, और उसे सामाजिक शुद्धीकरण की भूमि पर स्थापित करने का है, तब तो प्रातीय सरकारो के लिए भी काफी विस्तृत कार्य-क्षेत्र प्राप्त हो सकेगा। केन्द्रीय सरकार के द्वारा पुनर्निर्माण की सपूर्ण व्यवस्था (State Planning) के दोषोंसे भी हम अनभिज्ञ नहीं है। रूस और जर्मनी के उदाहरण हमारे सामने है। इन दोनो देशो मे आर्थिक पुनर्निर्माण की बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए एक बहुत बड़ी नौकरशाही की आवश्यकता हुई, इस नौकरशाही ने, केवल अपने कार्य की सफलता को दृष्टि में रखते हुए, नागरिक स्वाधीनता को बुरी तरह से अपने पैरो तले रौंदा है, उनमें से कुछ ने इस सत्ता का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्त्ति के लिए भी किया; और इन सबका परिणाम यह हुआ है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात पहुचा है। हमारे देश की परिस्थितियो मे, जबकि औद्योगीकरण के साथ-साथ ग्रामोद्योगो और कृषिक उन्नति को भी लेना है, सभवतः उतने केन्द्रीकरण की आवश्यकता न हो। काफ़ी दूर तक आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रातों के आतरिक विकास से सबध रखने वाले प्रश्नों को प्रातीय सरकार के हाथ में छोड़ा जा सकता है; उसका केन्द्रीय सरकार की अर्थ-नीति से सबद्ध भर रहना आवश्यक माना जाना चाहिए। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के लिए अपनी अर्थनीति को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति से सबद्ध रखने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक होगा। कुछ प्रश्न ऐसे भी होंगे जिनका निपटारा न तो प्रांत की अपनी सीमा मे सभव होगा, और न समस्त देशसे ही उनका सीधा सबंध होगा। इस सबंध मे एक ही नदी द्वारा सींचे जाने वाले प्रदेशो की कृषिक उन्नति, अथवा 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक' शक्ति के उत्पादन, का नाम लिया जा सकता है। पर, उनके लिए

किसी क्षेत्रीय शासन की विलक्षण सृष्टि से अधिक अच्छा मार्ग मैं यह समझता हू कि उन्हे, केन्द्रीय सरकार के निर्देश में, आतर्प्रान्तीय व्यवस्था के जिम्मे छोड़ दिया जाय। वास्तविक प्रश्न केन्द्र और प्रातो मे सहयोग की भावना के मौजूद होने का है। वैसी भावना की उपस्थिति सघ-शासन में ही सम्भव हो सकती है।

केन्द्रीय सरकार के अन्य अधिकार

आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न के साथ ही मुद्रा और विनिमय के प्रश्न गुथे हुए हैं। मुद्रा और विनिमय के सम्बन्ध में देश भर में एक ही नीति का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे विभिन्नता होने का भयावह परिणाम हम आज के यूरोप में स्पष्ट देख रहे हैं। सभी प्रान्तो और समस्त देश के आर्थिक जीवन के सभी अगों के लिए देश में एक सामान्य मुद्रा का होना लाभप्रद होगा। इसी प्रकार भारतीय और विदेशी सिक्को के बीच एक ही विनिमय-दर का होना भी जरूरी है। यदि प्रात-प्रात में विभिन्न सिक्के हुए, अथवा कुछ प्रातो में विदेशी सिक्कों से विनिमय का दर एक हुआ और कुछ में दूसरा, तो आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में व्यापार का समुचित विकास नहीं हो सकेगा। सम्भव है, कुछ प्रदेशों मे विदेशी माल अधिक संख्या मे आकर पडा रहे, और एक प्रात और दूसरे प्रात के बीच व्यापार-कर (tariff) की दीवारें ऊंची उठती चली जाए। व्यापार का गला घोंटने, और हमारी राष्ट्रीय समृद्धि को असम्भव बना देने, का इससे अच्छा उपाय कोई नहीं हो सकता। यदि हम इस अराजकता को निमत्रण देना नहीं चाहते तो हमें अपने मुद्रा और विनिमय के प्रश्नों को केन्द्रीय सरकार के हाथ मे छोड़ना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध मे एक यह बात भी अच्छी है कि इन प्रश्नो के साथ साप्रदायिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है, और इस कारण उन्हें केन्द्रीय सरकार को सौंप देने में किसी को आपत्ति न होगी।

मुद्रा और विनिमय यदि आर्थिक पुनर्निर्माण का बाह्य-पक्ष है, तो आवागमन व देश को एक कोनेसे दूसरे कोने तक संबद्ध करने के साधन (Transport and Communications) व उद्योग और वाणिज्य (Industry and Commerce) उसके आतरिक पक्ष। इन दोनो क्षेत्रों में भी विद्वानो की सम्मति उन्हें केन्द्रीय सरकार के हाथ मे छोड़ देने के पक्ष में ही है। इस सम्बन्ध में कुछ तर्क पूर्ण युक्तिया भी दी जा सकती हैं। हिन्दुस्तान ने अपने लम्बे इतिहास की कई शताब्दिया सड़कों, रेलों, तार और डाक की एक सगठित व्यवस्था, के विकास मे लगा दी हैं। उस एकता को आज विकीर्ण कर देना शायद बुद्धिमानी का काम न हो। डॉ० बेनी प्रसाद के शब्दों में,

"सड़क, रेल, डाक, तार और टेलीफोन आदि की जो व्यवस्था सैनिक आवश्यकता, सामान और यात्रियों के आने जाने की सुविधा, और सदेशो के भेजे और प्राप्त किए जाने के सम्बन्ध मे की गई है, वह समस्त देश में फैली हुई है। सन्धियों, अहदनामों और सार्वभौमता के द्वारा देशी रियासतों को भी ब्रिटिश भारत से सबद्ध कर दिया गया है। यदि इस आधार को नष्ट कर दिया जाता है, तो रक्षा-सम्बन्धी योजनाओं और अर्थ नीति की सारी व्यवस्था को एक बड़ा धक्का लगेगा, विशेष कर उत्तर-भारत मे, और यात्रा और सन्देश वाहन मे बहुत बडी असुविधा खडी हो जाएगी। यदि उसे सुरक्षित रखना है तो उसके सचालन और निरीक्षण के लिए एक सामान्य-सत्ता का होना आवश्यक है।" यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आने जाने और सन्देश भेजने और प्राप्त करने के साधनो का आयोजन, समग्र-रूप से, एक अखिल-भारतीय सत्ता के द्वारा किया जाना चाहिए, और उनके प्रमुख उपादानो, रेलवे लाइनो और सड़कों, पर उसका सीधा अधिकार होना चाहिए।"[1]

इस प्रश्न के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष को भी हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते, और यह पक्ष आने वाले वर्षों मे बड़ा महत्त्व ले लेगा, इसमें भी सन्देह नहीं है। यह बिल्कुल सम्भव है कि हिन्दुस्तान कुछ वर्षों मे ही सड़क, या रेल से भी, बर्मा, चीन, अफग़ानिस्तान, ईरान आदि देशो से सबद्ध कर दिया जाए। दुनिया भर मे फैले हुए हवाई मार्गों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी तो वह आज भी है ही। उसकी जहाजी और समुद्री ताकत भी भविष्य मे तेजी के साथ बढ़ेगी। ऐसी स्थिति में सड़कों, रेलों, समुद्री व हवाई जहाजो के रास्तो आदि के सम्बन्ध में विदेशो से समझौते करना भी आवश्यक होगा, और हिंदुस्तान के लिए समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसो मे हिस्सा लेना व इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय नियम-अनुशासन आदि के निर्माण मे सहयोग देना भी आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति मे उनकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहना ही वाछनीय माना जाता है। इसी प्रकार, व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में भी अखिल-देशीय व्यवस्था की ही आवश्यकता पडेगी, क्योंकि उसके बिना व्यापारिक इकरारनामों पर अमल कराना और धोखेबाजी को रोकना सम्भव नही हो सकेगा, और यह देखते हुए कि आने वाले वर्षों में हिन्दुस्तान का वाणिज्य और व्यापार बहुत तेजी के साथ बढेगा, इस प्रकार के केन्द्रीभूत नियन्त्रण की आवश्यकता पर और भी अधिक जोर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमें विदेशी-व्यापार को भी अपनी दृष्टि में रखना है। सबसे बड़ी बात यह है कि

१—बेनीप्रसाद : Communal Settlement, पृ० ११।

आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान एक समष्टि है, और उसका विभाजन देश के लिए हानिकर ही सिद्ध होगा।

ये सब बड़े प्रबल तर्क हैं, और सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें किसी प्रकार की कमी बताना सम्भव नहीं है, परन्तु, हमें व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी तो इस प्रश्न पर विचार करना है। देश में संघ-शासन की स्थापना के प्रस्ताव का अर्थ ही यह है कि अब हम मानने लगे हैं कि हमारे प्रांतों में एक ओर तो आत्म-निर्णय की भावना प्रबल हो गई है, और दूसरी ओर उनमें राजनैतिक परिपक्वता भी अब इतनी मात्रा मे आ गई है कि हम शासन-व्यवस्था में अकेन्द्रीकरण की दिशा में कुछ साहस-पूर्ण कदम उठा सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रांतीय प्रेरणा और नियन्त्रण को हम अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देख सकते, प्रत्युत उसे तो हमें प्रस्थापित और प्रोत्साहित करना है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम प्रांतों और केन्द्र में किसी मौलिक-मतभेद के आधार पर नहीं चल रहे हैं। उनमें यदि पारस्परिक विश्वास है, तो हमें अकेन्द्रीकरण से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उसका स्वागत ही करना चाहिए। इन क्षेत्रों मे प्रांतों को एक बहुत बड़ी सीमा तक अधिकार दिए जा सकते हैं। पुनर्निर्माण की व्यापक योजनाएं, मुद्रा और विनिमय की नीति, और आवागमन और सन्देश-वाहन के साधनों, व वाणिज्य और व्यापार का बाह्य-पक्ष, जिनका सम्बन्ध विदेशों से है, निःसन्देह केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रहेंगे, पर अन्तिम विभागों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनके आन्तरिक पक्ष को प्रान्तीय सरकारों के हाथों में सौंप देना ही वाञ्छनीय होगा। सड़कों और रेलों के विभाग का ही उदाहरण लें। इनमे से अधिकाश का विस्तार प्रायः २ या ३ तीन प्रांतो तक है। उनका नियन्त्रण आन्तर्प्रान्तीय आधार पर किया जा सकता है। उनमें भी कुछ सहायक सड़कें और रेलें ऐसी होंगी जिनका विस्तार एक प्रांत से अधिक नहीं है, उनमें तो केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप न केवल अवाञ्छनीय बल्कि अहितकर भी सिद्ध होगा। यूरोप की अधिकाश रेलें वैयक्तिक सम्पत्ति हैं, और उनका विस्तार प्रायः २ या ३ देशों तक है, पर उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में कभी अयोग्यता की बात नहीं सुनी गई, तब कोई कारण नहीं कि हमारी प्रांतीय सरकारें इस काम को सफलता के साथ क्यो न कर सकें। इसी प्रकार, व्यापार के सम्बन्ध में भी यह अखिल-देशीय कानून बन जाना तो आवश्यक है ही कि एक प्रांत और दूसरे प्रांत के बीच किसी प्रकार का आयात-निर्यात-कर न लगाया जाए, परन्तु व्यापार के आन्तरिक पक्ष का नियन्त्रण प्रांतीय सरकार के हाथों में छोड़ना ही ठीक होगा। इस अकेन्द्रीकरण के बावजूद भी इस आवश्यक

सिद्धान्त की उपेक्षा तो की ही नही जा सकेगी कि देश-व्यापी आपत्ति के अवसर पर केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त होगा कि इन प्रश्नो को वह सर्वथा अपने नियन्त्रण में ले ले।

केन्द्र और प्रांत के संयुक्त अधिकार

शासन के ऐसे बहुत से विभाग हैं जिनमे केन्द्र और प्रात दोनो मिल-जुल कर काम कर सकते हैं, आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना मे भी, जिसे कार्यान्वित करने का एकमात्र उत्तरदायित्व प्रायः केन्द्रीय सरकार को सौंपा जाता है, किस प्रकार प्रांतो को अपने अधिकारो का उपयोग करने का अवसर दिया जा सकता है, इसकी कुछ चर्चा ऊपर आ चुकी है। मुद्रा और विनिमय के प्रश्नों को छोड़ कर जिनमें केन्द्रीभूत नियत्रण की बड़ी आवश्यकता है, अन्य आर्थिक प्रश्नो के संबंध मे भी केन्द्रीय और प्रातीय सरकारे मिलजुल कर व्यवस्था कर सकती हैं, आवागमन के साधनों, व्यापार आदि के क्षेत्रो मे व्यवस्था का अधिकाश भाग प्रातो को सौपा जा सकता है। बहुत से अन्य मामलो में जहां तक कानून बनाने का सबध है यह काम केन्द्रीय सरकार पर छोडा जा सकता है, पर जहां उस कानून को अमली रूप देने का सवाल आए, वहा उसकी जिम्मेदारी प्रांतीय सरकार को दी जा सकती है। विवाह, तलाक आदि की समस्याए इस प्रकार की हैं। कॉपीराइट, मदुंमशुमारी, पैमाइश, कस्टम-टैक्स, सामाजिक इश्योरेंस, फैक्टरी-कानून, आर्थिक योजना-निर्माण आदि ऐसे बहुत से प्रश्न हैं, जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय व प्रातीय सरकारें मिलजुल कर कर सकती हैं। भागे हुए अपराधियो का पता लगाने व व्यापक षड्यन्त्रो का भडाफोड करने के लिए भी इस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता पडेगी। ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जो न तो केवल केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही छोड़े जा सकते हैं, और न प्रातीय सरकारे ही सफलतापूर्वक उन्हे सुलझा लेने की स्थिति मे होगी।

स्वायत्त शासन भोगी प्रांतों के अधिकार

ऊपर जिन विभागों का जिक्र आचुका है, उन्हें छोडकर शासन के अन्य सभी क्षेत्रों पर स्वायत्त-शासन-भोगी प्रातीय सरकारो की सार्वभौम सत्ता होगी। अवशिष्ट सत्ता (residuary power) बिना किसी झिझक अथवा हिचकिचाहट के प्रातीय शासन के हाथमें दे दी जायगी, यह सुझाव ऊपर आचुका है, प्रातीय सरकार के अधिकारो की विस्तृत व्याख्या इसलिए आवश्यक नहीं है कि वे सब अधिकार जो स्पष्टतः केन्द्रीय सरकार के हाथ में सौंप नहीं दिए गए हैं, प्रातीय सरकारो के पास रहेगे। सघ-शासन का प्रमुख कार्य केन्द्रीय-शासन की सीमाओं का निर्धारण कर लेना है। ऊपर की विवेचना पर हम यदि

एक बार फिर दृष्टि डालें तो यह देख सकेंगे कि ऐसे विभाग जो केन्द्रीय शासन के सर्वाधिकार में हैं, या जिन पर केन्द्रीय सरकार का दखल है, केवल पाच हैं। वे हैं—(१) विदेशी नीति, (२) रक्षा, (३) यातायात आदि के प्रमुख साधन, (४) व्यापार ,पर निर्यात-कर आदि की व्यवस्था, और (५) मुद्रा और विनिमय। इनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से ऐसे विभाग हैं जिनके संबध में केन्द्रीय सरकार को कानून बनाने अथवा निरीक्षण आदि का कुछ अधिकार होगा। पर, इस सीमित क्षेत्र को, जिसकी विधान द्वारा विस्तृत व्याख्या कर दी जायगी, छोड़कर शासन के सम्पूर्ण अधिकार प्रांतों को प्राप्त होंगे।

धार्मिक, सास्कृतिक और सामाजिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रांतीय सरकारों को सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त होगी—यद्यपि अल्प-सख्यक वर्गों के सरक्षण का प्रबध विधान के द्वारा ही होगा। शिक्षा पर, प्रारभ से लेकर यूनीवर्सिटी की अन्तिम कक्षा तक, उनका सम्पूर्ण अधिकार होगा—और शिक्षा-सम्बन्धी अन्य विषयों, जैसे पुस्तकालय, सग्रहालय, भाषा और साहित्य, नाट्यशाला, सिनेमा, सङ्गीतालय आदि, सब पर उन्हीं का सर्वाधिकार होगा। इन सब विषयोंके सबध में कानून बनाने व शासन-व्यवस्था की स्थापना का दायित्व प्रांतों पर ही होगा। इसके अतिरिक्त कृषि और उससे सम्बद्ध बहुत से प्रश्न भी प्रातीय अधिकारों के सीधे दायरे में आते हैं। कृषि के साथ भूमिकर, जगल, खनिज पदार्थों का नियन्त्रण, सहयोग-समितिया, विभिन्न प्रकार के स्थानीय टैक्स आदि पर भी प्रांतों का आधिपत्य होगा। इसी प्रकार, स्थानीय स्वशासन, जनता के स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी संस्थाएं, अस्पताल, उपचार-गृह आदि, सार्वजनिक इमारते, स्थानीय सड़कें और रेलें, गैस, पानी और बिजली के कारखाने आदि भी प्रातीय शासन के अन्तर्गत ही होंगे। प्रांतीय शासन की सार्वभौमता का सबसे बड़ा प्रतीक तो उसका शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व होगा। यह विभाग संपूर्णतः प्रातीय शासन के अधीन होगा। आबपाशी और नदियों आदि पर भी उनका ही नियन्त्रण होगा। इन बातों, और इसी प्रकार की कुछ अन्य बातों, में आन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता भी पड़ेगी, पर उससे प्रातीय सार्वभौमता पर कोई असर नहीं होगा। यूरोप में प्रायः एक ही नदी चार पांच देशों में होती हुई जाती है। उसकी व्यवस्था का दायित्व उन सभी देशों पर होता है, और वे मिलजुल कर इस दायित्व को पूरा करते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार के सयुक्त अधिकार से उनकी राष्ट्रीय सार्वभौमता में किसी प्रकार की कमी आती हो। यदि हम केवल इन्हीं विभागों पर दृष्टि डालें जिन पर एकमात्र प्रातीय सरकार का ही सर्वाधिकार होगा, तो हम देख सकेंगे

कि उनमें जीवन के कुछ सर्वोपयोगी विभाग शामिल हैं, और शासन की ऐसी अनेकों शाखाएं हैं, जो प्रत्येक नागरिक के दैनिक जीवन का स्पर्श करती हैं, और वे सब अधिकार हैं जिनके सम्बन्ध में धार्मिक और सांस्कृतिक दल संवेदनशील रहा करते हैं।

यदि इस प्रकार की योजना अमल मे लाई जा सकी, तो मुझे पूरा विश्वास है कि मुसल्मानो का बहुसंख्यक वर्ग द्वारा शासित होने का भय बहुत कुछ निर्मूल किया जा सकेगा, और उसके साथ ही न केवल मुस्लिम बहु-सख्यक प्रातों, बल्कि प्रायः सभी प्रांतों, की आत्म-निर्णय की आकांक्षा को भी सन्तुष्ट किया जा सकता है। इसके साथ ही, आवश्यकता पड़ने पर, महत्त्वपूर्ण अखिल-भारतीय प्रश्नों के केन्द्रीय शासन द्वारा नियन्त्रित किये जाने का आयोजन भी इसमे है ही। यहा हमें यह तो ध्यान में रखना ही है कि सत्ता का कैसा भी विभाजन, और प्रांतो को किसी भी सीमा तक दिया गया स्वायत्त-शासन, उस समय तक सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता जब तक कि उसके पीछे समझौते की भावना में कार्य करने की तैयारी नही होती। दूसरी बात जो सारी योजना में निहित है, पर जिसे यहां स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, यह है कि प्रस्तावित योजना में न तो एक निर्बल केन्द्रीय शासन की कल्पना की गई है, और न केन्द्र के इशारे पर नाचने वाले कठपुतली प्रांतों की। प्रायः यह कहा जाता है कि हमें इन दोनो में से ही एक को चुन लेना है। संघ-शासन की सुन्दरता इसी मे है कि वह न तो केन्द्र को निःशक्त बनाता है, और न सदस्य-राज्यों अथवा प्रातो को कमजोर। वह सत्ता का एक कठोर विभाजन कर देता है, और केन्द्र और प्रात दोनो को अपने-अपने क्षेत्र मे उसके सम्पूर्ण, अविभाज्य, उपभोग का संपूर्ण अवसर देता है। उन विभागों में जो केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये गए हों, उसे बड़े-से-बड़ा साहसंपूर्ण कदम उठाने का अधिकार है, और इसी प्रकार प्रांतीय सरकार अपने अधीनस्थ विभागो पर अपनी सार्वभौमता का सम्पूर्ण उपयोग कर सकती है। हम शासन के इन दोनों स्तरो को अपने-अपने नियत क्षेत्रों में पूर्ण-रूप से सशक्त बनाये रह सकते हैं। फिर भी यदि यह आशका रह जाय कि सघ-शासन राष्ट्रीय शक्ति का ही ह्रास करता है, तो इसका तो इससे अच्छा उत्तर और क्या हो सकता है कि वर्तमान महायुद्ध में वे दो देश जो अपना प्रभुत्व संसार के अधिकांश पर स्थापित करने में समर्थ हुए हैं, संघ-शासन के दो विभिन्न प्रयोगों के नियन्ता हैं!

: १२ :

(अ) वैधानिक विकास की दिशा

वैधानिक विकास की आधार-भूमि

भारतीय परिस्थितियों में सघ-शासन की उपयुक्तता मान लेने, व उसके आधार-भूत सिद्धान्तों की व्याख्या कर लेने, के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि हमारे वैधानिक विकास का आरम्भ किस बिन्दु से हो, उसकी आधार भूमि क्या हो, और उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए किन मार्गों का हम अवलम्बन करें। इस सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है कि हमारे सामने चार निश्चित योजनाए, अथवा मत, हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि हमारे वैधानिक विकास के प्रारम्भिक इतिहास में चाहे कितनी बड़ी गलतियां क्यों न रही हों, १९३५ का शासन-विधान हमें अपने वैधानिक भविष्य के लिए एक बड़े सुनिश्चित पथ की ओर संकेत करता है, और हमें, बीच के इन कई वर्षों के गत्यावरोध को चीरते हुए, उसी मार्ग पर एक बार फिर से चल पड़ना चाहिए। इस सम्बन्ध मे हम यह न भूलें कि यद्यपि १९३५ की शासन-योजना के बनाने का समस्त श्रेय, अथवा दायित्व, अंग्रेज़ी सरकार का था, वह स्वयं उस मार्ग को कभी का छोड़ चुकी है। उसने इन पिछले वर्षों में जो दूसरा मार्ग हमारे सामने रखा है, उसका सूत्रपात अगस्त १९४० की घोषणा में, उसकी एक विस्तृत वाह्य रेखा मार्च १९४२ के क्रिप्स-प्रस्तावों में और उसकी कुछ कमियों की पूर्त्ति जून १९४५ के वेवल-प्रस्तावों में हम पाते हैं। तीसरा रास्ता वह है जिसकी माग काग्रेस पिछले कई वर्षों से कर रही है। काग्रेस का कहना है कि हमारे भावी शासन-विधान का निर्माण एक विधान-निर्मातृ सभा के द्वारा होना चाहिए, और इस सभा में देश के सभी वयस्क व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। एक चौथा मार्ग भी है, जिसकी ओर मुस्लिम लीग ने मार्च १९४० में इशारा किया था, और जिसके सबध में, कुछ उड़ती-सी व्याख्या, पहिली बार, नवम्बर १९४५ में, जिन्ना साहिब ने अमरीकन-प्रेस को एक इटरव्यू देते हुए की थी। वह देश को दो हिस्सों में बाट देने, व प्रत्येक भाग को अपना विधान अपने आप बना लेने का अधिकार देने की योजना है। सर्व-साधारण में वह पाकिस्तान-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। पिछले कई अध्यायों

मे उसकी विस्तृत विवेचना आ चुकी है, और वर्त्तमान भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे उसकी अनुपयुक्तता, असंगतता और अवैज्ञानिकता के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

१९३५ के एक्ट के सम्बन्ध में बहुत-सी बाते कही जाती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसके निर्माण मे कई वर्षों का अध्यवसाय, अध्ययन और विचार-विनिमय है, और उसका निर्माण संघ-शासन के आधार पर है। उसके केन्द्रीय पक्ष के सबध मे कुछ भी कहा जाय, यह सच है कि प्रांतीय क्षेत्र मे उसके द्वारा एक सीमा तक जन-सत्ता की स्थापना हो सकी थी, और यदि विधान का संघीय भाग अमल मे लाया जा सका होता, तो केन्द्र मे भी प्रजासत्तात्मक प्रवृत्तियो का प्राधान्य होना सम्भव था। प्रातीय क्षेत्रो में, गवर्नरो के द्वारा, सरक्षण और विशेष अधिकारों के नाम पर हस्तक्षेप का न होना भी एक स्वस्थ सकेत था। यह आशा की जा सकती थी कि केन्द्रीय शासन में भी इस प्रकार के हस्तक्षेप को टाला जा सकता था। लड़ाई के शुरू होने तक सारा काम अच्छे ढङ्ग से चल रहा था। प्रातीय शासन पर जब कभी वैधानिक सकट आये, सरकार और कांग्रेस दोनो की ओर से सदिच्छा का प्रदर्शन होने से वे सकट टल गए, और सरकार व कांग्रेस का आपसी सम्बन्ध कुछ मजबूत ही बना। यदि महायुद्ध बीच मे न आता, और कांग्रेस प्रातीय शासन को ठुकरा देने की ग़लती न करती, तो भारतीयो और अंग्रेज़ो का यह स्नेह-सम्बन्ध और भी परिपक्व हो जाता, और बिना किसी कलुष और संघर्ष के, हिन्दुस्तान अंग्रेजी कॉमनवैल्थ मे एक शानदार स्थान पा लेता। एक अंग्रेज लेखक के शब्दो मे, "जिन्होने भारतीय परिस्थिति व एक्ट की धाराओं का अच्छा अध्ययन किया था, उनका विचार था कि मुकम्मिल आज़ादी पर संरक्षण और नियन्त्रण काग़ज पर चाहे कितने ही बड़े क्यो न दीखे, भारतीय मन्त्रिगण, यदि उन्होंने उन विस्तृत अधिकारो का उपयोग किया जो उन्हे दिये गए थे, अपने आपको एक ऐसी सशक्त स्थिति मे रख सकेंगे जिसमे किसी भी ऐसे काम के सम्बन्ध में जो हिन्दुस्तान के हित मे हुआ, और जिसके पीछे भारतीय जनमत का समर्थन हुआ, नियन्त्रण लगाना कभी सम्भव नहीं हो सकेगा। इन लोगो को प्रातीय शासन के प्रारम्भिक काल मे आशा के लिए बड़े चिह्न मिले, और उन्हे वे ख़तरे के उन सकेतो के मुकाबिले मे बड़ा समझते थे, जो इस बीच उनके सामने आये। परन्तु, अब वे निरुत्साहित हो गए हैं, और कांग्रेस नेताओं के वर्त्तमान रवैये से सचमुच क्षुब्ध है, और उन्हें शक होने लगा है कि ये लोग हिन्दुस्तान मे प्रजा-तन्त्रात्मक आधार पर सच्चा स्वराज्य जल्दी-से-जल्दी स्थापित कर लेने के लिए

क्या सचमुच उत्सुक हैं, या उनका उद्देश्य केवल काग्रेस को हिन्दुस्तान का सबसे सशक्त राजनैतिक दल, और काग्रेस के नेताओं के हाथ मे शक्ति के सारे सूत्र केन्द्रित कर देने भर का है।"[1]

भारतीय राष्ट्रीयता ने आरम्भ से ही १९३५ की शासन-योजना का विरोध किया, और अब तो वह उसे बिल्कुल ठुकरा चुकी है : दस वर्ष पहले जो चीज़ अमान्य थी, आज की परिवर्धित और विकसित जन-जागृति के सामने वह त्याज्य और हेय हो चुकी है : जीवित रहने के लिए हमें भविष्य के सिंहद्वार मे प्रवेश करना है, भूतकाल की मुर्दा गलियों में लौटने की आवश्यकता नहीं। १९३५ के शासन-विधान की सबसे बड़ी खराबी यह थी कि उसमें सत्ता के आधार परिवर्त्तन से अधिक जोर उसके नियन्त्रण पर था। 'शासन के हर क्षेत्र में नियन्त्रण, और नियन्त्रण पर नियन्त्रण, लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में सब कुछ इस बात पर निर्भर था कि अंग्रेज़ी सरकार उसे कार्यान्वित करने में उदारता से काम ले—और इंग्लैण्ड में अनुदार दल के प्रभुत्व के बढ़ने के साथ-साथ यह उदारता खत्म होती जा रही थी। यदि हम १९३५ की योजना के निर्माण की वैचारिक पृष्ठ-भूमि को देखें तो हमें पता लगेगा कि १९३० में उसका आरम्भ एक अच्छे वातावरण मे हुआ था, पर १९३५ तक, जब उसने कानून की शक्ल ली, सारा वातावरण बदल गया था, और १९३९ तक, जब उसे उठा कर एक ओर रख दिया गया, हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेज़ी सरकार का रुख बहुत ही संदेह-शील और प्रतिक्रियावादी बन गया था। १९३५ के शासन-विधान की बड़ी कमी यही थी कि उसे अच्छा या बुरा रूप देना भारतीय राष्ट्रीयता के हाथ में नहीं, अंग्रेज़ी सरकार के हाथ में था। इसी का परिणाम यह हुआ कि १९३७ में जब अंग्रेज़ी सरकार ने प्रांतीय सरकारें क़ायम करना चाहा, वे बन गईं। दो वर्षों तक उसने जनसत्तात्मक प्रवृत्तियों के साथ अपना सहयोग रखा, पर १९३९ के अन्त में जब उन्होंने उन प्रवृत्तियों को सशक्त बनते देखा, उनसे अपना सहयोग खींच लिया, और, ताश के महल के समान प्रांतीय सरकारें ज़मीन पर आ गिरीं! १९३५ के विधान में कुछ अधिकार चाहे भारतीयों को दे दिये गए हों, पर सार्वभौम-सत्ता का अणु-मात्र भी अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा छोड़ा नहीं गया था—अन्यथा जनता की आवाज़ को यों रौंदा नहीं जा सकता था। प्रजातन्त्र की भावना का अगर ज़रा भी ख्याल रखा गया होता, तो १९३९ मे यदि अंग्रेजी-सरकार को इस बात का विश्वास हो गया था कि कांग्रेसी मन्त्रि-

१—सर जॉर्ज शूस्टर : India and Democracy, १९४१, पृ० ३३९-४०।

मण्डलो के पीछे भारतीय जनमत नहीं है, तो उसे उनके स्थान पर अधिक प्रतिनिधि मन्त्रियों को नियुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए था, न कि गवर्नर के हाथो मे सारे अधिकार सौंप देने का डिक्टेटरशाही काम करना था। इस संबंध में यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि शासन-विधान की रूप-रेखा चाहे कुछ भी हो, हमारे देश मे पार्लमेण्टरी ढङ्ग का शासन हो अथवा प्रेजीडेंटी ढङ्ग का, उसे हम डोमिनियन-स्टेटस का नाम दे लें या मुकम्मिल आज़ादी के नाम से पुकारें, हम सार्वभौम सत्ता का पूर्ण रूप से अंग्रेजी सरकार के हाथों से हटाया जाना व भारतीय जनता के हाथो में सौंपा जाना चाहते हैं। इसके सम्बन्ध में समझौते की बातचीत करने का समय अब नहीं रहा। इस दृष्टि से १६३५ के शासन-विधान की हम भर्त्सना ही कर सकते हैं। उसमें सत्ता के परिवर्त्तन का कोई आयोजन नहीं था, न कोई इरादा ही था—बल्कि उसे मजबूती से पकड़े रहने का दुराग्रह था।

हमारे आन्तरिक प्रश्नो को भी १६३५ का शासन-विधान ठीक से सुलझा नहीं पाया था। साप्रदायिक समस्या का उसमे निदान नही था। बल्कि यह कहना चाहिए कि साप्रदायिक कड़वाहट के सारे कारणो को बदस्तूर कायम रखते हुए उसमें, प्रातीयता को प्रोत्साहन देकर, भारतीय राष्ट्रीयता को एक दूसरी ओर से चीरने का प्रयत्न किया गया था। सांप्रदायिक चुनाव का सिद्धान्त वैसा ही अक्षुण्ण रखा गया था। मैक्डॉनल्ड-निर्णय के अनुसार पजाब और बगाल को मुस्लिम-बहुसख्यक प्रात बना कर और सिन्ध और सीमा-प्रात में मुस्लिम-सरकारो की स्थापना संभव करके हिंदू-प्रांतो के विरुद्ध मुस्लिम-प्रांतो की सख्या बढाने का प्रयत्न भी किया गया था : साप्रदायिकता से प्रांतीयता के गठबधन का यह एक अनोखा प्रयोग था। सघ-शासन के वास्तविक सिद्धान्तो पर उसका सगठन न होने के कारण प्रान्तीय इकाइयो को वे अधिकार नही मिले थे, जो साप्रदायिक समझौते की दिशा मे उपयोगी होते। प्रातो की स्वतन्त्र सत्ता नही मानी गई थी। प्रातीय आत्मनिर्णय के लिए उसमें गुञ्जाइश नहीं थी। इसलिए केन्द्र के प्राधान्य का डर था—उधर, केन्द्र निर्बल था, और अंग्रेज़ी सरकार पर ही सर्वथा आश्रित था। सच तो यह है कि १६३५ के विधान मे सघ शासन के निर्माण का प्रयत्न नहीं था, बल्कि एक केन्द्रीभूत शासन को ही, उसके दात और पंजे छिपाने के लिए, सघ-शासन का आकर्षक खोल पहिना दिया गया था। प्रजा-सत्ता की भावना दबोच दी गई थी, और उस डरी-सहमी, दबी-छिपी, प्रजा सत्ता पर, पीछे के दर्वाजे से, देशी राज्यो के आक्रमण का पूरा आयोजन था। देशी राज्यो को ब्रिटिश भारत के साथ कुछ इस रूप से

के प्रति कांग्रेस के विरोध की तीव्रता कुछ कम होती जारही थी, परन्तु दूसरी ओर, देशी नरेशो और अंग्रेजी सरकार की ओर से उसके समर्थन का उत्साह भी शिथिल पड़ता जारहा था। देशी नरेशो ने संघ-शासन को प्रारम्भ में तो इस आशा से स्वीकार कर लिया था कि वह उन्हें, अपनी स्वेच्छाचारिता का परित्याग किये बिना, अखिल भारतीय राजनीति पर प्रभाव डालने का एक अभूतपूर्व अवसर देगा, पर ज्यों-ज्यों संघ-शासन की मूल-प्रवृत्ति से वे परिचित होते गए, और उन्हें इस बात का अहसास होता गया कि उनकी अपनी सार्वभौमता पर भी केन्द्रीय शासन और, उसका माध्यम लेकर, प्रजासत्तात्मक शक्तियों का आक्रमण निश्चित है, वे सशंकित और सघ-शासन के प्रति उदासीन होते गए।[1] अंग्रेज़ी सरकार द्वारा उसकी स्वीकृति का मुख्य आधार देशी नरेशो की स्वीकृति मे था। सघ-शासन उस समय तक अमल में लाया ही नही जा सकता था जब तक देशी नरेशो का बहुमत उसमें शामिल होने के लिए तैयार न होजाय। वैसा न होने में सत्ता के प्रगतिशील हाथो में चले जाने का डर था। १६३६ के आरम्भ तक देशी नरेशों का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट होगया था। महायुद्ध के छिड जाने पर अंग्रेज़ी सरकार को, उसकी आड मे, संघ-शासन की योजना को बिल्कुल ही परित्याग कर देने का बडा अच्छा अवसर मिल गया।

प्रांतीय शासन के कांग्रेस द्वारा परित्यक्त किये जाने, और १६३५ की योजना के केन्द्रीय पक्ष की अन्त्येष्टि स्वयं अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा हो चुकने, पर हमारी वैधानिक समस्या ने एक दोहरा रूप ले लिया। एक ओर तो वर्तमान गत्यावरोध को मिटाने के लिए किसी तात्कालिक विधान की आवश्यकता थी, और दूसरी ओर एक ऐसा स्थायी शासन-विधान बनाना था जो इस देश की मूल-भूत समस्याओं का समाधान कर सके। लडाई के दिनो मे अधिक आवश्यकता एक तात्कालिक विधान की थी, पर कुछ तो देश की बढती हुई राजनैतिक माग को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से, और कुछ तात्कालिक योजनाओ के खोखलेपन को छिपाने के विचार से, भविष्य के सम्बन्ध मे भी कुछ आशाए दिलाई गई। लडाई के आरम्भ होते ही वायसराय ने देश के प्रमुख नेताओ से बातचीत की, और अक्टूबर १६३६ मे देश के सामने प्रस्ताव रखा कि वह एक ऐसी सलाहकार-समिति का निर्माण करने के लिए तैयार हैं, जिसमें सभी प्रमुख राजनैतिक दलो और देशी-नरेशों के प्रतिनिधि शामिल हों, जो अपनी बैठकें

१—संघ-शासन के प्रति देशी नरेशों के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुआ उसके ऐतिहासिक विकास के सम्पूर्ण विवेचन के लिए देखिये—डा० रघुबीरसिंह : Indian States and the New Regime.

स्वय उनके संरक्षण में, और उनके निमन्त्रण पर, करे और युद्ध के सञ्चालन में भारतीय जनमत को सरकार के साथ रखे। जब वर्तमान के इस छिछले प्रलोभन का भारतीय राष्ट्रीयता पर कुछ प्रभाव न पड़ा तब, जनवरी १९४० में, बम्बई ओरिएण्ट-क्लब के अपने भाषण में, वायसराय ने भविष्य के सम्बन्ध में एक सोनहला चित्र सामने रखा। वायसराय ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी नीति का लक्ष्य युद्ध के समाप्त होने के बाद, कम से-कम समय में, औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना करना है। इस भाषण में पहिली बार यह कहा गया था कि औपनिवेशिक स्वराज्य हिंदुस्तान का लक्ष्य है—१९३५ के शासन-विधान में से इस घोषणा को बड़ी चालाकी के साथ निकाल दिया गया था—और यह औपनिवेशिक स्वराज्य वेस्टमिंस्टर विधान के ढंग का होगा। १९३५ की योजना को अभी बिलकुल ख़त्म नहीं कर दिया गया था—यह कहा गया कि भारतीय जनमत यदि अनुकूल रहा तो युद्ध के समाप्त होने पर उस पर फिर से विचार किया जायगा। तात्कालिक समाधान की दिशा में सलाहकार-समिति की स्थापना के स्थान पर वायसराय ने यह स्वीकृत कर लिया कि वह अपनी कार्यकारिणी-सभा में कुछ राजनैतिक नेताओं को लेने के लिए तैयार है—बशर्ते कि 'महान् जातियों' के नेता उन्हें आश्वासन दे सकें कि वे, आपसी मतभेदों को भुलाकर, उनके नेतृत्व में, युद्ध-प्रयत्नों में अपना पूरा सहयोग देने के लिए तैयार हैं। हिंदुस्तान को अपने भाग्य-निर्णय का अधिकार देने का प्रश्न अभी भी नहीं उठा था। अगस्त १९४० में, इस एकता की अनुपस्थिति में ही वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी-समिति में कुछ हिंदुस्तानियों को ले लेने की घोषणा की। भविष्य के सबंध में दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएं वायसराय की इस घोषणा में थीं। पहिली तो अल्पसंख्यक वर्गों के लिए थी। उन्हें आश्वासन दिया गया था कि कोई भी वैधानिक योजना उनकी सहमति के बिना कार्यान्वित नहीं की जायगी, और दूसरे यह स्पष्ट कर दिया गया था कि हिंदुस्तान के भावी विधान के निर्माण का उत्तरदायित्व प्रधानतः हिंदुस्तानियों पर ही रहेगा, और उसका आधार भारतीय जीवन को अभिव्यक्त करने वाली सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं की भारतीय कल्पनाओं पर होगा—पर साथ ही अंग्रेजी सरकार अपने उन कर्त्तव्यों और अधिकारों को भी भुला नहीं सकेगी जो उसने हिंदुस्तान के साथ के अपने दीर्घकालीन सम्पर्क से प्राप्त किये हैं।

वर्त्तमान के सबंध में यह योजना अपमान-जनक और भविष्य के संबंध में अस्पष्ट और खतरनाक थी। क्रिप्स ने भावी-विधान के सम्बन्ध में कुछ अधिक स्पष्ट सुझाव सामने रखे—

१. उन्होंने एक भारतीय संघ (Indian Union) की कल्पना की, जिसका दर्जा आन्तरिक व्यवस्था व विदेशी संबंधों के क्षेत्र में ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्य उपनिवेशो की बराबरी का होगा।

२. इस भारतीय संघ के विधान का निर्माण, अंग्रेज़ी पार्लमेंट के द्वारा नहीं, जनता द्वारा चुनी हुई सभा के द्वारा होगा।

३. इस विधान-निर्मातृ सभा में देशी राज्यों का भाग लेना अनिवार्य होगा।

४. इस भारतीय संघ में शामिल होने या न होने का अधिकार प्रांतों को होगा—वे यदि चाहेंगे तो अपनी वर्त्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रख सकेंगे, और बाद में भी भारतीय सघ में शामिल होने की उन्हें स्वाधीनता होगी। यदि वे चाहेंगे तो अपने लिए एक अलहदा विधान बना लेने का अधिकार भी उन्हें होगा।

५. इस विधान-निर्मातृ सभा और अंग्रेजी सरकार के बीच एक सधि पर हस्ताक्षर किये जायंगे, जिसमें उन सब आवश्यक बातो का विस्तृत लेखा होगा जो अंग्रेज़ों के हाथ से हिंदुस्तानियो के हाथ में सत्ता के संपूर्ण रूप से दिए जाने से सबध रखती हो।

६. इस सधि में, अंग्रेजी सरकार द्वारा दिये गए आश्वासनों के आधार पर, जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण का पूरा निर्वाह होगा।

७. युद्ध के समाप्त हो जाने पर प्रांतीय चुनाव होंगे, और उसके फ़ौरन बाद ही प्रातीय धारा-सभाओ के नीचे के चेम्बरों के समस्त सदस्य मिल कर, आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के सिद्धांत के आधार पर एक विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव करेंगे, जिसके सदस्यो की संख्या चुनाव करने वाली सभा का दशमाश होगी।

८. यदि प्रमुख सम्प्रदायों के नेता विधान-निर्मातृ सभा के चुनाव के लिए किसी अन्य सिद्धांत पर सहमत हो सके तो उसे स्वीकृत किया जा सकेगा—वैसा न होने पर उसका चुनाव उपर्युक्त पद्धति से ही होगा।

९. इस विधान-निर्मातृ सभा में भारतीय राज्यों को अपनी आबादी के उसी अनुपात में प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा जिसमें ब्रिटिश भारत के सदस्य चुने गए होंगे, और उन्हें अधिकार भी वैसे ही होंगे, जैसे ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को।

भविष्य के संबध में यह योजना, कुछ शाब्दिक और कुछ मूलभूत परि-

वर्त्तनों के साथ, भारतीय राष्ट्रीयता को स्वीकार्य हो भी जाती, पर वर्त्तमान के सबंध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स उन पिछले प्रस्तावों से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे, जो वायसराय और भारत-मन्त्री अगस्त १९४० से अब तक इतने बार दोहराते रहे थे कि अब उनसे घृणा हो चली थी, और जिनके लिए प्रारम्भ में स्वय क्रिप्स ने बड़े जोरदार शब्दों में बुरा-भला कहा था, और भारतीय राष्ट्रीयता भविष्य के भुलावे में वर्त्तमान को भूलने के लिए तैयार नहीं थी।

भविष्य की इस योजना को ज्यों-का-त्यों रखते हुए, वर्त्तमान के सम्बन्ध में पहिला कदम जून १९४५ के वेवल प्रस्तावों में उठाया गया। वेवल-प्रस्तावों में एक बार फिर इस बात को दोहराया गया कि अंग्रेज़ी सरकार की मशा हिंदुस्तान को पूर्ण-स्वराज्य की ओर ले जाने की है, और वह किसी प्रकार का वैधानिक समझौता उस पर लादना नहीं चाहती। वायसराय ने एक नई कार्यकारिणी सभा के निर्माण की घोषणा की, जिसमें संगठित राजनैतिक जनमत का अधिक प्रतिनिधित्व होने की व्यवस्था थी। इस सभा में प्रतिनिधित्व का आधार राजनैतिक नहीं, सांप्रदायिक रखा गया। उस साप्रदायिक प्रतिनिधित्व का आधार यह था कि कार्यकारिणी सभा में ऊंची जाति के हिंदुओं और मुसल्मानोंकी सख्या बराबर रखी गई थी। यदि विभिन्न साप्रदायिक दलों के राजनैतिक नेता इन प्रस्तावों को मान लेते तो मौजूदा विधान के अन्तर्गत वे कार्यकारिणी-सभा बना सकते थे। वैसी स्थिति में वायसराय और कमांडर-इन-चीफ़ को छोड़कर कार्यकारिणी के सारे सदस्य भारतीय होते। युद्ध-मन्त्रित्व का भार तो सेनाध्यक्ष के हाथ में छोड़ना जरूरी था ही, पर वायसराय विदेशी नीति के विभाग को भारतीय मत्री को सौंप देने के लिए प्रस्तुत थे। इन प्रस्तावों के अनुसार, अन्य उपनिवेशों के समान, हिंदुस्तान में भी एक अंग्रेज़ हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जाने का प्रस्ताव था, और हिंदुस्तान में अंग्रेजों के व्यापारिक स्वार्थों के संरक्षण का दायित्व उसे सौंपा जाने का विचार था। इन प्रस्तावों में दो बड़ी ख़राबियां थीं। एक तो ऊंची जाति के हिंदुओं को, जिनकी संख्या ६६ प्रतिशत से अधिक है, मुसल्मानों के, जो भारतीय आबादी के २४ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं, बराबर ले आया गया था। दूसरे, वायसराय ने भूलाभाई-लियाक़तअली बातचीत के आधार पर कांग्रेस और लीग को बराबर स्थान मिलने का जो राजनैतिक प्रस्ताव था, उसे साप्रदायिक रूप दे दिया था—और यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि कांग्रेस केवल हिंदुओं का ही प्रतिनिधित्व करती है। वायसराय ने जब, अप्रत्यक्ष रूप से, कांग्रेस के राष्ट्रीय संस्था होने के दावे को मान लिया, तब कांग्रेस ने भी सवर्ण हिंदुओं और मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का अपना

विरोध वापिस ले लिया। परन्तु, मुस्लिम-लीग द्वारा पेश किये गए इस दावे पर कि भारतीय मुसल्मानो की एकमात्र प्रतिनिधिक सस्था केवल वही है, और मलिक खि़जरहयातखा और अन्य मुसल्मान नेताओ द्वारा ही उस दावे के विरोध के परिणाम-स्वरूप, शिमला-कान्फ्रेस असफल घोषित कर दी गई। इस बीच, महायुद्ध भी समाप्त होचुका था, और चारो ओर से यही राय व्यक्त की जाने लगी थी कि अब तात्कालिक समाधान का समय निकल गया है, और यह आवश्यक होगया है कि हिंदुस्तान के लिए एक स्थायी शासन-विधान बनाया जाय। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय और प्रांतीय धारा सभाओ के चुनाव की घोषणा की गई, और अब कहा यह जा रहा है कि इन चुनावो का परिणाम घोषित हो जाने के बाद स्थायी शासन-योजना का निर्माण-कार्य हाथ मे लिया जायगा।

विधान-निर्मातृ सभा की मांग

पिछले ५-६ वर्षों मे अंग्रेजी सरकार के द्वारा तात्कालिक समाधान और स्थायी शासन के सम्बन्ध में जो योजनाए प्रस्तुत की जाती रही हैं—उनकी चरम-सीमा एक ओर वेवल-प्रस्तावो और दूसरी ओर क्रिप्स-योजना मे है—काग्रेस के आदर्शो से वे बहुत नीचे रह जाती हैं। तात्कालिक समाधान की दिशा मे कांग्रेस अपने सिद्धातो से बहुत दूर तक समझौता कर लेने के लिए तैयार थी, पर वह यह जरूर चाहती थी कि केन्द्रीय-शासन के आन्तरिक व्यवस्था संबधी भाग का एक बड़ा अश भारतीय जनमत के प्रभाव मे हो, और साथ ही अंग्रेज़ी सरकार यह घोषणा भी कर दे कि वह लड़ाई खत्म होने के फौरन बाद ही हिंदुस्तान की आजादी को मान लेगी। तात्कालिक समाधान में वह इस निश्चय का एक स्पष्ट, और क्रियात्मक, आभास चाहती थी। सलाहकार-समिति और छाया मन्त्रिमण्डल (shadow cabinets) उसे लुभा नही सकते थे। युद्ध की भीषणता ज्यो-ज्यो बढ़ती गई, काग्रेस ने अधिक-से-अधिक समझौते की भावना का प्रदर्शन किया। काग्रेस का पूना-प्रस्ताव, जिसमे उसने अहिसा के सिद्धात को भी एक ओर रख कर युद्ध के प्रयत्नो में सहायता देने का अपना विचार प्रगट किया था, इस दिशा में सबसे बड़ा कदम था। मुकम्मिल आज़ादी की अपनी माग को दोहराते हुए और उसको फौरन घोषित किये जाने की माग को कायम रखते हुए, काग्रेस ने, तात्कालिक समाधान की दिशा में, अपना यह प्रस्ताव रखा कि केन्द्र मे एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी जाय, जिसमें केन्द्रीय धारासभा मे चुने गए सभी राजनैतिक तत्वो का प्रतिनिधित्व हो, और जो प्रातो के उत्तरदायी शासन के पूरे सहयोग मे काम कर सके। बारदोली-प्रस्तावों के द्वारा काग्रेस ने एक बार फिर समझौते का दर्वाजा खोलने की

कोशिश की। पर अंग्रेज़ी सरकार के अविश्वास और संपूर्ण सत्ता को अपने हाथों में रखने के दृढ़ निश्चय के सामने ये सब प्रयत्न असफल रहे। यह निश्चित है कि युद्ध के दिनो में कांग्रेस अपने सिद्धांतों के साथ काफी दूर तक समझौता करने के लिए तैयार हो जाती, पर जहा तक भविष्य का सम्बन्ध है, मुकम्मिल आजादी के प्रश्न पर वह किसी तरह का समझौता नही करेगी। जैसा कि १६४० के रामगढ-अधिवेशन में उसने घोषित किया, "हिंदुस्तान की जनता संपूर्ण आजादी से कम कोई भी चीज स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। साम्राज्य-वाद के ढाचे में हिंदुस्तान की आजादी की कल्पना नहीं की जा सकती। औप-निवेशिक स्वराज्य, अथवा साम्राज्यवादी ढाचे के अन्तर्गत किसी अन्य प्रकार का विधान, हिंदुस्तान के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होगा, वह एक महान् राष्ट्र के गौरव के अनुकूल नही होगा, और अनेको प्रकार से हिंदुस्तान को अंग्रेजी राजनीति और आर्थिक ढाचे के शिकजे मे जकड़ देगा।" १६४२ का अगस्त-प्रस्ताव, इसी भावना की एक जोरदार उद्घोषणा, था।

कांग्रेस ने आरम्भ से ही इस बात से इन्कार किया है कि हमारे देश के शासन-विधान के निर्माण का काम अंग्रेज़ी सरकार पर छोड़ा जा सकता है: १६३५ के विधान के उसके विरोध का मूल कारण यही था। उसका विश्वास है कि यह काम एक ऐसी भारतीय विधान-निर्मातृ-सभा के द्वारा किया जाना चाहिए, जिसका चुनाव देश के सभी वयस्क व्यक्तियो द्वारा हो। १६३६ के चुनाव-आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू ने इस विचार को तेजी के साथ देश के कोने-कोने मे फैला दिया था: कांग्रेस की चुनाव-घोषणा का भी वह एक महत्त्वपूर्ण अंग था। चुनाव जीत लेने के बाद, मार्च १६३७ में, कांग्रेस-कमेटी ने १६३५ के विधान की भर्त्सना करते हुए कहा, "जनता ने इस बात की घोषणा भी कर दी है कि वह अपना विधान अपने-आप बना लेना चाहती है, उस विधान का आधार होगा राष्ट्रीय स्वाधीनता, और उसके बनाने का दायित्व होगा एक विधान-निर्मातृ सभा पर, जिसके निर्माण में देश के सभी वयस्क व्यक्तियो का हाथ होगा।" सच तो यह है कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण ही इसलिए किया था कि "वह मौजूदा विधान को तोड़ दे, और एक विधान-निर्मातृ सभा के निर्माण, और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, ज़मीन तैयार करे।" १६३६ के अन्त में कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने इस विचार की कुछ और विस्तृत व्याख्या की। अल्प-संख्यक वर्गों के सबध मे यह तय किया गया कि उसका आधार देश की आबादी मे इन वर्गों की सख्या के अनुपात में होगा, और यदि जोर दिया गया तो उनके चुनाव मे साप्रदायिक आधार भी रखा जा सकेगा। यह सभा

एक ऐसा विधान बना सकेगी जिसमे अल्प-संख्यक वर्गों के अधिकार ऐसे होगे जो उन्हें तृप्त कर सकेंगे और इन अधिकारो के सबंध मे यदि कोई बात ऐसी हुई जिसपर एक-मत नही हुआ जा सका तो उसका निर्णय किसी बाहरी शक्ति पर, जिसमे दोनो पक्षो का विश्वास हो, छोड़ा जा सकेगा।" काग्रेस-वर्किंङ्ग-कमेटी की राय मे "किसी आज़ाद देश का विधान बनाने के लिए यही एकमात्र प्रजासत्तात्मक मार्ग है, और कोई भी व्यक्ति जो प्रजातन्त्र और आजादी मे विश्वास रखता है, इसके विरुद्ध नही जा सकता।" काग्रेस की राय मे यह सभा ही "सांप्रदायिक और दूसरी कठिनाइयों को दूर करने का एक-मात्र साधन" हो सकती है। इसके कुछ ही दिन बाद गाधीजी ने भी विधान-निर्मातृ सभा की इस मांग को अपना लिया। मार्च १६४० मे काग्रेस ने अपने खुले अधिवेशन मे इसका समर्थन किया। अगस्त १६४२ के 'खुले विद्रोह' में भी काग्रेस की दृष्टि विधान-निर्मातृ सभा पर ही गड़ी थी। जवाहरलाल जी ने वर्किङ्ग-कमेटी के वर्धा-प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए कहा, "हिन्दुस्तान से अंग्रेज़ी राज्य के खत्म हो जाने पर देश के जिम्मेदार व्यक्ति मिल कर एक अस्थायी सरकार का निर्माण कर लेंगे, जिसमे भारतीय जनता के सभी प्रमुख तत्त्वों का प्रतिनिधित्व होगा, और जो बाद मे एक ऐसी योजना बना लेगी जिसके द्वारा विधान-निर्मातृ सभा का निर्माण किया जायगा, और यह सभा भारतीय शासन के लिए एक ऐसा विधान तैयार करेगी, जो देश के सभी वर्गों को मान्य होगा।"

मुस्लिम-लीग द्वारा इस मांग का आरम्भ से ही विरोध किया जा रहा था। मि० जिन्ना की राय मे यह विधान-निर्मातृ-समिति "कांग्रेस के आदमियो से भरी हुई और एक छोटे से दल के इशारे पर काम करने वाली" होगी। अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी अगस्त १६४० की घोषणा मे मान लिया था कि "नये विधान के बनाने के लिए युद्ध के बाद एक प्रतिनिधिक भारतीय संस्था का निर्माण आवश्यक होगा, और इस बीच अंग्रेज़ी सरकार उन प्रयत्नो का स्वागत, और उनसे पूरा सहयोग करेगी, जो विधान बनाने वाली इस सस्था की रूप-रेखा और कार्य-पद्धति के सबध मे देश मे एक-मत बनाने की दिशा में किये जायंगे।" परन्तु इस संस्था(constitution-making body)में और कांग्रेस द्वारा जिस विधान-निर्मातृ सभा(Constituent Assembly) की मांग की जा रही थी उसमे जमीन-आस्मान का अन्तर है: एक प्रतिनिधि भारतीय सभा द्वारा, जिसके चुनाव और अधिकार के प्रश्न अभी अनिश्चित थे, शासन-योजना का निर्माण एक बात है, और भारतीय जनता द्वारा चुनी गई विधान-निर्मातृ सभा द्वारा, जिसके पास अन्तिम सार्वभौम सत्ता हो, इस योजना का निर्धारित

किया जाना बिल्कुल दूसरी बात है। क्रिप्स-प्रस्तावों में अंग्रेजी-सरकार एक क़दम आगे बढी है। क्रिप्स ने अपनी योजना में एक विधान बनाने वाली सभा का ज़िक्र किया है, पर वह कांग्रेस की कल्पना के अनुसार देश के सभी वयस्क व्यक्तियों द्वारा सीधे चुनाव द्वारा बनाई जाने वाली सभा नही है, उसका निर्माण प्रांतीय धारा-सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होगा। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, पर जनता द्वारा चुनी गई विधान-निर्मातृ सभा के सिद्धान्त को मान कर, अंग्रेजी सरकार ने प्रगट-रूप से जो एक आगे की तरफ क़दम उठाया था, वह उस सभा में देशी राज्यों के ऐसे प्रतिनिधियो को स्थान देकर, जिनके चुनाव में जनता की इच्छा-अनिच्छा पर बिल्कुल जोर नहीं दिया गया था, अप्रत्यक्ष-रूप से उसे पीछे खींच लेने के समान था। क्रिप्स-प्रस्तावों को अस्वीकृत करते हुए कांग्रेस की वर्किङ्ग-कमेटी ने कहा, "विधान-निर्मातृ सभा का निर्माण भी कुछ ऐसे ढङ्ग से प्रस्तावित किया गया है, जिसमें जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार के अ-प्रतिनिधि तत्त्वों के द्वारा अतिक्रमण किये जाने का डर है।" अंग्रेजी सरकार ने यह तो मान लिया है कि हिन्दुस्तान का भावी शासन-विधान हिन्दुस्तानियों के द्वारा ही बनाया जायगा, पर अभी भी वह विधान-निर्मातृ सभा के सम्बन्ध में कांग्रेस की मांग को, वैसे-का-वैसा ही, स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

जनता द्वारा सीधे चुनी गई इस प्रकार की विधान-निर्मातृ सभा के विरोध में बहुत-सी बातें कही जाती हैं। पहली बात तो यह है कि कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित यह योजना अल्प-संख्यक वर्गों को मान्य नहीं है : मुस्लिम-लीग तो प्रारम्भ से उसका विरोध कर ही रही है, परन्तु अन्य अल्प-संख्यक वर्ग भी उसके सम्बन्ध में उत्साही नहीं हैं। यह सच है कि कांग्रेस ने गौण प्रश्नों के सबध में समझौते के मार्ग पर जोर दिया है, पर इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि बडे बड़े प्रश्नों के संबंध में बहुमत का निर्णय ही मान्य रहेगा। मुस्लिम-लीग इस सम्बन्ध में सहमत होने के लिए तैयार नहीं है। इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल इस विधान-निर्मातृ सभा के निर्माण का आधार देश के सभी वयस्क व्यक्तियों तक फैला देने से यह समस्या सुलझ जायगी' बहुत सम्भव है कि इस प्रकार के विस्तार से वह और उलझ जाय। मताधिकार की परिधि जितनी व्यापक बनाई जायगी, बे पढे-लिखे किसान और मजदूर उसके अन्तर्गत आते जायगे, और इसका नतीजा यही हो सकता है कि वे अपने को कुछ प्रभावशाली राजनैतिक नेताओं और दलों के हाथ में कठपुतली बना लेंगे। हिन्दू जनता सम्भवतः कांग्रेस की ओर झुकेगी, और मुसल्मान लीग की ओर।

ऐसी स्थिति मे इन दोनों दलों की शक्ति के अनुपात मे विशेष अन्तर नहीं आएगा, और चुनाव के क्षेत्र को इतना विस्तीर्ण करने पर खर्च किया गया रुपया और शक्ति व्यर्थ जायगी। साप्रदायिक समस्या उससे तनिक भी न सुलझेगी। कांग्रेस मुसलमान सदस्यो के चुनाव में सांप्रदायिक आधार को मान लेने के लिए भी तैयार है, ऐसी स्थिति मे तो यही होगा कि चुनाव मे १० या १५ करोड व्यक्ति हिस्सा ले सकेगे—पर समझौता करने में हम उतने ही असमर्थ होगे जितने आज हैं। सघर्ष में पडे हुए व्यक्तियो के लिए अपने अनुयायियो की सख्या बढा लेना समझौते की दिशा मे कभी सहायक नहीं होता है। यह भी कहा जाता है कि विधान-निर्मातृ-सभा की यह कल्पना उस समय चाहे व्यवहार-सगत रही हो, जब साप्रदायिक वैषम्य इतना तीव्र नहीं था, पर आज की स्थिति मे तो वह बिल्कुल ही अव्यवहार्य है। इस सबध में एक और बात यह कही जाती है कि विधान के निर्माण का काम अनुभवी जानकारो का है, जनता का नहीं, और इन व्यक्तियो की सख्या जितनी कम हो, उतना अच्छा है। सर मॉरिस ग्वायर ने बनारस विश्व-विद्यालय के दीक्षात भाषण में कहा था—"(एक ऐसी छोटी सभा में) सदस्य एक दूसरे को अच्छी तरह से जान जाते है, दूसरो के अच्छे गुणों को पहिचानने लगते हैं, और अपनी कमियों से भी अनभिज्ञ नहीं रहते। मस्तिष्को के सघर्षण की प्रतिक्रिया होती ही है, और कुछ समय के बाद . । एक समष्टि की भावना जन्म लेती है, और उसमें से यदि एक सामान्य-इच्छा-शक्ति उत्पन्न न भी हो तो रचनात्मक निर्णयों के लिए एक सामान्य-इच्छा तो जाग्रत हो ही जाती है।"[1] अपने इस दीक्षान्त भाषण में विद्वान् न्यायाधीश ने यह भी बताया कि जहां कहीं व्यापक मताधिकार के आधार पर विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ है, उसे अपने कार्य में असफलता मिली है। १७९५ के क्रान्तिकारी फ्रास में ९०० सदस्यों की राष्ट्रीय सभा (National Convention) द्वारा बनाये हुए विधान ने नैपोलियन और बीस वर्षों के युद्धो का स्वागत किया, १८४८ के प्रजातन्त्रात्मक फ्रास मे ९०० सदस्यों की विधान-निर्मातृ सभा ने 'दूसरे साम्राज्य' और फ्रास के पतन की सृष्टि की।

१—रायटर के राजनैतिक संवाददाता को १६ नवम्बर १९४५ को दिये गए एक इण्टरव्यू में प्रो० लास्की ने कहा कि यह विधान-निर्मातृ सभा (१) छोटी हो, और (२) अमरीका का विधान बनाने वाली फ़िलाडेल्फ़िया की सभा के समान अपनी बैठकें गुप्त रखे, क्योंकि यदि उसकी सारी कार्यवाही खुले अधिवेशन में हुई, और उसमें आवेशपूर्ण वाद-विवाद रहे तो उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने की उम्मीद कम ही रखना चाहिए।

१८४८ की जर्मन राष्ट्रीय सभा, जिसमें ५०० सदस्य शामिल थे, अपने काम में असफल रही। १९१९ की वाइमार की सभा भी, जिसमें ४२० सदस्य उपस्थित थे, किसी स्थायी विधान की नींव नहीं डाल सकी। रूस की विधान-निर्मातृ सभा, जिसका चुनाव ४॥ करोड़ व्यक्तियों के द्वारा हुआ था, केवल एक बार मिल सकी। इसके विपरीत, जितने स्थायी शासन अब तक बने हैं, वे सब थोड़े लोगों के द्वारा बनाये गए थे, जिनका चुनाव व्यापक जनता के द्वारा नहीं, अपनी धारासभाओं अथवा सरकारों के द्वारा हुआ था। फिलाडेल्फिया की जिस सभा ने अमरीका का शासन-विधान बनाया उसमें ३० सदस्यो से अधिक ने भाग नहीं लिया। कनाडा का विधान जिन दो सभाओं में बना उसमें क्रमश. २२ और ३३ सदस्य शामिल थे। आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका का विधान क्रमशः ५० और ३० व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया। सोवियट रूस का वर्त्तमान विधान केवल ३१ व्यक्तियों ने बनाया। इन सब सभाओं में सारी कार्यवाही गुप्त रखी गई थी।

ये सब तर्क, ऊपर से देखने से, काफी प्रभावशाली दिखाई देते हैं। पर, उनका आधार सच को छिपा लेने और झूठ पर जोर देने में है। अंग्रेजी सरकार द्वारा मानी गई विधान-निर्मातृ सभा और कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्मातृ सभा में मुख्य अन्तर यह नहीं है कि एक में सदस्यो की सख्या कम और उसकी कार्यवाही गुप्त रखने पर जोर दिया गया है, और कांग्रेस का विश्वास एक बहुत बड़ी अबाध, अनियन्त्रित सभा में है जो हर दलील पर लड़ने और झगड़ने के लिए तत्पर हो : कांग्रेस ने न तो कहीं उस सभा की बड़ी सख्या का जिक्र किया है, और न उसकी कार्यवाही के गुप्त रखने से अपना विरोध प्रगट किया है। इन दोनों प्रस्तावों में मुख्य अन्तर यह है कि सरकार उसके चुनाव का आधार बहुत संकुचित रखना चाहती है, और कांग्रेस चाहती है कि उसके पीछे हर वयस्क हिंदुस्तानी का नैतिक बल हो। मौलिक अन्तर प्रजातन्त्र के सिद्धांतों में अविश्वास और उनके प्रतिपादन का है। सरकार मताधिकार के दायरे को बढाने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो उसमें जनता की अपार शक्ति के उमड़ आने का डर है, कांग्रेस उस शक्ति को उभाड़ना, और उसके व्यापक आधार पर देश के भावी शासन-विधान को प्रस्थापित करना, चाहती है। प्रजातन्त्र में इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं है। यदि हमे एक प्रजातन्त्र-शासन की नींव डालना है, तो उसके निर्माण की मशीनरी भी प्रजातन्त्रात्मक ही होनी चाहिए। जिन स्थायी शासनो की गणना सर मॉरिस ग्वायर ने अपने उपर्युक्त भाषण में की है, उन सबका निर्माण प्रजातन्त्र की

शक्तियों के द्वारा हुआ। विधान-निर्मातृ सभा को चुनने के साधारणतः दो मार्ग हैं—एक सीधे चुनाव का, जिसका अवलंबन आस्ट्रेलिया, जर्मनी, आस्ट्रिया, आयर्लैण्ड और मध्य और पूर्वी यूरोप के कई अन्य राज्यो में किया गया, और दूसरा, राजनैतिक इकाइयो की धारा सभाओ के द्वारा, जैसा कि अमरीका, दक्षिण अफ्रीका आदि मे हुआ। दोनो का आधार प्रजातन्त्र के सिद्धातो में है। जिन देशों में प्रांतीय धारा-सभाओं द्वारा विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ है, उन सबमें ये धारा-सभाएं जनता को मिले हुए व्यापक मताधिकार पर ही कायम थीं, हमारे देश के समान यह मताधिकार सीमित और सकुचित नही था। यदि आज भी हमारी प्रांतीय धारा-सभाओ के चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्रांत के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मिल जाय तो मुझे पूरा विश्वास है कि कांग्रेस विधान निर्मातृ सभा के अप्रत्यक्ष चुनाव के सिद्धात को भी मान लेगी। साथ ही, यह भी आवश्यक होगा कि देशी राज्यों से आने वाले सदस्य, उसी व्यापक आधार पर, उन राज्यो की जनता द्वारा चुने जाय। यह मान लेना कि विधान बनाने का काम केवल बहुत बड़े विद्वानो, अथवा योग्य राजनैतिक नेताओ का है, चाहे उन्हे जनता का समर्थन प्राप्त न हो, एक मिथ्यात्व को प्रश्रय देना है। जब तक वे जनता द्वारा चुने हुए व्यक्ति न हो, उनके द्वारा बनाये गए विधान का मूल्य, चाहे वह विधान कितना ही वैज्ञानिक और विद्वत्तापूर्ण तरीके से क्यो न बनाया गया हो, कौड़ी बराबर भी नहीं है। उसकी मेहनत वैसे ही बेकार जायगी जैसी १६३५ के विधान बनाने वाली गोलमेज परिषदो, सयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी आदि की। सप्रू-कमेटी में विद्वानो की कमी नहीं थी, पर उनके जनता द्वारा चुने गए न होने के कारण उसके सुझाव बहुत-कुछ बे-मानी से हैं। जहा तक इस विधान-निर्मातृ सभा के सदस्यो की सख्या का सवाल है, यदि वह संख्या बहुत बडी भी हुई, तो हमें यह बात ध्यान मे रखना है कि वह अपना काम खुले अधिवेशनो में कम ही करेगी, कमेटियो के द्वारा अधिक। कभी-कभी तो प्रमुख व्यक्तियो को भी यह काम सौप दिया जाता है।[1] विभिन्न राजनैतिक दल तो अपनी-अपनी योजनाए इस सभाके सामने पेश करते ही हैं।[2] कमेटियो का काम इन विभिन्न योजनाओ का अध्ययन करना होगा, और इन सब कमेटियो के काम को समन्वित करने का दायित्व भी एक कमेटी पर ही रखा जा

१—जैसे जर्मनी में ह्यूगो प्रियूस को, व जेकोस्लोवाकिया में प्रो० जीरी होयत्जेल को यह काम सौंपा गया था।

२—फ़िलाडेल्फ़िया सभा के सामने रैंडोल्फ-योजना और पैटर्सन योजना आदि रखी गईं, और कनेक्टीकट समझौते के रूप में उन्हें समन्वित किया गया।

सकता है। विधान-निर्मातृ सभा के खुले अधिवेशन में तो प्रायः यही होता है कि उसकी किसी एक बैठक में विधान-निर्माण के आधार-भूत सिद्धातो को मान लिया जाता है, और बाद की बैठको में केवल कमेटियों की सिफारिशों पर चर्चा भर होती है। इन कामों में सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होने से कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। सच तो यह है कि विधान की स्वीकृति का आधार जितना व्यापक होगा, उसे उतना ही अधिक स्थायित्व मिल सकेगा।

विधान-निर्मातृ सभा के बन जाने पर अपनी कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार उसी को होगा। वह स्वय अपना सभापति चुनेगी, विधान के आधार-भूत सिद्धातों का निश्चय करेगी, और वैधानिक प्रश्नों के अध्ययन के लिए विभिन्न समितियों की स्थापना करेगी। हमारे भावी विधान की रूपरेखा सघ-शासन के सिद्धात पर बनेगी अथवा केन्द्रीभूत-शासन के, इसका निर्णय विधान-निर्मातृ सभा ही करेगी।[1] केन्द्र और प्रातों के बीच सत्ता का बटवारा किस प्रकार होगा, शासन के विभिन्न भागों के आपसी सबध क्या होंगे, मताधि-धिकार किन लोगों को दिया जायगा, चुनाव की पद्धति क्या होगी, अर्थनीति पर किन नियत्रणों की सृष्टि करना आवश्यक होगा, ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका निर्णय विधान-निर्मातृ सभा ही करेगी। वह विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के लिए कमेटिया नियुक्त करेगी, सभव है उनकी रिपोर्टों में सामजस्य लाने के लिए भी एक कमेटी नियुक्त कर दे, और उनकी रिपोर्टों पर विचार करेगी, और इस अध्ययन और अनुशीलन, विचार-विनिमय और वाद-विवाद के बाद विधान को

१—मैं समझता हूँ कि विधान-निर्मातृ-सभा के निर्माण का आधार भारतीय एकता पर ही होना चाहिए। सारा देश मिल कर उसे चुने। उसमें प्रतिनिधित्व भारतीय जनता का हो, न कि विभिन्न प्रांतों का। प्रांतीय आत्म-निर्णय के आधार पर एक संघ-शासन के निर्माण का पूरा अधिकार तो उसे होगा ही, भारतीय एकता से चलकर प्रांतीय-स्वराज्य की ओर अग्रसर होना ही हमारी परि-स्थितियों के अनुकूल है भी। यदि आरम्भ में ही प्रांतों को स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई मान लिया गया, और इस आधार पर विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ, तो उसके कार्य में अकेन्द्रीकरण और विशृंखलता के तत्वों के बहुत प्रबल बाधा बन जाने का भय है। प्रातीय आत्म-निर्णय और, एक काफ़ी दूर तक अकेन्द्रीकरण, की आवश्यकता को मानते हुए भी हमें भारतीय एकता पर उसे तरजीह नहीं देना है। और जबकि प्रांतीय सीमाओं का पुनर्निर्माण विधान-निर्मातृ सभा का एक मुख्य कार्य होगा, तब तो वर्त्तमान प्रांतों के आधार पर उसका चुनाव करना घोड़े के आगे गाड़ी को जोड़ने के समान होगा।

अन्तिम स्वीकृति देना भी उसी के अधिकार मे होगा। अपने इस कार्य में वह अन्य देशो की विधान-निर्मातृ सभाओं के अनुभवों से भी पूरा लाभ उठायगी। इस सभा के द्वारा बनाया और स्वीकृत किया गया विधान ही समस्त भारतीय जनता के लिए मान्य होगा।[1]

विधान-निर्मातृ सभा के सम्बन्ध में दो अन्य शकाओ का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। एक तो यह माना जाता है कि जब तक देश भर मे मूल-भूत सिद्धातो के संबंध में समझौता न हो जाय, तब तक विधान-निर्मातृ सभा को अपने कार्य में सफलता मिलना असभव ही होगा। प्रो० कूपलैण्ड के शब्दों मे, "मतदाताओ की एक बहुत बड़ी संख्या राजनैतिक दलो और सादे नारो की दया पर निर्भर रहेगी। करोड़ो मत 'गांधी और पीली पेटी' या 'इस्लाम खतरे मे' के नाम पर पड़ेंगे।...सच तो यह है कि जब कि मतदाताओं के नाम दर्ज करने और उनके मत देने के लिए बहुत बड़ी व्यवस्था करने का काम समाप्त हो जायगा तब पता यही लगेगा कि यह काम तो, बिना अधिक महनत या खर्च के, मौजूदा व्यवस्था के द्वारा भी किया जा सकता था। ठोस अन्तर केवल यही होगा कि मतदाताओ की सख्या बहुत बढ़ जायगी।......क्या इससे वैधानिक समाधान की प्राप्ति हो सकेगी? उसे प्राप्त करने का तो एकमात्र रास्ता समझौते का है, और लडने वाले नेताओ के जनता को अपने पीछे ले आने से उसमें सहायता पहुचना संभव नही है।"[2] डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा—"जहा तक मुख्य राजनैतिक प्रश्नो के निर्णय का सवाल है, विधान-निर्मातृ सभा की स्थापना के पक्ष मे दलीलें तो बहुत प्रबल हैं, परन्तु जब तक संयुक्त निर्वाचन के आधार पर पहिले से कोई समझौता नहीं हो जाता, तबतक इस पद्धति को अपनाना बहुत ही अधिक खतरनाक सिद्ध होगा।"[3] दूसरी बात इस सबध मे यह कही जाती है कि हमारी साप्रदायिक समस्या को सुलझाने मे भी विधान-निर्मातृ सभा के सफल होने की आशा कम ही है, और यदि साप्रदायिक चुनाव की इजाजत दे दी गई, जिसके लिए काग्रेस तैयार जान पडती है, तब तो उससे हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के और भी ज्यादा बढ़ जाने का डर है। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दो में, "विधान-

१–विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये—

एन० गांगुली : Constituent Assembly for India.

राममनोहर लोहिया : Constituent Assembly.

२–प्रो०कूपलैंड : The Constitutional Problem of India, भाग २, पृ० २४-२५।

३–डा०बेनीप्रसाद : Hindu Muslim Questions, पृ० १६७।

निर्मातृ सभा का - काम विधान का निर्माण करना है, न कि साम्प्रदायिक विषमताओं का इलाज करना।"

इन आलोचनाओं के पीछे एक ओर तो प्रजातन्त्र की शक्तियों से भय की वृत्ति है, और दूसरी ओर यह गलत मान्यता है कि हमारे आज के राजनैतिक दल देश की जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा, गहराई मे जाकर, अपने भविष्य के सम्बध में हम एकमत नहीं हैं। प्रजातन्त्र की शक्तियो को उभाड़ना सोते हुए साप को जगाने के समान खतरनाक तो है, पर जिस राजनैतिक विधान की बुनियाद प्रजातन्त्र-रूपी शेषनाग के सहस्र-सहस्र फनो पर प्रस्थापित नहीं होती, विदेशी तलवार, या मशीनगन, या परमाणु बम पर रखी जाती है, वह आधी में तिनके के समान उड़ जाया करता है। हमें तो जनता की इन शक्तियो को जाग्रत करना है, और राजसत्ता के धारा-प्रवाह को उस जागृति के सशक्त स्रोत से सम्बद्ध करना है। ऐसी स्थिति में उस शक्ति से डर कर काम कैसे चलेगा? विधान-निर्मातृ सभा के लिए जवाहरलालजी ने एक बार कहा था, "इसका अर्थ जनता के एक समूह से नहीं है, न काबिल कानूनदानों की एक जमात से, जो विधान को बनाने के निश्चय से इकट्ठा हुए हो। इसका अर्थ तो एक राष्ट्र से है, जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चल पड़ा हो, और जो अपने पुराने राजनैतिक, और सभवत. सामाजिक, ढाचे के खोल को फाड़ फेंकना चाहता हो। इसका अर्थ है देश की जनता का, अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा, एक बड़े काम में जूझ पड़ना।" दूसरी गलत धारणा जो इस प्रयोग के आलोचको के मन में है, वह यह है कि काग्रेस और मुस्लिम-लीग, अथवा भारतीय राष्ट्रीयता और मुस्लिम-साम्प्रदायिकता, का वर्त्तमान अन्तर बहुत गहरा है, अथवा देश की मुसलमान जनता भी साम्प्रदायिकता मे उतनी ही रंगी हुई है जितनी मुस्लिम-लीग और उसके प्रमुख नेता। यह मानना वस्तु-स्थिति की गहराई मे जाने से इन्कार करना है। साम्प्रदायिक संघर्ष देश के एक बहुत छोटे तबके तक, शहरों की मध्य-श्रेणी के एक बड़े अश तक, ही सीमित है। देश की जनता के सामने मुख्य प्रश्न सरकारी नौकरिया प्राप्त करने, अथवा छोटे-मोटे आर्थिक संघर्ष में पड़ने अथवा धारा-सभाओं में घुसने का नहीं है, राजनैतिक आजादी हासिल करने, और अपनी गरीबी, अधनगापन और भुखमरापन, दूर करने का है। यह भावना, जगल में फैल जाने वाली आग की लपटों के समान, आज देश के कोने-कोने में फैली हुई है। उसे बुझाया नहीं जा सकता, दबाया नहीं जा सकता, कुचला नहीं जा सकता। वर्त्तमान को भस्मसात करने, स्वाधीनता और आत्म-गौरव के आधार पर एक सोनहले भविष्य को निर्माण

करने के उसके निश्चय को रोका नही जा सकता। हमारी विधान-निर्मातृ सभा इस निश्चय का प्रतीक होगी। साप्रदायिक संघर्ष के परे उसका स्थान है। सांप्रदायिक कलह की भावना जो आज एक धूमकेतु के समान हमारे समस्त राजनैतिक जीवन पर आक्रान्त है, देश की व्यापक जनता के संपर्क मे आकर पानी के बुदबुद के समान मिट जायगी। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि हमारी सांप्रदायिक समस्या का एकमात्र हल विधान-निर्मातृ सभा ही है।

संधि और स्थायी विधान

ऊपर इस बात की चर्चा आचुकी है कि हिन्दुस्तान का भावी शासन-विधान बनाने के जो दो तरीके हो सकते हैं—एक अंग्रेजी सरकार के द्वारा उस विधान का निर्माण और स्वीकृति, और दूसरा हिन्दुस्तान की जनता द्वारा चुनी गई विधान-पंचायत के द्वारा उसका निर्माण—उनमे से दूसरा तरीका ही अब संभव रह गया है। परन्तु, विधान-पचायत के द्वारा इस प्रकार का विधान बन जाने के बाद भी अंग्रेजी सरकार के साथ एक संधि की गुंजाइश तो रह ही जाती है। आयर्लैंड का उदाहरण हमारे सामने है। अंग्रेजी सरकार ने १९१४ मे, लॉयड जॉर्ज की प्रेरणा से, आयर्लैण्ड के लिए एक विधान बनाया था, जिसके अनुसार उसे दो भागो मे बाट देने का आयोजन था, इन दोनों भागों को समन्वित करने के लिए एक सघीय समिति बनाने का प्रस्ताव था, और रक्षा और विदेशी नीति आदि महत्त्वपूर्ण विभाग अंग्रेजी सरकार के नियत्रण में ही रखने का विचार था। आयर्लैंड की जनता ने इस विधान का बहिष्कार किया, और चुनाव मे भाग लेने व अंग्रेजी अधिकारियो की आज्ञा मानने से कतई इन्कार कर दिया। अंग्रेजी सरकार ने कौमी आजादी के इस आन्दोलन को पहिले तो कुचलने की चेष्टा की, पर, जब वे उस चेष्टा में सफल न हो सके तो, १९२१ में, सधि-चर्चा आरम्भ की। अंग्रेजी मन्त्रिमण्डल के कुछ व्यक्तियों और आयर्लैंड की प्रजातन्त्र-पार्लमेण्ट (Dail Eireann) के उतने ही सदस्यों में बातचीत हुई, और उसके परिणाम-स्वरूप एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गए, और बाद में इग्लैंड और आयर्लैंड दोनों देशों की पार्लमेण्टो ने उसे स्वीकार कर लिया। सभवतः यही उदाहरण अंग्रेजी-मंत्रिमडल के सामने था, जब उसने क्रिप्स-प्रस्तावो के द्वारा, हिन्दुस्तान के साथ भी इसी प्रकार की एक सधि का प्रश्न उठाया था। अंग्रेजी सरकार और विधान-समिति (Constitution-making body) के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर किये जाना क्रिप्स-योजना को अमल मे लाने के लिए एक आवश्यक शर्त मानी गई थी। इस सधि में उन सब आवश्यक बातों के शामिल किये जाने पर जोर दिया गया था, जिनका

सबध हिन्दुस्तानियों के हाथों में राजसत्ता के सौंपे जाने, और विशेषकर जातीय और धार्मिक अल्पसख्यक वर्गों के संरक्षण, से हो।

क्रिप्स द्वारा प्रस्तावित सधि एक बहुत ही असतोषजनक सुझाव है. वह हिन्दुस्तान की आज़ादी पर एक प्रतिबन्ध के रूप में पेश किया गया था। उसका आधार इस विश्वास में है कि हिन्दुस्तान और इग्लैंड सदा ही एक निकट-संबध में बधे रहेंगे। अल्पसख्यक वर्गों को भी जिन सरक्षणों के दिये जाने का प्रस्ताव है, उनका आधार अग्रेजी सरकार द्वारा समय-समय पर किए गये वायदों में है। आयर्लैंड के साथ की जाने वाली १६२१ की सधि का आधार भी परावलम्बन की इस भावना में था, और इसी कारण वह सफल नहीं हो सकी। अगले दस वर्षों में उसमें लगातार परिवर्त्तन होते रहे, और १६३२ में जब डी वैलेरा के हाथ में सत्ता आई, उन्होंने इस सधि को उठा कर एक ओर रख दिया, और, व्यावहारिक दृष्टि से, आयर्लैंड को पूर्ण स्वतन्त्र बना लेने का निश्चय कर लिया। १६३७ के नये शासन-विधान के अनुसार तो आयर्लैंड ने इग्लैंड से सबध-विच्छेद ही कर लिया है।[1] यही बात हिन्दुस्तान के साथ की जाने वाली सधि के सबध में कही जा सकती है। कोई भी ऐसी सधि जो हिन्दुस्तान की सार्वभौमता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण लगाती हो, कभी स्थायी नहीं हो सकती। जहा तक अल्पसंख्यक वर्गों के सरक्षण का प्रश्न है, उसका एकमात्र रास्ता इन सरक्षणों को हमारे भावी शासन-विधान में सश्लिष्ट कर देने, पिरो देने, का है, किसी विदेशी शासन की कृपा और नीति पर वे नहीं छोड़े जा सकते। हमारे और इग्लैंड के बीच की जाने वाली संधि में देश के आन्तरिक प्रश्नों के सबध में कोई बात नहीं होगी। उसमें हिन्दुस्तान और इग्लैंड के आपसी सबधों, और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इन सबधों की स्थिति, का स्पष्टीकरण होगा। आन्तरिक प्रश्नों को निबटाने का सर्वाधिकार स्वय हमें होगा—साप्रदायिक और अल्पसख्यक वर्गों से सबध रखने वाले सभी प्रश्न इसी कोटि में आते हैं। इसके अलावा, हिन्दुस्तान और इग्लैंड के कुछ आपसी व्यापारिक सबध हो सकते हैं, जिनकी व्याख्या इस संधि में की जा सकेगी—हिन्दुस्तान अंग्रेजी माल की खपत के लिए कुछ सुविधाए दे सकता है बशर्त्ते कि उसे इग्लैंड से अपने औद्योगीकरण

१—विधान-वेत्ताओं में इस सम्बन्ध में मतभेद था कि युद्ध के अवसर पर आयर्लैंगड इंग्लैंड से अलहदा अपनी कोई नीति बना पाएगा अथवा नहीं, पर दूसरे महायुद्ध में, बड़ी कठिन परिस्थितियों के बीच, अपनी तटस्थता की रक्षा करके उसने इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भी अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का परिचय दिया है।

मे कुछ विशेष सहायता मिल सके। इसी प्रकार दृष्टिकोण अथवा स्वार्थों की सामान्यता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भी हिन्दुस्तान और इग्लैंड के बीच एक समझौते की कल्पना तो की ही जा सकती है। ये सब प्रश्न उस सधि मे स्पष्ट किये जा सकेंगे।

हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के बीच की इस सधि के सबंध में दो बातें हमें अपने ध्यान मे रखनी हैं। एक तो यह कि वह संधि देश की सार्वभौमता पर किसी प्रकार का नियंत्रण न हो। आन्तरिक व्यवस्था संबंधी प्रश्नों, अथवा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के प्रश्न, में यदि हमने किसी भी अश मे इग्लैण्ड पर निर्भर होना स्वीकार कर लिया तो हमारी आजादी एक बे-मानी सी चीज हो जायगी। उस संधि की पहिली शर्त्त यही होगी कि वह हिन्दुस्तान के स्वार्थों को पहिला स्थान देगी, और उसका आधार हिन्दुस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता मे होगा। सघ-शासन के विभिन्न सदस्यों अथवा देश के विभिन्न धर्मावलम्बियो के आपसी सबध निश्चित करने अथवा उनके मतभेदों को सुलझाने का प्रयत्न विधान के द्वारा किया जायगा। वह एक विदेशी सरकार के साथ सन्धि का विषय नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस संधि में सशोधन-परिवर्त्तन आदि के लिए पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए। समय और परिस्थितियों के साथ इस प्रकार के परिवर्त्तन आवश्यक होगे। सभव है कि आज हम प्रजातन्त्र और फासिज्म के किसी संघर्ष में इग्लैण्ड का साथ देना मंजूर करलें, पर कल यदि साम्राज्यवादी इग्लैण्ड, अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ के हमारे पडोसी राष्ट्रो को, जिनके स्वार्थ हमारे अपने स्वार्थ हों, कुचलने के लिए तैयार हो जाय, तो हम उसके प्रति अपनी नीति में परिवर्त्तन करना चाहें। संधि की शर्त्तों के सबध मे यदि दोनों देशो में मतभेद हो तो उसका निर्णय करने, और उस निर्णय पर दोनो देशो को अमल करने के लिए बाध्य करने, का अधिकार किसे हो, यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। यह अधिकार उस समय की किसी सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को ही दिया जा सकता है।

मैं समझता हूं कि सन्धि और विधान-निर्माण के प्रश्नो को अलग-अलग रखना अत्यन्त आवश्यक है। सधि का संबध हमारे और इग्लैण्ड के बीच का होगा। विधान हमारे आन्तरिक प्रश्नो को सुलझाने की दिशा में एक बड़ा प्रयत्न होगा। यह भी हो सकता है कि विधान-निर्मातृ सभा पहिले विधान बना ले, और इग्लैण्ड के साथ सन्धि के प्रश्न को उस विधान द्वारा बनने वाली सरकार पर छोड दे, पर यह कुछ अव्यावहारिक सा दिखाई देता है, क्योंकि जब तक सार्वभौम-सत्ता अंग्रेज़ो के हाथो से निकल कर विधान-निर्मातृ

सभा के हाथ में नहीं आ जाती है, तब तक उसके द्वारा किसी स्थायी सरकार के बनाये जाने का प्रश्न कुछ अवास्तविक-सा लगता है, और यह सत्ता का आधार-परिवर्त्तन सन्धि के द्वारा ही सम्भव है। सधि के बाद ही विधान निर्मातृ सभा को यह अधिकार प्राप्त हो जायगा कि वह देश के लिए एक शासन-विधान बना ले। विधान-निर्मातृ-सभा का वास्तविक कार्य तभी आरंभ होगा, और वह एक महान् दुस्तर कार्य होगा, इसमें तो संदेह है ही नहीं। विधान-निर्मातृ-सभा को ही यह तय करना होगा कि हमारा विधान संघ-शासन के आधार पर बने अथवा केन्द्रीभूत शासन उसका लक्ष्य हो, उसका सगठन पार्लमेण्टरी 'पद्धति पर' हो अथवा प्रेजीडेंटी ढङ्ग से, उसमें सभी प्रान्तों को बराबर अधिकार हों अथवा हिन्दू-प्रांतों और मुस्लिम-प्रांतों के बीच सन्तुलन और समानता की भावना हो, शासन का आधार व्यक्ति हो अथवा संप्रदाय, व्यक्ति के अधिकारों का स्पष्ट समावेश विधान के अन्तर्गत हो अथवा उन्हे राज्यो की सदिच्छा पर छोड दिया जाय। इस प्रकार के सैकडों महत्त्वपूर्ण प्रश्न होंगे, जिन पर विधान-निर्मातृ-सभा को विचार करना होगा, और स्पष्ट निर्णय बनाने पडेगे। उसे अपने इस कार्य में उस समय तक हर्गिज सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि उसे देश की समग्र-जनता का समर्थन प्राप्त न हो, दूसरे शब्दों में, जब तक वह स्वयं उनके द्वारा चुनी न गई हो।

(आ) समझौते की दिशा में वैधानिक प्रयत्न

मूलभूत अधिकारों का प्रश्न

विधान-निर्मातृ सभा के सामने सबसे बडा प्रश्न साप्रदायिक समझौते की दिशा में प्रयत्न करने का होगा। इसी दृष्टि से हमें मूलभूत अधिकारों के प्रश्न पर चर्चा करना है। प्रत्येक देश में व्यक्ति के कुछ मूल-भूत अधिकार होते हैं, जिनके सम्बन्ध में साधारणतः यह आवश्यक माना जाता है कि शासन के द्वारा उनकी स्वीकृति की घोषणा कर दी जाय, और उन्हें केन्द्रीय व प्रातीय दोनों विधानों में शामिल कर लिया जाय, जहा तक इन मूलभूत अधिकारों के विधान में शामिल किये जाने का प्रश्न है, विधान-शास्त्री इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। अंग्रेज लेखक प्रायः उसमें अपना अविश्वास ही प्रगट करते हैं। उनका विचार है कि ये अधिकार प्रायः ऐसे होते हैं कि क़ानूनी अदालतों द्वारा उनके सम्बन्ध मे निर्णय किया जाना बड़ा कठिन होता है, और यदि वे किसी निर्णय पर पहुँच भी सकीं तो उसके अमल में आने में काफी दिक्कत पेश आती है। परन्तु अन्य देशों के विधान-शास्त्री अंग्रेज लेखकों के इस तर्क से प्रायः सहमत

नहीं हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि, इंग्लैण्ड को छोड़कर, प्रायः प्रत्येक देश मे व्यक्ति के इन मूलभूत अधिकारो को विधान के अन्तर्गत रखा गया है। अमरीका का संयुक्त राज्य, जर्मनी, दक्षिण-पूर्वी यूरोप के वे सब राज्य जो पहिले महायुद्ध के बाद बने, सोवियट रूस, सभी देशों के विधान मे इन अधिकारो को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।

हिंदुस्तान में भी यह जान पड़ता है कि इस प्रकार के अधिकारो की एक सूची बना लेना अत्यन्त आवश्यक होगा। हमारे देश के गण्य-मान्य व्यक्तियों और राजनैतिक दलो का इसमें गहरा विश्वास दिखाई देता है। कांग्रेस ने अपने १९३१ के अधिवेशन (कराची) में मूलभूत अधिकारों का एक घोषणा-पत्र भी स्वीकृति किया था, जिसे १ नवंबर १९३७ को अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी ने अपने एक प्रस्ताव मे दोहराया। मुस्लिम-लीग ने भी अपने १९४० के लाहौर-प्रस्ताव में इस बात की मांग की कि 'विधान मे इकाइयो और प्रदेशो में रहने वाले अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, शासन-सम्बन्धी तथा अन्य अधिकारों एवं हितो की रक्षा के लिए, उनसे सलाह करके, पर्याप्त, प्रभावपूर्ण और आदेशात्मक संरक्षणो की स्पष्ट व्यवस्था की जानी चाहिए।' प्रस्ताव के शब्द कुछ अस्पष्ट हैं। यह साफ तौर से नहीं बताया गया है कि किन संरक्षणो की अपेक्षा की गई है, परन्तु यदि हम १९२९ की अखिल-भारतीय मुस्लिम-कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृत मुसलमानो की १४ मांगों को दृष्टि मे रखें तो हम इन संरक्षणो के सम्बन्ध मे कुछ विचार बना सकते हैं। उनमें इस बात की मांग की गई है कि "भारतीय विधान में पर्याप्त संरक्षण इस प्रकार के हों जिनसे मुसल्मानो की शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत कानून और जकात सम्बन्धी संस्थाए सुरक्षित और समुन्नत बनाई जा सकें, और सरकारी सहायता में भी उनका पर्याप्त भाग होना चाहिए।" इन सब से यह भी स्पष्ट होता है कि हमारे देश में मूलभूत अधिकारो के विधान में सम्मिलित किये जाने के पक्ष में बहुत बड़ा जनमत है।

इन मूलभूत अधिकारो की घोषणा के भारतीय शासन-विधान में शामिल किये जाने का बहुत बड़ा महत्त्व है। हम इस पर मुख्यतः दो दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं। पहिली बात तो यह है कि यदि इस प्रकार की घोषणा विधान का एक आवश्यक अंग बन सकी तो इससे धारासभाओ के लिए यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा, और इस बात को भुलाना उनके लिए कभी संभव नहीं हो सकेगा, कि उन्हे किस प्रकार के कानून बनाने और प्रचलित करने हैं, और किन सीमाओं मे उन्हें काम करना है। यदि इस प्रकार का घोषणा-पत्र उनके सामने है तो वे न तो उसके शब्दों के ही ख़िलाफ जा सकते हैं, और

न उसकी मूलभूत भावना के। यदि वे ऐसा करने की चेष्टा भी करेंगे, तो 'सुप्रीम कोर्ट' व दूसरी अदालतें उनके इस काम में बाधक होंगी। बहुत सभव है कि वे उनके इस प्रकार के निर्णयों को नियम-विरुद्ध (ultra-vires) घोषित कर दे। मूलभूत अधिकारों के स्पष्ट कर दिए जाने मे एक दूसरा लाभ यह भी है कि उससे स्वय अल्पसख्यको को अपने अधिकारो के सबध में शिक्षा प्राप्त हो सकेगी। उन्हें इस बात की स्पष्ट जानकारी हो जायगी कि समाजमें उनकी वास्तविक स्थिति क्या है। अपने अधिकारो के सम्बन्ध में वे आश्वस्त हो सकेंगे। वे इस सम्बन्ध मे निश्चिन्त रह सकते हैं कि एक बार विधान के अन्तर्गत आजाने के बाद उनके ये अधिकार आसानी से उनसे छीने नहीं जा सकेंगे। इससे उन्हें एक मानसिक सन्तोष उपलब्ध हो सकेगा। वे इस बात को समझेंगे कि यद्यपि उनकी सख्या कम है, पर राज्य की ओर से उनके अधि-कारों के सरक्षण का पूरा प्रबन्ध किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में राज्य के प्रति उनकी भक्ति और निष्ठा बढ़ेगी, और राज्य का आधार अधिक व्यापक और स्थायी बन सकेगा।

मूलभूत अधिकारों की रूप-रेखा

यह निश्चय कर लेने के बाद कि मूलभूत अधिकारो की घोषणा हमारे विधान का एक आवश्यक अग होनी चाहिए, दूसरा प्रश्न यह उठता है कि उस घोषणा की रूप-रेखा क्या हो, उसमें किन अधिकारों को समाविष्ट किया जाय और उन अधिकारों को क्रियात्मक रूप देने के सम्बन्ध में किन साधनो का विकास किया जाय। इस सम्बन्ध में पहिले महायुद्ध के बाद बनाने वाले यूरोपीय विधानों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। इन विधानो में मूलभूत अधिकारों की सूची प्रायः काफ़ी लम्बी है। उसमें लगभग सभी प्रकार के अधिकार आ गए हैं। उनमें नागरिक अधिकारों की गणना है, राजनैतिक अधिकारों का समावेश है, और सास्कृतिक अधिकारों का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। जहा तक नागरिक और राजनैतिक अधिकारों का प्रश्न है, उनकी एक सूची बना लेना कठिन नहीं है। मैं समझता हूँ, काग्रेस के कराची-प्रस्ताव को उनका आधार माना जा सकता है। कराची-प्रस्ताव में निम्न बातो पर जोर दिया गया है—

(१) अपनी राय आजादी से ज़ाहिर करने का हक़, मिलने-जुलने और समिति-सघ आदि बनाने की आजादी, शान्ति-पूर्वक, और बिना हथियारों के, ऐसे उद्देश्यों के लिए सभा करने की आजादी जो कानून या नैतिकता के विरुद्ध न जाते हों।

(२) अपने विश्वासों पर चलने की, आज़ादी और स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने

धर्म का पालन व प्रचार करने का हक—इस शर्त्त के साथ कि उससे सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता का अतिक्रमण न होता हो।

(३) अल्पसंख्यक वर्गों और विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशो की सस्कृति, भाषा और लिपि का संरक्षण।

(४) क़ानून की दृष्टि मे सब नागरिको की समानता, चाहे वे स्त्री हो या पुरुष, और चाहे वे किसी धर्म, जाति और सम्प्रदाय के सदस्य हो।

(५) सरकारी नौकरी पाने, शक्ति अथवा प्रतिष्ठा के किसी स्थान पर नियुक्त किये जाने, और किसी भी व्यापार अथवा उद्योग को स्वीकार करने के अधिकारों के सम्बन्ध में किसी नागरिक पर उसके धर्म, जाति, सम्प्रदाय अथवा स्त्री या पुरुष होने के आधार पर सभी प्रकार के प्रतिबन्धो का अभाव।

(६) कुएँ, तालाब, सड़को, शिक्षालयो और सार्वजनिक स्थानो के सम्बन्ध में, जिनकी व्यवस्था राज्य के अथवा स्थानीय कोष से की जाती हो, अथवा जो व्यक्तियो द्वारा जनता के साधारण व्यवहार के लिए निर्माण किये गए हो, सब नागरिको के अधिकारों व कर्त्तव्यो की समानता।

(७) राज्य की ओर से सब धर्मो के सम्बन्ध मे तटस्थता की नीति का पालन।

राजनैतिक संरक्षणों की समस्या

परन्तु, आज की भारतीय परिस्थिति मे, केवल मूलभूत अधिकारो का विधान मे सम्मिलित किया जाना काफी नहीं होगा। कम-से-कम सक्रमण काल मे, जिसकी अवधि दस या पन्द्रह वर्ष की हो सकती है—यह व्यवस्था कितने वर्षों तक चले, इसका स्पष्टीकरण पहिले से हो जाना आवश्यक है—यह अनिवार्य होगा कि अल्प-संख्यक वर्गों को पूर्ण रूप से आश्वस्त करने के लिए कुछ विशेष सरक्षणो की आवश्यकता हो। इन सरक्षणो मे सबसे महत्त्वपूर्ण होगा—धारासभा मे स्थानो का बंटवारा। आज मुसल्मान हमारी आजादी की जग के खिलाफ जा रहे हैं, इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि उन्हें यह डर है कि प्रजातन्त्रीय सगठन के अन्तर्गत हिंदुओ के लिए धारासभा में अधिकाश स्थानो को पा लेना, और उन पर जमे रहना, आसान होगा। दूसरे शब्दो मे, उन्हें यह डर है कि प्रजातन्त्र के नाम पर हिंदू-राज की स्थापना की जा सकेगी। मुस्लिम लीग प्रजातन्त्र के खिलाफ़ नही है, और न पार्लमेण्टरी संस्थाओ से ही उसे चिढ है। वह जिस चीज का विरोध करती है वह प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जिसने हिंदू बहुसख्यक काग्रेस को अधिकाश प्रान्तों में शासन के सूत्र अपने हाथो मे ले लेने की सुविधा दी। मि० जिन्ना और मुस्लिम-लीग ने बार-बार जिस बात पर जोर दिया है, वह यह है कि भविष्य मे इस प्रकार के शासनों

के निर्माण का वे यथाशक्ति विरोध करेंगे।

इसके विरुद्ध जो दलील दी जाती है, मैं उससे पूर्णतया परिचित हूँ। यह कहा जाता है कि जब कि देश में हिंदुओं का बहुमत है, उन्हें इस बात का पूरा अधिकार है कि वे अपनी सरकार बना सकें, परन्तु, यह बात प्रजातन्त्र की मेरी कल्पना के विरुद्ध जाती है। मैं समझता हूँ कि प्रजातन्त्र का अर्थ केवल यही नहीं है कि उसमें बहुसख्यक वर्ग का शासन हो। मैं तो समझता हूँ कि प्रजातन्त्र जनता की ऐसी सरकार का नाम है जो समग्र जनता के हित को दृष्टि में रखते हुए काम करती हो। ऐसी स्थिति मे, यदि मुसल्मानो को सचमुच यह डर है कि राज्य-शासन में हिंदुओं की प्रधानता होजाने से उनकी सस्कृति को ख़तरा है, तो इस डर को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, और उस प्रयत्न की दिशा में धारा-सभा मे मुसल्मानो को अपनी संख्या के अनुपात से कुछ अधिक स्थान देना भी आवश्यक हो तो वैसा करना चाहिए। हमारे वैधानिक इतिहास मे यह कोई नई बात नहीं है। अब भी वर्ग विशेषो के लिए धारासभा मे कुछ स्थान सुरक्षित रखने और उन्हें संख्या के अनुपात से कुछ अधिक स्थान देने की पद्धति हमारे विधान का एक महत्वपूर्ण अग है ही। इस स्थिति के सम्बन्ध मे हम अपना खेद प्रगट कर सकते हैं, पर उससे जल्दी छुटकारा पाने की हमे आशा नहीं है। १६३२ के साप्रदायिक निर्णय के अनुसार मुसल्मानो को ब्रिटिश भारत में ३३.३ प्रतिशत स्थान दिये गए हैं, और पजाब और बगाल की धारासभाओं मे, जहा उनकी सख्या वैसे ही अधिक है, बहुमत बना लेने की सुविधा दी गई है। जहा तक केन्द्रीय धारासभा का संबध है, मुसल्मान स्थानो के वर्तमान अनुपात को और भी बढाया जा सकता है। कुछ दिनों पहिले भारत-सरकार के भूतपूर्व सूचना-मन्त्री सर सुल्तानअहमद ने यह सुझाव सामने रखा था कि सवर्ण हिंदुओं और मुसल्मानों की सख्या बराबर कर दी जाय, और उनमें से प्रत्येक को ४० प्रतिशत स्थान दिये जाय, और २० प्रतिशत स्थानों को एक ओर दलित जातियो और दूसरी ओर ईसाई, सिख, पारसी, एंग्लो-इण्डियन आदि में बराबर-बराबर बाट दिया जाय। इस प्रस्ताव को अमल में लाने का अर्थ होगा कि सवर्ण हिंदुओ की सख्या देश की आबादी का ६०.३७ प्रतिशत होते हुए भी धारा-सभा में उन्हें केवल ४० प्रतिशत स्थान प्राप्त होंगे, और मुसल्मानों की संख्या लगभग २४ प्रतिशत होते हुए भी उन्हे ४० प्रतिशत स्थान मिल सकेंगे। इसमें हिंदुओं से त्याग की अपेक्षा तो की ही गई है, पर मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि इससे हिंदुओं के हितों और स्वार्थों पर धक्का लगेगा। हिंदुओं की सख्या मुसल्मानो से किसी प्रकार कम तो होगी नहीं। यदि अपने स्वार्थों की

रक्षा मे वे कटिबद्ध रहें—और जहां तक बड़े हिंदू स्वार्थों का सम्बन्ध होगा, कोई कारण दिखाई नही देता कि वे इस प्रकार से कटिबद्ध क्यों नही होगे, अपनी माग के न्यायपूर्ण होने की अवस्था में अन्य अल्पसख्यक वर्गों के सहयोग की भी वे अपेक्षा कर ही सकते हैं—तो वे अपना बहुमत बना सकेंगे, यह सच है कि वह बहुमत वैसा सशक्त नहीं होगा जैसा साधारण स्थिति मे होगा। इसी प्रकार मुसल्मान भी किसी भी न्यायपूर्ण मांग के लिए यदि हिंदुओ के समर्थन की अपेक्षा न भी रखे तो अल्प-सख्यक वर्गों का समर्थन तो प्राप्त कर ही सकेंगे। डॉ० बेनीप्रसाद ने सप्रू कमेटी को पेश की गई अपनी विज्ञप्ति में दलित वर्ग को छोड़कर अन्य अल्पसंख्यको की संख्या में कुछ कमी करके सवर्ण हिंदुओं की सख्या को कुछ बढ़ानेका सुझाव सामने रखा था। उनके मतानुसार सवर्ण हिंदुओं को ४३, मुसल्मानो को ४०, दलित जातियो को १० और दूसरे अल्पसख्यक वर्गों को ७ प्रतिशत स्थान दिये जाने चाहिएं। सप्रू-कमेटी ने (दलित जातियो को छोड़ कर) हिंदुओं और मुसल्मानो को—'उनकी आबादी के अनुपात में बहुत बड़े अन्तर के होते हुए भी'—बराबर स्थान देने का प्रस्ताव किया है।

सांप्रदायिक चुनाव का प्रश्न

परन्तु, सप्रू-कमेटी ने हिंदू और मुसल्मान सदस्यो की संख्या मे बराबरी के इस सिद्धात को बिना शर्त्त के नही मान लिया है। उसने अपने इस प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए यह शर्त्त आवश्यक मानी है कि मुसल्मान सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धात को छोड़ने के लिए तैयार हो जायं। "कमेटी अपने इस मत पर जोर देना चाहती है," प्रस्तावो मे कहा गया है "कि यदि उसकी यह सिफ़ारिश ज्यो की त्यो न मानी गई तो हिंदू-समाज को भी यह अधिकार होगा कि वह न सिर्फ प्रतिनिधित्व के सबध मे समानता के इस प्रस्ताव को अस्वीकार ही कर दे, बल्कि साप्रदायिक समझौते(Communal Award)के दोहराए जाने पर भी जोर दे!" जहा तक साप्रदायिक चुनाव का प्रश्न है, उसके अशुभ परिणामों के सम्बध में मतभेद की बिल्कुल गुंजाइश नही है। भारतीय राजनैतिक जीवन को उसने जहर से सींचा है। हमारे साप्रदायिक वैमनस्य की पहिली जिम्मेदारी उस पर है। यदि अंग्रेजी राज्य की समाप्ति पर भी किसी अस्थायी अथवा स्थायी विधान मे उन्हे रखा गया तो वह अंग्रेज़ी राज्य की सबसे बुरी विरासत होगी। परन्तु जहा तक आज की मुस्लिम विचार-धारा का सम्बन्ध है, वह सांप्रदायिक चुनाव के उसूल से जकडी हुई है। क्रिप्स-प्रस्तावों को अस्वीकार करते समय भी मुस्लिम-लीग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह सांप्रदायिक चुनाव को 'मुसल्मानों के सच्चे प्रतिनिधियो के चुने जाने का एक-मात्र सही रास्ता' मानती है। जब तक

अल्प-सख्यक वर्गों की सहमति हमें प्राप्त न हो सके, तब तक सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धान्त को जड़ से उखाड़ फेंकना शायद सभव न हो। इसके अलावा, समान-प्रतिनिधित्व के सिद्धात में यदि कोई अच्छाई है तो किसी अव्यावहारिक शर्त के बिना ही उसे अमल में क्यों नहीं लाया जाय। परन्तु साप्रदायिक चुनाव के सिद्धात में कुछ सशोधन करना तो आवश्यक होगा ही। यदि मुसल्मानों के दृष्टिकोण से यह आवश्यक समझा जाता है कि धारासभाओं के मुसल्मान प्रतिनिधि ऐसे हों जो मुस्लिम-समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकें, तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह देखना भी आवश्यक है कि वे देश के व्यापक हितों के शत्रु न हों : सच तो यह है कि हमे इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच एक समन्वय की स्थापना करना है। इलाहाबाद के एकता-सम्मेलन में मौ० मुहम्मदअली द्वारा रखे गए प्रस्तावो के ढंग पर किसी समझौते पर पहुचा जा सकता है। उनका प्रस्ताव था कि "धारासभा में मुसल्मान उम्मीदवारों में से जिन्हें अपने समाज के कम-से-कम ३० प्रतिशत मत प्राप्त हों, केवल वही उम्मीदवार चुना जाय तो सयुक्त-निर्वाचन में सबसे अधिक मत प्राप्त कर सके। यदि कोई भी उम्मीदवार ऐसा न हो जिसने अपने समाज द्वारा दिये गए मतों का ३० प्रतिशत प्राप्त किया हो तो उन दो सदस्यो में से जिन्हें अपने समाज में सबसे अधिक मत मिले हों वह सदस्य चुना हुआ घोषित किया जाये जिसे सयुक्त-निर्वाचन द्वारा दिये गए मतों का अधिकाश प्राप्त हो।" किसी भी दशा में, साप्रदायिक चुनाव के आधार पर चुने गए किसी भी मुसल्मान अथवा अन्य सदस्य के लिए धारासभा में स्थान पाने के लिए यह आवश्यक माना जाना चाहिए कि वह दूसरे सम्प्रदायों द्वारा व्यक्त किये गए मतों का एक निश्चित प्रतिशत—२० या २५—भी प्राप्त कर सके।

'बाह्य' और 'व्यक्तिगत' तत्त्वों का निराकरण

अब तक अल्पसख्यक वर्गों के सरक्षण का मुख्य आधार गवर्नर अथवा गवर्नर जनरल माना जाता था। १९३५ के विधान ने इस सम्बन्ध में इन लोगो के हाथों में बहुत बड़ी शक्तियां दे डाली थीं। सच तो यह है कि अब तक तो ये लोग ही साप्रदायिक सरक्षणों की समस्त योजना की धुरी के रूप में रहे हैं। उनका ही यह काम रहा है कि वे यह देखें कि केन्द्रीय व प्रांतीय शासन में अल्प-सख्यक वर्गों को उचित स्थान मिल रहे हैं अथवा नहीं। अल्पसख्यक वर्गों के शैक्षिक और सास्कृतिक अधिकारों की रक्षा का दायित्व भी उन्हीं पर रहा है। क्रिप्स-प्रस्तावों तक में अल्पसंख्यक वर्गों का पक्ष लेकर शासन में हस्तक्षेप करने के अंग्रेजी सरकार के अधिकार को अक्षुण्ण रखा गया है। इन प्रस्तावों में

हिंदुस्तान और इग्लैण्ड के बीच जिस सन्धि की कल्पना की गई है, उसमे जहां उन सब आवश्यक विषयो की चर्चा है "जो अंग्रेजों के हाथ से भारतीयों के हाथ मे पूर्ण सत्ता के सौपे जाने से सम्बन्ध रखते हो," यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि "उसमे जातीय और धार्मिक अल्पसख्यको की रक्षा के लिए व्यवस्था" होगी। परन्तु, जहा तक किसी ऐसे विधान का सम्बन्ध है, जिसका आधार हिंदुस्तान की आजादी पर रखा गया हो, उसमे इस प्रकारके 'व्यक्तिगत' और 'बाहरी' तत्वो के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। गवर्नर और गवर्नर-जनरल के विशेष अधिकारो को खत्म कर देना होगा। यदि सक्रमण-काल मे इन अफसरों को रखना जरूरी भी समझा गया तो उनका स्थान शासन के वैधानिक अध्यक्ष से अधिक दायित्वपूर्ण नहीं होगा।

सरक्षणो के इन 'वाह्य' और 'व्यक्तिगत' तत्वो के निराकरण का अर्थ होगा उनके स्थान मे कुछ वैधानिक तजवीजो की सृष्टि करना। इनमे से एक तजवीज यह हो सकती है कि साप्रदायिक प्रश्नों सम्बन्धी निर्णय धारासभा के बहुमत पर न छोडे जायं, किंतु उनके लिए एक निश्चित अनुपात में उस सम्प्रदाय के सदस्यो का, जिससे वह सम्बन्ध रखते हो, समर्थन आवश्यक माना जाना चाहिए। कांग्रेस के विधान में एक ऐसी धारा थी, जो १६२१ के सशोधन मे निकाल दी गई, जिसके अनुसार उसके अधिवेशन मे किसी ऐसे विषय पर चर्चा नहीं की जा सकती थी और न प्रस्ताव लिए जा सकते थे जिस पर मुसल्मान अथवा हिन्दू सदस्यों का ७५ प्रतिशत एतराज कर रहा हो—एतराज करने वाले सदस्यो की संख्या का कुल सभा का कम-से-कम चतुर्थांश होना भी आवश्यक था। मुस्लिम-लीग ने भी अपनी १६२६ की मागो मे इस बात पर जोर दिया था कि, "केन्द्रीय अथवा प्रातीय किसी भी धारा-सभा में साम्प्रदायिक विषयो से सम्बन्ध रखने वाला कोई कानून, प्रस्ताव, सुझाव अथवा सशोधन उस समय तक पेश न किया जा सके, न उस पर वादविवाद हो, और न वह स्वीकार किया जाय, जब तक उसे हिन्दू अथवा मुसल्मान जिस समाज से उसका सम्बन्ध हो उसके तीन-चौथाई सदस्यो का समर्थन प्राप्त न हो जाय।" यदि यह सुझाव मान्य न समझा जाय तो 'स्कॉच-वोट' के ढङ्ग पर हम अपने यहा कोई नियम बना सकते हैं।[1] हम अपने देश में भी इस प्रकार

१—'स्कॉच वोट' का अर्थ है कि जब कभी हाउस ऑफ़ कामन्स के सामने कोई ऐसा प्रश्न होता है जिसका सम्बन्ध केवल स्कॉटलैंड से हो, तब उस पर केवल उसी प्रदेश के निवासी-सदस्यों को अपनी सम्मति व्यक्त करने व मत देने का अधिकार होता है।

की एक परम्परा स्थापित कर सकते हैं जिसके अनुसार यह आवश्यक माना जाय कि किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्तिगत कानून अथवा संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के निर्णय का अधिकार उसी सम्प्रदाय के सदस्यों को होगा। इस काम के लिए उन्हें एक 'स्टैंडिंग-कमेटी' के रूप में मान लिया जाय। फिर भी यह निर्णय करने की कठिनाई तो रहेगी ही कि जिस कानून अथवा प्रस्ताव पर बहस की जा रही है वह क्या वास्तव में एक सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध में डॉ० बेनीप्रसाद के इस सुझाव पर अमल किया जा सकता है कि यह निर्णय नीचे के चेम्बर के अध्यक्ष पर छोड़ दिया जाय, और वह अपने इस निर्णय तक पहुँचने के लिए धारासभा की उस समिति की सलाह ले लें जो साप्रदायिक सद्भावना की स्थापना के उद्देश्य से ही बनाई गई हो।

सांप्रदायिक-सद्भावना समिति

यहीं पर साप्रदायिक-सद्भावना-समिति (Board of Conciliation) अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य सस्था के सगठन के प्रश्न को भी ले लें। यह समिति एक सलाहकारी समिति (advisory body) होगी, और उसका काम धारा-सभा अथवा सरकार के द्वारा उठाये गए प्रश्नों पर सलाह देने का होगा। परन्तु, इसके अलावा और भी कई बड़े कामों को वह अपने हाथ मे ले सकती है। वह समाज-शास्त्र के विस्तृत अध्ययन का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन सकती है, और, देश की साप्रदायिक मनोवृत्ति के विकास और गतिविधि पर अपनी दृष्टि रखते हुए, स्वयं भी धारासभा और सरकार के सामने अपने सुझाव रख सकती है। वैधानिक दृष्टि से इस सम्बन्ध मे हमें यह निश्चय करना होगा कि इस समिति का सगठन किस प्रकार किया जाय। इस सगठन की कई शक्लें हो सकती हैं। एक तरीका यह हो सकता है कि धारा-सभा के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को उसमे ले लिया जाय—इस सबध में भी दो मार्ग हमारे सामने होंगे, एक तो यह कि इन सदस्यों को विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व के अनुपात में लिया जाय, और दूसरा यह कि प्रत्येक सम्प्रदाय में से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या बराबर हो। साप्रदायिक-सद्भावना समिति में कुछ ऐसे सदस्यों को लेना भी आवश्यक होगा जो धारासभाओं अथवा स्वय समिति के द्वारा धारासभा के बाहर से लिये जा सकें। सप्रू-कमेटी ने इस सम्बन्ध में यह प्रस्ताव उपस्थित किया है कि प्रत्येक धारासभा में इस प्रकार की एक अल्पसंख्यक समिति (Minorities Commission) नियुक्त की जाय, जिसमें प्रत्येक ऐसे सम्प्रदाय का, जिसे धारासभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, एक प्रतिनिधि हो (यह आवश्यक न माना जाय कि वह उस सम्प्रदाय का सदस्य

भी हो) और जिसका चुनाव धारासभा के सदस्यों द्वारा तो हो पर वह स्वय धारासभा का सदस्य न हो। मैं सप्रू-कमेटी के इस सुझाव से सहमत नही हूँ कि इस अल्प-सख्यक समिति मे एक भी सदस्य ऐसा न हो जो धारासभा का सदस्य भी हो : यह प्रतिबंध कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। यह सभव है कि यदि इस शर्त को कडा बना दिया गया तो उक्त समिति की निष्पक्षता और अ-राजनैतिकता मे लोगो का विश्वास बढ जाय। शेष बातों मे सप्रू-कमेटी के प्रस्तावों को ज्यों-का-त्यो मान लेना वांछनीय जान पडता है। केन्द्रीय और प्रातीय धारासभाओं मे साप्रदायिक-सद्भावना समिति अथवा अल्पसंख्यक समिति आदि की स्थापना के अलावा यह भी आवश्यक दिखाई देता है कि शहरो, और गावो में भी, कुछ सद्भावना-समितियो (Goodwill Committees) की स्थापना की जाय। मैं समझता हूँ कि इन समितियो मे जहा कुछ सदस्य सरकार द्वारा चुने गए हो, कुछ ऐसे भी होने चाहिए जो जनता के सीधे प्रतिनिधि माने जा सके—इन सभाओ के अध्यक्ष की नियुक्ति, कम-से-कम प्रारम्भिक काल मे, सरकार द्वारा किया जाना ही वांछनीय जान पडता है।

सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व

सरकारी नौकरियो मे अल्पसख्यक वर्गों के लिए कुछ स्थान निश्चित करने की जो परम्परा बन गई है, उसे छोडने का, सभव है, अभी समय नहीं आया है, यह परम्परा चाहे कितनी ही गलत क्यो न हो। इस सम्बन्ध में वर्त्तमान व्यवस्था जारी रखी जा सकती है—साथ ही यह भी निश्चित हो जाना चाहिए कि कितने वर्षों तक, १० या १५ वर्ष से अधिक उसे कायम रखना अवाछनीय होगा—परन्तु,एग्लो-इडियनो को आज जो भारी प्रतिनिधित्व मिला हुआ है उसमें कमी करना तो आवश्यक होगा ही। वर्त्तमान व्यवस्था, अथवा उसके आधारभूत सिद्धात, को कुछ दिनो तक जारी रखने का अर्थ यह हर्गिज नहीं होना चाहिए कि शासन में किसी प्रकार की अयोग्यता को प्रोत्साहन दिया जाय। यो तो सैद्धांतिक दृष्टि से इस प्रकार की किसी व्यवस्था को मानना ही एक बड़ी ग़ल्ती है, शासन की योग्यता पर उसका बुरा प्रभाव पडना एक और भी भयानक बात होगी। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, यह आवश्यक हो सकता है कि, साप्रदायिक चुनाव के समान, साप्रदायिक आधार पर नौकरियों के बटवारे को भी, एक निश्चित काल के लिए जारी रखा जाय। शासन के क्षेत्र में, जहा तक हो सके, हमें उसे राजनीति के प्रभाव से मुक्त करने (de-politicization) का प्रयत्न करना है। संयुक्त राज्य मे मुक्तकिरण की यह प्रवृत्ति अपने पूरे जोर पर है, और पिछले वर्षों में इग्लैण्ड में भी वैसा करने का प्रयत्न किया गया

है।[१] डॉ० बेनीप्रसाद का मत है कि "दिन प्रतिदिन की शासन-व्यवस्था, जहांतक संभव हो उस सीमा तक, राजनैतिक दलों के हाथ से निकालकर विशेषज्ञों की स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र समितियोंके हाथों में सौंप दी जाय, जैसे पब्लिक सर्विस कमीशन, रेलवे ऑथोरिटी, नेशनल इन्वेस्टमेंट बोर्ड, ब्रॉडकास्टिंग कार्पोरेशन, इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड आदि-आदि, तो उससे पार्लमेंटरी ढगका शासन न केवल सरल होजाता है, उसमें शुद्धता और कुशलता भी आजाती है।"[२]

कार्यकारिणी का निर्माण

इसके बाद, कार्यकारिणी के निर्माण का महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध मे पार्लमेण्टरी और अन्य पद्धतियों में से चुन लेने का सवाल भी पैदा होता है। हमारे देश में पार्लमेण्टरी ढग के शासन की अनुपयुक्तता के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। हमारे सामने यह दलील रखी जाती है कि पार्लमेण्टरी पद्धति के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता एक ही राजनैतिक दल के हाथ में न रहे, परन्तु विरोधी दल भी इतने प्रबल हों कि, आवश्यकता पड़ने पर, वे शासन के सूत्र अपने हाथ मे ले सकें। ऐसे देश में जहां राजनैतिक दलों का संगठन ही साम्प्रदायिकता के आधार पर हो, और जहा एक धर्म के मानने-वालों की सख्या देश की आबादी का दो-तिहाई हो, एक ही राजनैतिक दल और एक ही धर्म के मानने वालो का प्रभुत्व होने की सभावना है, और उसमें यह डर है कि अल्पसख्यकों को राजनैतिक और सास्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए अवसर नहीं मिलेगा। जहा बहुसख्यक वर्ग को यह भय रहता है कि यदि उसके कार्य लोकमत के विरुद्ध हुए तो दूसरे अल्पसख्यक वर्ग के सशक्त बन जाने की संभावना है, और वैसी स्थिति में सत्ता उसके हाथ से निकल कर दूसरे दल के हाथ में जा सकती है, वहा उसके कार्य मे जिम्मेदारी की भावना बढ जाती है, परन्तु यदि उसे यह विश्वास रहा कि बहुमत सदैव उसके साथ ही रहेगा, तो यह स्वाभाविक है कि उसके कार्यों मे यह भावना बहुत प्रमुख न रहेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि पार्लमेण्टरी ढग की शासन-पद्धति तो इग्लैण्डकी अपनी उपज है, उसे हिन्दुस्तानके लिए ज्यों-का-त्यों अपना लेना भी शायद ठीक नहीं होगा। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "अंग्रेजी विधान, जिसकी हम एक सूक्ष्म और जटिल शासन-तंत्र के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण के

१—अमेरिका में इस प्रवृत्ति के विकास के विशद अध्ययन के लिए देखिए विलौबी द्वारा लिखित Principles of Public Administration। इंग्लैंड में सेंट्रल इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड और असिस्टैंस-बोर्ड इस प्रवृत्ति के अच्छे उदाहरण हैं।

२—Communal Settlement, पृ० ३६।

रूप में प्रशंसा करते हैं, यदि किसी दूसरे देश में प्रयोग में लाया गया तो कठिनाइयों और ख़तरों से भरा हुआ प्रमाणित होगा।......उसकी सफलता का मुख्य कारण समझौते की वह भावना है जिसकी कोई लेखक व्याख्या नहीं कर सकता और वह मनोवृत्ति है जिसके बनने मे सदिया लगी हैं।" हिंदुस्तान मे समझौते की वैसी भावना और वैसी मनोवृत्ति का सचमुच ही विकास नहीं हो सका है, पर, संयुक्त-निर्वाचित समिति (Joint Select Committee) ने अपनी रिपोर्ट में जो चित्र खीचा है, वह भी बड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण है। उसका विश्वास था कि "हिंदुस्तानमें कोई भी राजनैतिक दल ऐसा नहीं है जिसे सच्चे अर्थों मे यह नाम दिया जा सके, न किसी प्रकार का विकास-शील राजनैतिक लोकमत ही है ......। उनके स्थान पर हमारे सामने आता है हिंदू और मुसल्मान का आपसी विरोध, और ये दो धर्मों का ही नही दो सम्प्रदायो का प्रतिनिधित्व करते हैं; इनके अलावा भी अनेको स्वतन्त्र और स्वयं सपूर्ण अल्पसख्यक-वर्ग है, जो सब अपने भविष्य के सबध मे चिन्ताग्रस्त हैं, और बहुसख्यक वर्ग के, और आपस में एक दूसरे के, प्रति बेहद अविश्वास-शील हैं; और इसके अलावा जातियो का कठोर और अमिट विभाजन है, जो स्वय प्रजातन्त्र के सभी उसूलों के ख़िलाफ़ जाता है।"

यह विश्लेषण वस्तुस्थिति को अपने सही रूप में पाठक के सामने रहीं रखता। हमारे देश मे राजनैतिक दलो का आधार एक सीमा तक अवश्य साप्रदायिक है, पर सबसे बडे, सशक्त और व्यापक राजनैतिक दल, काग्रेस, का सङ्गठन जिस आधार पर किया गया है, वह शुद्ध राजनैतिक आधार है। अन्य राजनैतिक दलो में केवल मुस्लिम-लीग की अपनी हस्ती है, पर उसका आधार भी साप्रदायिक तो, परिस्थितियों के कारण ही है, मुख्यतः प्रतिक्रियावादी है। प्रगति की दिशा में मुस्लिम-समाज के पिछडे हुए होनेके कारण प्रतिक्रियावादी तत्त्वो ने साप्रदायिकता का जामा पहिन लिया है, पर, इस खोल को चीरकर मुस्लिम-समाज के प्रगतिशील तत्त्व भी अब बाहर आरहे हैं, और पिछले कुछ महीनो मे तो उनका सगठन भी दृढ़ होता गया है। काग्रेस के भीतर विभिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं के दिन-प्रति-दिन अधिक स्पष्ट होते जाने से भी इस विचार को पुष्टि मिलती है कि काग्रेस द्वारा उसके मुख्य उद्देश्य, भारतीय स्वाधीनता, की प्राप्ति के बाद उसकी सत्ता ही समाप्त होजाय, और उसके भस्मावशेषों में से अनेको फिनिक्स, राजनैतिक दल, जन्म ग्रहण कर ले। मेरा विश्वास है कि हमारे देश में तेजी के साथ ऐसी परिस्थितियो का निर्माण और विकास होरहा है, जिनमे पार्लमेण्टरी ढङ्ग का शासन सफलता के साथ प्रयोग मे लाया जा सकेगा। मैं यह जानता हूं

कि किसी भी सुसगठित अल्पसख्यक वर्ग का विरोध ऐसे शासन के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है, और मुस्लिम-समाज की स्थिति तो अल्पसंख्यक वर्ग से कहीं अधिक महत्त्व की है, पर साथ ही मेरा यह विश्वास भी है कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति मुस्लिम-लीग का वर्त्तमान दृष्टिकोण मुस्लिम लोकमत की अभिव्यक्ति नही करता, और, देर से या जल्दी, बहुत सम्भव है कि जल्दी ही, मुस्लिम-लीग को या तो इस लोकमत के सामने झुकना पड़ेगा या उसे अपनी स्थिति को ही खत्म करने के लिए तैयार रहना चाहिए। पाकिस्तान के जिन रङ्गीन बादलों पर वह आज सवार है, सचाई की किरणों के कुछ तेज होते ही उनका घुल जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, हम न तो यह भूल सकते हैं कि हमारी राजनैतिक विचार-धाराओं का विकास बहुत कुछ अंग्रेजी राजनैतिक विचारो, सिद्धातों और कल्पनाओं के सम्पर्क में हुआ है, और न यह कि पिछले ८५ वर्षोंमें हमारा समस्त राजनैतिक शिक्षण भी अंग्रेजी शासन-सस्थाओ मे ही हुआ है। इस लंबे संपर्क का हमारे विचारों पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे बिल्कुल मिटाया नही जा सकता। भविष्य के निर्माण के प्रयत्नों मे हम भूतकाल से बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकते, पर साथ ही इसका अर्थ यह भी नहीं है कि यदि हम शासन के मूलभूत सिद्धातों मे इग्लैण्ड का अनुकरण करना निश्चित करें तो उसके सङ्गठन में, परिस्थितियो की विभिन्नता के अनुसार, काफी बड़े परिवर्त्तन करने के लिए भी तैयार न रहें।

कुछ लोगों का मत है कि प्रजातन्त्र शासन के सिद्धात को मानते हुए भी हम अपनी कार्यकारिणी का सङ्गठन सयुक्त राज्य अमरीका के आधार पर कर सकते हैं, यानी उसके अध्यक्ष का चुनाव सीधे जनता के द्वारा कर लिया जाय, उसकी कार्य-अवधि निश्चित कर दी जाय, उसे धारासभा से बिल्कुल स्वतन्त्र बना दिया जाय, और उसे यह अधिकार दे दिया जाय कि वह अपने साथियो की नियुक्ति स्वय ही कर ले और वे उत्तरदायी भी केवल उसी के प्रति हो। परन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि इस पद्धति पर चलने का परिणाम यह हुआ है कि अमरीका में कार्यकारिणी और धारासभा के बीच एक निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहा है, और इसी कारण ससार के किसी अन्य देश ने इस पद्धति को नहीं अपनाया है। अन्य विधान-शास्त्रियों का मत है कि स्विजरलैण्ड की पद्धति हमारे लिए अधिक उपयुक्त होगी। स्विजरलैण्ड मे मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का चुनाव इस दृष्टि से किया जाता है कि उसमें सभी राजनैतिक दलों और देश के विभिन्न प्रदेशो का प्रतिनिधित्व हो, और यह चुनाव धारासभा के दोनों विभागों के सभी सदस्यों की एक मिली-जुली सभा के द्वारा किया जाता है। इस संबध में भी कुछ आवश्यक बातें ऐसी

हैं जिन्हे हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। पहिली बात तो यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि एक शासन-पद्धति जो एक छोटे तटस्थ देश मे सफल हो सकी, और जो उस देश की विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियो की उपज है, हिंदुस्तान जैसे बडे देश मे भी सफल हो जायगी। दूसरी बात यह है कि स्विजरलैण्ड के ढग की कार्यकारिणी का निर्माण जिस देश मे भी हुआ—प्रशा, बैवेरिया, सैक्सनी, और आयर्लैण्ड के प्रयोग इसके उदाहरण हैं—वही उसे असफलता मिली। तीसरी बात यह है कि इस पद्धति को अपना लेने का अर्थ यह होगा कि हमारे देश मे वैधानिक विरोध नाम की चीज़ बिल्कुल खत्म हो जायगी, और उसका परिणाम यह होगा कि राजनैतिक दलो के नेताओ के हाथो मे बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित हो जायगी। इन परिस्थितियों मे, स्विज़रलैण्ड का उदाहरण भी, सम्भव है, हमारे देश के लिए उपयुक्त सिद्ध न हो।

कार्यकारिणी-सभा के निर्माण के सम्बन्ध में एक अन्य सुझाव यह भी है कि उसका सम्बन्ध जनता द्वारा सीधे चुनी हुई किसी धारासभा से न होकर ३० या ४० व्यक्तियो की एक ऐसी सभा से हो जिसका चुनाव प्रातीय धारासभाओ द्वारा इस आधार पर किया गया हो कि उसमे देश के प्रत्येक स्वार्थ का प्रतिनिधित्व हो पर किसी एक स्वार्थ को बहुमत प्राप्त न हो। कार्यकारिणी-सभा इस बड़ी सभा से गवर्नर-जनरल या प्रधान-मन्त्री द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुन ली जाय। उसके चुनाव मे इस बात का भी पूरा खयाल रखा जाय कि उसमे सभी प्रमुख दलो और देशी राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हो, और साथ ही देश के प्रत्येक भाग का भी उसमें प्रतिनिधित्व हो सके। कार्यकारिणी के सदस्य एक निश्चित अवधि के लिए चुने जाय, और जहा तक उनके उत्तरदायित्व का प्रश्न है वे बडी सभा, फ़ेडरल कौंसिल, के प्रति नहीं बल्कि गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी रहे। उनके लिए नीति-संबधी सभी आवश्यक प्रश्नो पर फ़ेडरल कौंसिल से सलाह-मशविरा करते रहना तो आवश्यक होगा ही। इस योजना के समर्थको का विश्वास है कि इसके द्वारा (१) प्रत्येक राजनैतिक दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा पर साथ ही किसी एक राजनैतिक दल को इतना प्रभुत्व भी नही मिलेगा कि अल्प-सख्यक वर्गों और देशी राज्यो को उससे डर हो, (२) फेडरल कौंसिल के सदस्यो की सख्या सीमित होने के कारण उसमें उत्तरदायित्व की भावना का पूरा विकास हो सकेगा, और इससे कार्यकारिणी और धारा-सभा के आपसी सबधो के दृढ होने मे सहायता मिलेगी, और (३) इस प्रकार की कार्यकारिणी में जनमत का कम-से-कम उतना प्रतिनिधित्व तो होगा ही जिससे धारासभा को सतुष्ट रखा जा सके।

इस योजना के पक्ष मे यह बात तो अवश्य कही जा सकती है कि उसमें प्रतिनिधित्व का आधार साप्रदायिक नहीं, भौगोलिक रखा गया है, पर कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके कारण उसे मान लेना कठिन हो जाता है। पहिली बात तो यह है कि उसमें एक ऐसी कार्यकारिणी की कल्पना की गई है, जो अडिग और अविचल है : इस प्रकार की सभा से उत्तरदायित्व की बहुत अधिक आशा नहीं रखी जा सकती। दूसरी बात यह है कि वह राजनैतिक दलो पर इतना अधिक निर्भर रहेगी कि यह सम्भव है कि वास्तविक सत्ता जनता के हाथ से निकल कर राजनैतिक दलोंके कुछ बडे नेताओं के हाथों में केन्द्रित हो जाय, इसके साथ ही यह प्रश्न भी विचारणीय है ही कि विभिन्न, और परस्पर-विरोधी, राजनैतिक दलों का एक साथ प्रतिनिधित्व करते हुए यह सभा कब तक अपना स्थायित्व बनाये रह सकेगी। इस प्रकार की कार्यकारिणी को सफलता प्राप्त करने के लिए आज से एक बिल्कुल विभिन्न वातावरण की अपेक्षा होगी, जबकि हमारे राजनैतिक दल अपनी शक्ति बढाने की ग़रज से नहीं पर देश की समृद्धि और उन्नति को ही दृष्टि में रख कर काम करने की क्षमता पैदा कर लेंगे। इसके अलावा, इस प्रकार की कार्यकारिणी केन्द्र में यदि सफल भी हो सकी, तो यह सम्भव है कि बहुत से प्रातों में उपयुक्त सिद्ध न हो सके। किसी भी स्थिति में, यह तो सम्भव है ही कि केन्द्र व प्रातों की कार्यकारिणी समितिया अपने निर्माण की पद्धति में एक-दूसरे से भिन्न हों, अथवा एक प्रात की कार्यकारिणी-सभा का रूप दूसरे प्रात की कार्यकारिणी से जुदा हो। जिन प्रातों में अल्प-सख्यक वर्गों की संख्या कम है वहा पार्लमेएटरी ढङ्ग का शासन सफल हो सकता है, परन्तु जहा साम्प्रदायिक विषमताएं बहुत गहरी हैं, वहा अन्य पद्धतियां प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

मैं समझता हूं कि यदि इस योजना पर अमल किया गया तो देश की एकता की दृष्टि से यह प्रयोग महगा सिद्ध होगा, और साथ में कई अन्य जटिलताए पैदा हो जायगी। यदि हमें देश में एक सच्चे सघ-शासन की स्थापना करना है, तो प्रातीय शासन की रूप-रेखा में भी समानता की रक्षा करनी होगी। परिस्थितियों में छोटे-बड़े अन्तर के बावजूद भी, मेरा विश्वास है, यदि कोई शासन-पद्धति सभी प्रातों में अपनाई जा सकती है तो वह पार्लमेएटरी पद्धति है। उसकी सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हमारे राजनैतिक दलों के निर्माण का साप्रदायिक आधार है, पर जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, वह आधार तेजी से बदल रहा है। विचार-धाराओं की विभाजन-रेखाए अब सांप्रदायिक कम और आर्थिक तथा राजनैतिक अधिक होती जारही हैं। इसके साथ ही, यदि धारा-सभाओं में मुसल्मानों का प्रतिनिधित्व और अधिक

बढा दिया गया, साप्रदायिक चुनाव की पद्धति में कुछ संशोधन-परिवर्त्तन हुए, और साप्रदायिक-सद्भावना समिति अथवा अल्पसंख्यक-समिति जैसी संस्थाएं बन गईं तो यह कार्य और भी अधिक वेग से चल सकेगा। परन्तु जब तक वातावरण वैसा शुद्ध नहीं बन जाता, पर केवल उसी समय तक, मिश्रित मन्त्रि-मण्डल बनाने का प्रयोग भी किया जा सकता है। पार्लमेंटरी पद्धति मे, विशेष अवसरो पर, इस प्रकार के मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की व्यवस्था तो है ही। परन्तु मिश्रित मन्त्रिमण्डल को ही एक आदर्श मान लेना एक ग़लत बात होगी। यदि मिश्रित-मन्त्रिमण्डल बनाना आवश्यक हुआ तो मैं यह पसन्द करूंगा कि उसमे विभिन्न राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो, विभिन्न धर्मों अथवा जातियो का नहीं। इस सबध मे सप्रू-कमेटी के सुझावों से मैं सहमत नहीं हूं। यदि विभिन्न साप्रदायिक वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया गया तो उससे सांप्रदायिक वैम-नस्य के बहुत अधिक बढ जाने का डर है, पर यदि विभिन्न राजनैतिक दलों को प्रतिनिधित्व मिला तो उनका साप्रदायिक आधार धीरे-धीरे नष्ट होता जायगा, और वे देश के महत्वपूर्ण प्रश्नो पर मिलजुल कर विचार और निर्णय कर सकेंगे। इस प्रकार देश मे एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण होगा। ज्यो ही राजनैतिक दलो के रूप में परिवर्त्तन होगा, और उनका सङ्गठन आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओ के आधार पर होने लगेगा, हमारी कार्यकारिणी, आप ही आप, साप्रदायिक प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर देश के आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओ की अभिव्यक्ति का साधन बन जायगी। तभी वह सच्चे अर्थोंमें—जिन अर्थों मे इस शब्द का प्रयोग अन्य देशों, इग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, यूनान आदि मे होता है—एक मिश्रित मन्त्रिमण्डल कहला सकेगी। इस मिश्रित मन्त्रि-मण्डल का प्रचार-मन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को ही बनाया जाना चाहिए जो उन राजनैतिक दलो मे, जो धारासभा के चुनाव में भाग ले रहे हों, सबसे बडे दल का नेता हो, और वह, अपने समस्त मन्त्रिमण्डल के साथ, धारासभा के प्रति उत्तर-दायी हो। यह सुझाव कि प्रधान मन्त्री और उप-प्रधान मन्त्री विभिन्न जातियो के हों, अथवा बारी-बारी से हिंदू और मुसलमान हों, विशेष महत्व नहीं रखता। कार्यकारिणी का धारा-सभाओ के दोनों भागो के एक मिले-जुले अधिवेशन के द्वारा चुने जाने का जो तरीका स्विजरलैण्ड में प्रचलित है, वह भी भारतीय परि-स्थितियों में अव्यावहारिक ही प्रतीत होता है।

सांस्कृतिक अधिकार

परन्तु कोई भी भारतीय शासन-विधान उस समय तक सपूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उसमें देश के प्रमुख अल्प-सख्यक वर्गों के सास्कृतिक अधि-

कारों के संरक्षण की पूरी व्यवस्था न हो। हमारे देश की परिस्थितियों मे तो इन सास्कृतिक अधिकारों के सरक्षण पर अधिक-से-अधिक जोर देना आवश्यक होगा। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि धर्म, संस्कृति और भाषा, सार्वजनिक सभा करने, समिति-सगठन आदि बनाने, अपने विचारों को, सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता की सीमा में, व्यक्त करने, कानून और राजनैतिक अधिकारों की दृष्टि में समानता, आदि के सबध में अल्पसंख्यक वर्गों को पूरे अधिकार होने चाहिए। परन्तु, देश के सांप्रदायिक वैमनस्य को देखते हुए इन अधिकारों की और भी विस्तृत व्याख्या कर देना आवश्यक होगा। इस सम्बन्ध में पिछले महायुद्ध के बाद मध्य-यूरोप के देशो में बनने वाले विधानों से हमें मार्ग-प्रदर्शन मिल सकता है। अल्पसख्यक वर्गों के अधिकारों की दृष्टि से पोलैण्ड और जेको-स्लोवाकिया के शासन विधानों से हम विशेष सहायता की अपेक्षा कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में पोलैण्ड के विधान की ११०-११६ धारायें और ज़ेकोस्लोवाकिया के विधान की १२८-१ और १३०-१३२ धारायें विशेष उपयोगी सिद्ध होंगी। इन धाराओं का सम्बन्ध निम्न चार बातों से है—

(१) शिक्षा-सम्बन्धी सुविधायें देना, व अल्पसख्यक वर्गों की भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाना,

(२) सार्वजनिक धन का शिक्षा और दान आदि में उचित वितरण, और अल्पसख्यक वर्गों को दान सम्बन्धी शैक्षिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं की स्थापना, व्यवस्था और नियत्रण का अधिकार देना।

(३) कौटुबिक कानून और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा आदि के सम्बन्ध में उच्च-जातियो की परम्पराओं की रक्षा का आश्वासन। और—

(४) जिन सड़कों, रास्तों, जलाशयों आदि की स्थापना व व्यवस्था सार्व-जनिक व्यवहार के लिए की गई हो, उन्हें काम में लाने की सुविधा प्रत्येक नाग-रिक को, चाहे वह किसी धर्म,जाति अथवा सप्रदाय का हो,पहुंचाने की व्यवस्था।

हमारे देश की परिस्थितियों को देखते हुए,मैं समझता हूं,दो बातों पर विशेष रूप से जोर देना चाहिए—(१) अल्पसख्यक वर्गों को इस बात का पूरा आश्वा-सन दे दिया जाय कि उनके लिए इस प्रकार की शिक्षा के संबंध में पूरी सुविधा दी जायगी जिससे उनके सास्कृतिक व्यक्तित्व की रक्षा हो सके, और (२) उनकी भाषा और साहित्य के सरक्षण की दिशा में भी राज्य के द्वारा पूरा प्रयत्न किया जायगा। जेकोस्लोवाकिया के विधान की धारा १३१ में यह कहा गया है कि देश के जिस प्रदेश में भी नागरिकों का एक अश जेकोस्लोवाक-भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा का प्रयोग करता हो, वहा उन नागरिकों के बच्चों को राज्य

के द्वारा उनकी अपनी भाषा में ही शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। हमारे देश मे भी इस प्रकार के सरक्षण की बड़ी आवश्यकता है, विशेषकर आज जब हम यह देख रहे है कि एक ओर तो मुसल्मानो को यह डर है कि देश में उनकी भाषा (उर्दू) को जड़-मूल से ही उखाड़ फेंकने का प्रयत्न चल रहा है, और दूसरी ओर हिन्दू इस बात से चिन्तित हैं कि राष्ट्रीयता की वेगवती धारा में उनकी अपनी सदियो से इकट्ठा की गई निधि (हिन्दी) बही जारही है। इस समस्या का निबटारा इसी प्रकार के उपाय द्वारा हो सकेगा। मुसल्मान और दूसरे लोग जिनकी मातृभाषा उर्दू है अपनी भाषा और साहित्य के विकास की पूरी सुविधा पा सकेंगे। और सरकारी अधिकारियो अथवा अफसरों द्वारा कोई प्रयत्न इस प्रकार का नहीं किया जायगा जिससे यह कहा जा सके कि उर्दू भाषा को निरुत्साहित किया जारहा है, अथवा फ़ारसी और अरबी के उन शब्दोंके स्थान पर जो उसके अङ्ग होगए हैं, सस्कृत के शब्दो को भर कर उसकी जड़ खोदने का ही प्रयत्न किया जा रहा है। इसी प्रकार, दूसरे प्रातो में जहां जनसाधारण की मातृभाषा हिन्दी है, उन्हे अपनी भाषा और संस्कृति के विकासकी पूरी सुविधा होगी। सभी स्कूलो मे दोनो भाषाओ की शिक्षा का प्रबन्ध होगा। जहा मुसल्मानो की सख्या बहुत कम है, वहां भी यदि वे चाहें तो उर्दू की शिक्षा का प्रबध करना आवश्यक होगा।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है, वह यह है कि हम इन मूलभूत अधिकारो के संरक्षण का दायित्व देश की सबसे बड़ी वैधानिक अदलत पर छोड़ें, अथवा लीग ऑफ नेशन्स या वर्ल्ड सिक्यूरिटी कान्फ्रेंस जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था पर। जैसा कि सभी जानते हैं, पहिले महायुद्ध के बाद यूरोपीय देशो की अल्पसंख्यक-सधियो का संरक्षण राष्ट्र-सङ्घ(League of Nations)को सौंपा गया था। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के प्रस्ताव के प्रति मुसल्मानो की क्या भावना होगी, परन्तु मेरा अनुमान है कि इस काम के लिए यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का निर्माण किया गया, अथवा किसी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सस्था पर इसका दायित्व सौंपा गया तो इससे स्थिति के बहुत अधिक विषम और जटिल होजाने का डर है। मुझे इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण, निरीक्षण अथवा निर्णय में तनिक भी विश्वास नहीं है। ससार के सभी देश आज शक्ति की राजनीति (Power politics) के इतने अधिक दवाव में हैं कि किसी से भी नि:स्वार्थता, निष्पक्षता अथवा ईमानदारी की आशा करना कठिन है। आज की परिस्थिति में इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के लिए गुंजाइश नही रह गई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दुस्तान अन्य

देशो से निकटतम सपर्क स्थापित नहीं करेगा। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी आन्तरिक समस्याओं के निवटारे के लिए भी अन्य देशो का मुंह ताकता रहे। चाहे यह काम कठिन हो या आसान, उसे निवटाना तो स्वयं हमें ही है। इसी कारण, मेरा विश्वास है कि इन सास्कृतिक स्वत्वो के संरक्षण का दायित्व जिस वैधानिक सस्था को हो, वह शुद्ध भारतीय हो। मै समझता हू कि हमारे देश की सबसे बड़ी वैधानिक अदालत इस काम को अच्छी तरह कर सकेगी।

अल्पसंख्यक सन्धियों का प्रयोग यूरोपमें असफल हुआ है, यह भी हम भूल नहीं सकते। मूलभूत अधिकारोंकी एक सूची बना लेने और उसे विधानमें शामिल कर लेनेसे ही काम नहीं चल जायगा। उससे अधिक आवश्यक तो यह होगा कि एक सद्भावनापूर्ण ढगसे उन्हें क्रियात्मक रूप दिया जाय। दो ऐसी आवश्यक बातें हैं, इन मूलभूत अधिकारों की सूची बनाने और क्रियात्मक रूप देने में जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। इन बातो की ओर लॉसेन-कान्फ्रेंस में इस्मत पाशा ने जोरदार शब्दों में, हमारा ध्यान आकर्षित किया था। इस्मतपाशा के शब्दो मे, इन दो बातो में से एक तो बाहरी राजनैतिक तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति अल्प-सख्यक वर्गों की रक्षा के बहाने से विदेशी राज्यो के द्वारा देश के आन्तरिक प्रबध मे हस्तक्षेप करने की भावना में होती है, और दूसरा भीतरी राजनैतिक तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति अल्पसख्यक वर्गों द्वारा ही अपने स्वतन्त्र राज्य बना लेने की इच्छा में होती है। ये दोनो तत्त्व एक-दूसरे में गुंथे-मिले हैं। देश के आन्तरिक प्रबध में हस्तक्षेप करने के लिए उत्सुक विदेशी शक्तिया अल्पसख्यक वर्गों को राज्य के विरुद्ध उकसाती रहती हैं, और जब उनका असन्तोष किसी आदोलन के रूप में प्रकट होता है, तब उनके बचाव के बहाने से वह बीच में कूद पड़ती हैं, पर उनका वास्तविक उद्देश्य सदा ही राज्य की शक्ति को कम करना होता है। जेकोस्लोवाकिया में-१६३८ और १६३६ में जो कुछ हुआ, उससे इस्मत पाशा द्वारा १५ वर्ष पहिले कहे गये शब्दों का पूरा समर्थन मिलता है। सूडेटान-जर्मनों को जेकोस्लोवाक-सरकार के विरुद्ध भड़काने का काम नाजियों द्वारा ही किया गया था। जर्मनी की नात्सी सरकार द्वारा दी गई प्रेरणा का ही यह परिणाम था कि उन्होंने सरकार के विरुद्ध बग़ावत की, परन्तु इस बगावत से जर्मनी की नात्सी सरकार को जेकोस्लोवाकिया की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप का, बाद में उसे हड़प जाने का, मौका मिल गया। हमारी अल्पसंख्यक समस्या का संरक्षण किसी विदेशी शक्ति के हाथों में दे देने का भी यही परिणाम हो सकता है। किसी भी देश से हम पूर्ण निष्पक्षता की अपेक्षा नहीं कर सकते। यह निश्चित है

कि हमे इगलैण्ड को भी अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के नाम पर अपने आन्तरिक प्रश्नो में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने के अधिकार से वंचित करना है। क्रिप्स-प्रस्ताव की हमारी अस्वीकृति का एक सबसे बड़ा कारण यही था कि उसमे हमारे जातीय और सांप्रदायिक अल्पसंख्थक वर्गों की रक्षा के नाम पर ब्रिटेन को हिंदुस्तान के भावी शासन-विधान में दखल देने का अधिकार दिया गया था।

सप्रू-कमेटी भी मूलभूत अधिकारो के शासन-विधान में सम्मिलित किये जाने के पक्ष मे है। उसका मत है कि हमारे भावी-विधान में व्यक्ति के राजनैतिक और नागरिक दोनो प्रकार के अधिकारो का पूरा संरक्षण होना चाहिए, धार्मिक सहिष्णुता का पूर्ण आश्वासन होना चाहिए, जिसमे धार्मिक विश्वासो, परम्पराओ और सस्थाओ मे हस्तक्षेप न करने का आश्वासन शामिल होगा, और सब जातियो की भाषा और सस्कृति के बचाव का आश्वासन भी होना चाहिए। सप्रू-कमेटी यदि उन अधिकारो की विस्तृत व्याख्या कर देती, जो अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष कर भारतीय मुसल्मानों, को दिये जाने चाहिएं तो अधिक अच्छा होता, परन्तु जान पड़ता है, उसने इस प्रश्न पर मानवी दृष्टिकोण से अधिक विचार किया है, साप्रदायिक दृष्टिकोण से कम। अन्त मे, एक यह प्रश्न रह जाता है कि इन सरक्षणो को क्रियात्मक रूप कैसे दिया जाय। सप्रू-कमेटी ने अल्पसख्यक समितियो (Minorities Commissions) के बनाये जाने का विचार उपस्थित किया है, परन्तु इस प्रकार की अल्पसख्यक समितियों का काम केवल सलाह देना हो सकता है। जहां तक अल्पसखयक वर्गों के मूलभूत सास्कृतिक संरक्षणो को क्रियात्मक-रूप देने का प्रश्न है, यह काम सङ्घ-शासन के न्याय-विभाग के सिपुर्द ही सौंपा जाना चाहिए। सङ्घीय न्यायालय (Federal Judiciary) ही मूलभूत अधिकारो की रक्षा और साप्रदायिक समझौते की स्थापना का दायित्व अपने ऊपर ले सकता है, और वही उन सब झगड़ो को निबटा सकता है जो मूलभूत अधिकारो को कार्यान्वित करने के सबध मे समय-समय पर केन्द्रीय-शासन व विभिन्न इकाइयों के बीच पैदा हों।

: १३ :

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के पथ पर

शिक्षा और समाज-सुधार

वैधानिक योजनाए और राजनैतिक समझौते हिन्दुस्तान में रहनेवाली विभिन्न जातियो के आपसी सबधों को अच्छा बनाने की दिशा में एक बड़ी सहायता पहुचा सकते हैं। वे प्रजातन्त्र के प्रयोग की सफलता के लिए एक अच्छे वातावरण का निर्माण भी कर सकते है, पर वे काफ़ी नहीं हैं। सभव है कि वे वर्तमान की समस्याओ को सुलझा सकें, पर भविष्य के निर्माण में वे बहुत दूर तक नही जा सकते। उसके लिए देश मे सद्भावना, शान्ति और समझौते का एक स्थायी वातावरण बनाना पडेगा। हमें यह देखना होगा कि हम केवल 'जनता का राज्य' ही कायम नहीं कर रहे है, परन्तु एक ऐसा राज्य स्थापित कर रहे हैं जो सचमुच जनता के लिए है। हमें यह देखना होगा कि देश का बहुमत सत्ता के मद मे बह नहीं जाता. और अल्पसख्यक वर्ग अपनी हीनता का ऐसा विकृत विश्वास अपने में विकसित नहीं कर लेते, जो उन्हें नृशस बना दे।

देश में इसी प्रकार के वातावरण की स्थापना के लिए हमें शिक्षा के प्रश्न को अपने हाथ में लेना होगा। सच तो यह है कि प्रजातन्त्र का समस्त भविष्य शिक्षा पर ही निर्भर रहता है : शिक्षा की आधार-भित्ति के बिना प्रजातन्त्र का प्रासाद क्षण में ढह जायगा। देश में आज शिक्षा की दशा क्या है ? समस्त जनता का १० प्रतिशत भी पढ़ा लिखा नहीं है। यह १५० वर्षों के अग्रेजी शासन का वरदान (या अभिशाप) है ! जिस शासन के अन्तर्गत यह सभव हो उसे अधिक दिनों तक कायम रखने का अधिकार नहीं है। उसके स्थान पर किसी ऐसे शासन की स्थापना आवश्यक है, जो आधुनिक विचार-धाराओं और परिस्थितियों से अधिक निकट सपर्क में हो। शिक्षा-प्रसार के बिना मताधिकार को बढा देना, जैसा हमारे देश में होता रहा है, बेमानी-सा, बल्कि खतरनाक, है। उससे तो यही होगा, जैसा हमारे देश में आज हो भी रहा है, कि शक्ति ऐसे नेताओ के हाथ में चली जायगी जो, अपनी सकीर्ण राजनैतिक दलों के लाभ को दृष्टि में रखते हुए, जनता की भावनाओं को गलत दिशा में उभाड़ने की चेष्टा करेंगे। प्रजातन्त्र में प्रत्येक वयस्क पुरुष या स्त्री को मत देने का अधिकार तो दिया ही जाना चाहिए, परन्तु शिक्षा का प्रसार उससे भी अधिक तेजी के साथ होना चाहिए।

प्रजातन्त्र का वास्तविक आधार शिक्षा ही है ।' जनता मे जबतक शिक्षाका प्रचार न होगा, उसमे यह काबलियत नही आ सकती कि वह देश मे बड़े-बड़े राजनैतिक प्रश्नो को सुलझा सके, जिनके सुलझाने का दायित्व एक प्रजातन्त्र-राज्य मे उस पर है । परन्तु, शिक्षा का अर्थ केवल पढना-लिखना आ जाना या गणित का थोडा ज्ञान प्राप्त कर लेना नही है । शिक्षा का अर्थ कही अधिक व्यापक है । केवल यह नियम बना देना कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य होगा, काफ़ी नही है । यह देखना भी जरूरी होगा कि शिक्षा किस ढग की हो । शिक्षा यदि व्यक्ति में सहिष्णुता और समवेदना की भावना का विकास नही कर पाती, और उसमे दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता पैदा नही करती तो उसे व्यर्थ ही मानना चाहिए । प्रजातन्त्र में शिक्षा का अर्थ होता है कि एक ऐसी समझदारी की भावना का विकास जो हमें सहानुभूति के साथ यह जान लेने की क्षमता दे कि दूसरे व्यक्ति यदि गलत राय भी रखते हैं,तो उनके इस प्रकारकी गलत राय बना लेनेके क्या कारण हैं,और, साथ ही हममे यह प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर दे कि उस ग़लत राय मे सचाई का जो थोडा-बहुत अश भी हो उसे हम सही रूप मे समझ सकें । इस प्रकार की समझदारी उसी समय पैदा की जा सकती है जब कि जनता में सही ढग की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था हो ।

प्रजातन्त्र मे किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है, इस सम्बन्ध मे भी कुछ विचार कर लें । पहिला अन्तर जो हमे प्रजातन्त्र-देशों व तानाशाही देशो की शिक्षा में मिलता है वह यह है कि प्रजातन्त्र देशो में विवेक बुद्धि के विकास पर जोर दिया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप मतो की विभिन्नता सामने आती है, और दूसरे के दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने की क्षमता भी पैदा होती है, जिससे सहिष्णुता की भावना का विकास होता है, विभिन्नताओं के बीच समानता के सूत्र को खोज निकालने की प्रवृत्ति बढती है, तानाशाही देशो मे, इसके बिल्कुल विपरीत, शिक्षा का जोर कट्टरता के विकास, सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और असहिष्णुता के आधार पर प्रस्थापित समानता की भावना की अभिवृद्धि पर रहता है । एक दूसरी विशेषता जो हमे तानाशाही देशो की शिक्षा मे मिलती है, यह है कि उसमें शिक्षा के शारीरिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है, और उसके मनोवैज्ञानिक, भावना-शील और सास्कृतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है । हिटलर ने जो आदर्श अपने देश के युवको के सामने रखा था वह यह था कि उन्हे शिकारी कुत्ते की तरह तेज, चमडे की तरह सख्त, और फौलाद की तरह मजबूत होना चाहिए । शारीरिक शिक्षा को उपेक्षा की दृष्टि से

नहीं देखना चाहिए, पर उसे ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य मान लेना स्पष्टतः गलत होगा। प्रजातन्त्र में शिक्षा का मुख्य लक्ष्य विवेक रहता है, क्योंकि उसका विकास शरीर के विकास की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। शिक्षा में किन्हीं निश्चित आदर्शों पर भी जोर नहीं दिया जाना चाहिए। विद्यार्थियो से यह अपेक्षा नही की जानी चाहिए कि वे अच्छे नाजी, या अच्छे कम्यूनिस्ट, या अच्छे प्रजातन्त्रवादी भी, बनें। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि उनमें मानवी गुणों का विकास हो सके। वह व्यक्ति को एक अच्छा मनुष्य बना दे, एक ऐसा मनुष्य जिसके अपने विचार हों, और जो उन विचारो को निर्भयता के साथ अभिव्यक्त कर सके, पर साथ ही जिसमें दूसरे मनुष्य के दृष्टिकोण को समझने की प्रवृत्ति और क्षमता भी हो।

आजकल प्रायः प्रत्येक देश में समाज-विज्ञान (Sociology) के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जा रहा है। शिक्षा के दृष्टिकोण मे आज सर्वत्र एक आमूल-परिवर्त्तन होरहा है। सभी जगह शिक्षा को मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। हमारे देश में भी भूगोल, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि विषयो को मानव के दृष्टिकोण से अध्ययन करने की आवश्यकता है। समाज विज्ञान के समुचित अध्ययन से ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किये गये प्रचार या सामूहिक भावुकता के आक्रमणों से बुद्धि और इच्छा को बचाया जा सकता है, समाज-विज्ञान ही व्यक्ति को समाज की परिधि में अपना उचित स्थान पा लेने में सहायक हो सकता है, समाज-विज्ञान की शिक्षा को व्यापक बनाने के साथ ही एक दूसरा आवश्यक काम यह होगा कि हमारे शिक्षालयो में अधिक-से-अधिक विद्यार्थियो और वयस्कों को विभिन्न धर्मों, साहित्यो, कलाओ और सस्कृति के अन्य विभागों के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा दी जाय। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "एक समुदाय के सदस्यो द्वारा दूसरे समुदायों के सिद्धातों और आदर्शों की जानकारी से एक-दूसरे को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी, और आधुनिक सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से भारतीय विद्यालय न केवल उदार शिक्षा के केन्द्र बन जायगे, पर वे विचार-क्षेत्र में भी शक्तिशाली आदोलनों को जन्म देंगे। इसका प्रभाव धर्म, राजनीति और जीवन के प्रत्येक विभाग को उदार-चेता बनाने की दिशा में पड़ेगा। इससे नागरिक की भावना के दृढ बनने में भी सहायता मिलेगी।"[1] सामाजिक शास्त्रों के अलावा, उतना ही जोर कल्पना-प्रसूत साहित्य और ललित कलाओं के अध्ययन पर भी दिया जाना चाहिए। कथा-साहित्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उससे

१—बेनीप्रसाद · Hindu-Muslim Questions पृ० १०४ :

हमे अपने साथियों को सहानुभूति के साथ समझने मे सहायता मिलती है, परन्तु एकता की जिस भावना का जन्म वाद्य अथवा मौखिक सङ्गीत की सह-साधना में होता है वह किसी अन्य साधन के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध लेखक लेनार्ड के शब्दो में, "सङ्गीत-प्रेम राजनैतिक मतभेद और सामयिक श्रेणीभेद को चीरता हुआ व्यक्ति को उनसे ऊपर उठा ले जाता है। यदि वे लोग जो राजनीति में एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक ही सङ्गीत-मंडली में, एक साथ बैख और हैण्डेल के गीतों को दोहराए तो उनमे सहिष्णुता और पारस्परिक सहानुभूति की वह भावना जो शासन की प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को सुरक्षित रखने के लिए नितात आवश्यक है, अधिक गहरी होगी, और सुदृढ़ बनेगी।"[१]

प्रजातन्त्र की एक दूसरी बडी आवश्यकता समाज-सुधार की भावना का विकसित होना है। शिक्षा और समाज-सुधार का आन्दोलन, दोनो साथ-साथ, बढते रहना चाहिए, क्योकि यदि शिक्षा के साथ-साथ सबके सामने बराबर अवसर, और प्रत्येक व्यक्ति के सामने अधिक-से-अधिक अवसर, उपस्थित नहीं होजाते तो, इसका परिणाम सम्भवतः सामाजिक अराजकता हो। शिक्षा में एक आमूल परिवर्त्तन के साथ-साथ हमारी सामाजिक सस्थाओं के पुनर्निर्माण की आवश्यकता भी है। हम अपने को एक विचित्र परिस्थिति में डाल लेगे, यदि हम एक ओर तो नये ढग की शिक्षा के विकास मे जुट पडें, और दूसरी ओर अपने पुराने रीति-रिवाजो और समाज के मध्यकालीन ढाचे को भी ज्यों-का-त्यो रखने की चेष्टा करें। भारतीय नारी की वर्त्तमान स्थिति में एक बडे सुधार की आवश्यकता है। अस्पृश्यता का कलक हमारे देश से मिट ही जाना चाहिए। मजदूरो के लिए अच्छे मकान, बढी हुई तनख्वाहो और काम करने की परिस्थितियों मे आमूल-सुधार की जरूरत भी है ही। जात-पात की व्यवस्था को या तो पुनर्जन्म लेना पडेगा, या नष्ट होना पड़ेगा। जब तक कि आज से कहीं अधिक अच्छे ढग की शिक्षा के सार्वजनिक और व्यापक प्रचार के साथ-साथ समाज-सुधार का एक इन्किलाबी आन्दोलन खड़ा नहीं होजाता, हमारे देश में प्रजातन्त्र की जडे सदा खोखली ही रहेंगी।

शिक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण

परन्तु हिंदुस्तान का सबसे बड़ा शाप तो गरीबी है। एक काफ़ी लबे अर्से तक हमारी शिक्षा और समाज-सुधार की समस्त प्रवृत्तियो का लक्ष्य इस गरीबी को दूर करना होगा। शिक्षा और समाज-सुधार की प्रवृत्ति के अभाव का मुख्य कारण गरीबी है, और जब तक इन प्रवृत्तियों का समुचित विकास नहीं होजाता,

१—लेनार्ड : Democracy, पृ० ८२ :

गरीबी का दूर होना असंभव है। एक भयानक चक्र बन गया है, जिसके तोडने की जरूरत है, और वह तोडा उसी समय जा सकेगा, जब चारों ओर से उस पर एक साथ आक्रमण हों। हमारा देश कृषि-प्रधान माना जाता है, पर हमारे देश के ८० प्रतिशत व्यक्ति गांवों में रहते हैं, और उनमें से ६० प्रतिशत का जीवन-निर्वाह कृषि के द्वारा होता है। पर कृषि के हमारे साधन पुराने और दकियानूसी हैं। जमीन का एक बडा हिस्सा बेकार पडा हुआ है, जो थोडी-सी मेहनत से उपजाऊ बनाया जा सकता है, और जो हिस्सा आज जोता जा रहा है, वह भी, यदि कृषि के वैज्ञानिक साधन काम में लाये जाय तो आज से कई गुना अधिक फसल पैदा कर सकता है। इन साधनों के अपनाये जाने पर आज क्यों जोर नहीं दिया जारहा है, अंग्रेजी शासन के पहिले हिन्दुस्तानी केवल खेती पर ही नहीं रहते थे, उद्योग-धंधों से भी आगे बढे हुए थे। हिंदुस्तान के केवल जुलाहे ही एशिया, अफ्रीका और यूरोप, तीन महाद्वीपों की कपडे की अधिकांश जरूरत को पूरा करते थे। अंग्रेजी शासन में हमारे उद्योग-धंधों का अंत होगया, पर आज जब अंग्रेजी शासन का अन्त समीप है, तब इन उद्योग-धंधों को पुन-र्जीवित करना होगा, ज्यों-का-त्यों नही पर विज्ञान के नये आविष्कारों को ध्यान में रखते हुए। औद्योगीकरण के भी कई स्तर होंगे, कुछ बडे पैमाने पर, कुछ साधा-रण और कुछ गांवों के झोंपडों में बिखरा हुआ। यह सब करने के लिए नये ज्ञान और विज्ञान से परिचित होने की आवश्यकता होगी। विदेशों में अपने चुने हुए विद्यार्थियों को भेजना होगा। औद्योगीकरण के इस पुनर्निर्माण को अपनी ग्राम-सुधार की देश व्यापी योजनाओं से भी संबद्ध करना होगा। देश के उद्योग-धंधों की कमी के कारण जमीन पर जो बहुत अधिक बोझा होगया है उसे कम करना होगा। जनता के एक बहुत बडे अंश को खेती से हटाकर औद्यो-गीकरण में लेना होगा। देश की समृद्धि और जनता के सुख को एक सूत्र में पिरो देना होगा। हमें अपना उद्देश्य यह रखना होगा कि देश का कोई वयस्क और स्वस्थ मनुष्य बेरोजगार न रहे।

शिक्षा और समाज-सुधार की प्रवृत्तियों के द्वारा देश के धन और समृद्धि को तो बढाया जा सकता है, पर जब तक सही शिक्षा और वास्तविक समाज-सुधार न हो, तब तक देश में आर्थिक समानता की स्थापना नहीं की जा सकती, और बिना इस आर्थिक समानता के देश के धन और समृद्धि का बढाया जाना केवल व्यर्थ ही नहीं अहितकर भी सिद्ध होगा। हमारे मुख्य उद्देश्य यह नहीं हैं कि हमारे यहां के अमीर अधिक अमीर बन जाय, और गरीब अपनी गरीबी में ही सब्र करना सीखें। पूंजीवाद को जितना बल मिलेगा, प्रजातन्त्र उतना ही

ख़तरे मे पड़ेगा। जनता को केवल अपने राजनैतिक स्वत्वों के लिए ही नही, अपनी आर्थिक समानता की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना पड़ेगा। आजादी चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, सतत, प्रतिक्षण, प्रतिपल जाग्रत रहने में ही कायम रखी जा सकती है। इस कारण हमारी शिक्षा और समाज में समानता की स्थापना करने के सभी प्रयत्नो और आंदोलनों के लिए आर्थिक प्रश्नो से अपना सीधा सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक होगा। शिक्षा की कल्पना यदि हम दो विभिन्न—साधारण और विशेष-क्षेत्रों मे करें, तो यह कहा जा सकता है कि हमारी साधारण शिक्षा का जोर समाज-सुधार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने पर होगा, हमारे विशेष शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी अपना समस्त ज्ञान आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा मे लगा देंगे। विज्ञान ने हमारे जीवन के मूल्यो में आमूल-परिवर्तन कर दिया है। हमारी औद्योगिक, कृषि सम्बन्धी और सांस्कृतिक प्रगति, और हमारे देश का बचाव तक, आज विज्ञान पर ही निर्भर है। ऐसी दशा मे, वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए राज्य की ओर से अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा ही इस देश के राशि-राशि प्राकृतिक साधनो से पूरा लाभ उठा सकेंगे, और पानी के बहाव में बंधी हुई अपार विद्युत-शक्ति को भी मुक्त करके उससे अपने सुख और-समृद्धि को बढाने का काम ले सकेंगे।

सामाजिक समानता की सृष्टि

शिक्षा के व्यापक प्रचार, समाज-सुधार की प्रवृत्ति के विकास और आर्थिक समानता की स्थापना, के परिणाम-स्वरूप ही हम देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकेंगे, जिसमें सामाजिक समानता की भावना बढ़ और फैल सके। जब देश में काम बढ़ेगा, तब समाज के विभिन्न अगो के लिए एक दूसरे से मिलजुल कर काम करने के मौके भी बढ़ेंगे, और मिलने-जुलने से ही एक-दूसरे को समझा, और एक-दूसरे के प्रति स्नेह और आदर की भावना को बढाया जा सकता है। मिल-जुल कर काम करने के मौके जितने अधिक मिलते हैं, मेल-जोल उतना ही अधिक बढ़ता है। एक कारखाने में काम करने वाले व्यक्ति अपने को धर्म अथवा जाति के आधार पर विभिन्न वर्गों में नहीं बांटते, आर्थिक स्वार्थ ही उनकी दलबन्दी की मुख्य प्रेरणा का काम देते हैं। हिन्दू पूजीपति जो मजदूर की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाता है, हिन्दू-मजदूर की दृष्टि में उतना ही हेय और पतित है, जितना मुसलमान मजदूर की। देश के आर्थिक विकास के साथ सहकारी समितियो आदि की भी अधिक सख्या में स्थापना होगी। जैसे-जैसे उनकी सख्या बढ़ेगी, और एक बड़ी मात्रा मे देश के विभिन्न वर्गों के सदस्य

उसमे भाग लेंगे, उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास पाना भी सहज स्वाभाविक होगा।

सच तो यह है कि ग़रीबी और गरीबी की यन्त्रणाए ज्यों-ज्यों कम होती जायंगी, सामाजिक सहयोग की भावना बढेगी : भूखा आदमी तो रोटी के एक कौर के लिए भी प्राण लेने या देने के लिए तैयार होजाता है, पर जिसके पास पेट भर रखने के लिए हो वह छोटी बातो पर झगड़ा नहीं किया करता। आज के हमारे साप्रदायिक वैमनस्य की जड़ में यह आर्थिक बेबसी है। किसान, छोटे दुकानदार, सरकारी नौकर, सभी के लिए आज का मुख्य प्रश्न रोटी का सघर्ष है और आज हमारे स्नायु इतने दुर्बल होगए हैं, और हमारी विवेक बुद्धि इतनी कुंठित, कि जहा हमें रोटी के छिन जाने का झूठ-मूठ का भय भी होजाता है, हम बौखला से जाते हैं और वाछित-अवाछित सभी प्रकार के वर्गों के करने के लिए उद्यत होजाते हैं। यदि हमारे देश में रोजगार का क्षेत्र इतना सकुचित न होता, और हमारे मध्यम वर्ग को, जिसके हाथ मे प्रायः देशों का नेतृत्व रहा करता है, सरकारी नौकरी पर इतना निर्भर नहीं रहना पड़ता, तो मुझे पूरा विश्वास है कि, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का इतिहास आज से बिल्कुल दूसरा होता। आज हम देश-व्यापी अथवा स्थानीय किसी भी प्रकार की राजनीति को लें, हम आसानी से यह देख सकेंगे कि हमारे अधिकाश राजनैतिक सङ्घर्षों का मूल-कारण आर्थिक ही है। यदि मुसल्मान किसानों को हिंदू जमींदार के आश्रित न रहना पड़े, या हिंदू साहूकार से कर्ज न लेना पड़े, इसी प्रकार यदि हिंदुओं के साधारण आर्थिक स्वत्व किसी मुसल्मान के आर्थिक स्वत्वों की बलि पर ही निर्भर न हों, तो यह निश्चित है कि देश में एक विभिन्न वातावरण की सृष्टि हो सकेगी। यह एक निःसदिग्ध तथ्य है कि जब देश में नये औद्योगिक और व्यवसायिक धधे निकल आयगे, और वैज्ञानिक साधनों के आलबन से पुराने धधे भी एक नया जन्म ले लेंगे, हमारे समाज का वर्तमान रूप बिल्कुल ही बदल जायगा। इन आर्थिक प्रवृत्तियों का एक सीधा प्रभाव तो यह होगा कि देश का वह मध्य-कालीन सामन्तशाही वर्ग, जमींदार आदि जो ग्रामीण जीवन में हिन्दू और मुसल्मानों को एक साथ रखने की क्षमता खो चुके हैं, अपना महत्व खो देंगे और एक ओर तो मध्यमवर्ग की शक्ति और सख्या दोनों का विस्तार होगा, और दूसरी ओर निम्न-श्रेणी की स्थिति आज से कहीं अधिक अच्छी होगी। मध्यमवर्ग बेरोजगारी के उस आतङ्क से सर्वथा मुक्त होगा, जो आज के साप्रदायिक मतभेदों की जड़ में है, और निम्न-वर्ग या तो राज्य की सुव्यवस्था के परिणाम-स्वरूप या एक बड़ी क्राति के द्वारा, अपनी स्थिति ऐसी बना लेगा कि उसे भी अपनी दैनिक

आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर न रहना होगा। वैसी दशा में साम्प्रदायिक गलतफहमिया अपने आप मिट जायगी, क्योंकि हम में से हर एक की दृष्टि भूत-काल के भग्नावशेषो पर नहीं भविष्य के सुनहले स्वप्नो पर होगी।

राष्ट्रभाषा की समस्या

किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन मे भाषा का स्थान बड़े महत्व का है। भाषा हमारे विचारो का साधन है, उसके द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य तक न केवल अपनी दैनिक और साधारण आवश्यकताओं को ही प्रदर्शित कर सकता है परन्तु उनकी अनुभूति की गहराई, कल्पना की उड़ान और भावो की उदारता उसी में मूर्त्त रूप धारण कर लेती है। भाषा, इस प्रकार, राष्ट्र-जीवन के साथ गुथी हुई है। वह उस जीवन का प्रतीक भी है, भाषा के उत्थान-पतन मे हम राष्ट्रीय-जीवन के उत्थान-पतन की कहानिया पढ़ सकते हैं। राष्ट्रीय-जीवन जब कभी ऊंची उड़ान लेता है भाषा अपने आप शुद्ध, प्रखर अर्थवाहिनी बन जाती है, राष्ट्रो के पतन के साथ भाषा का तेज नष्ट होता जाता है। ऐसी तेजहीन भाषा का सहारा लेकर साहित्य पनप नहीं पाता, और राष्ट्रीय-जीवन दिन प्रतिदिन शुष्क होता चला जाता है।

हम यदि किसी देश की सच्ची स्थिति जानना चाहें तो उसकी भाषा को बारीकी से देखें। महाकवि मिल्टन के शब्दो मे, "किसी देश के शब्द यदि कुरूप और बेढगे हैं, और उनका उच्चारण अशुद्ध है, तो वे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उस देश के रहने वाले सुस्त, काहिल और निकम्मे है, जिनके दिमाग़ किसी भी प्रकार की गुलामी के लिए तैयार है।" इसी प्रकार यदि हम किसी देश को अपनी भाषा के प्रति सतर्क, और उससे उन्नतिशील बनाने मे तत्पर पाते हैं तो यह निश्चित है कि उसकी सभ्यता कम-से-कम पतन की ओर झुकी नहीं है, और उसका भविष्य किसी प्रकार से चिन्तनीय नहीं है। जवाहरलालजी के शब्दो मे, "जीवित भाषा नवचेतना से अनुप्राणित, सशक्त, परिवर्तनशील और सतत प्रगतिशील होती है, और उन लोगो के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जो उसे बोलते और लिखते है।"

किसी बढ़ते हुए देश के लिए तो भाषा का प्रश्न एक बहुत ही आवश्यक प्रश्न है। भाषा की एकता राष्ट्रीयता को सुदृढ बनाने वाले जरूरी तत्वो मे से एक है। बिना एक राष्ट्रभाषा के, जिसमे समस्त देश के सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति हो और जिसे देश का एक अधिकाश भाग समझ सके, किसी राष्ट्र का आगे बढ़ना कठिन बात है। राष्ट्र में भाषाओं का जितना बाहुल्य होगा, एक दूसरे मे जितना अन्तर होगा, राष्ट्रीयता की भावना के सबल बनाने मे उतनी ही कठिनाई होगी। यह भी एक कारण है कि हमारी राष्ट्रीयता की समस्या इतनी

जटिल बन गई है। हमारा देश एक महाद्वीप के समान है, जिसमे दर्जनो भाषाए बोली जाती हैं, और उनके सैकड़ो रूपान्तर है। उत्तर भारत में ही हिंदी और उर्दू के अलावा बंगला, मराठी और गुजराती हैं। दक्षिण में तामिल, तेलगू, मलयालम आदि है। इनके अलावा उड़िया, आसामी, पंजाबी और पश्तो है। भाषाओं की इस विविधता के कारण एक ही संदेश एक साथ देश के कोने-कोने तक पहुंचाया जाना एक असंभव काम है। दक्षिण भारत की भाषाओं को उत्तर भारत की किसी साधारण सभा मे प्रयोग में नहीं लाया जा सकता, और हिंदी वालों के लिए गुजराती, मराठी अथवा बंगला समझना बहुत आसान काम नहीं है। बंगाली गुजरात के किसी प्रदेश मे अपनी भाषा से काम नहीं चला सकता। और केवल मराठी जानने वाले के लिए किसी भी मराठी-इतर प्रदेश में समझा जाना असंभव है।

भाषाओं की इस विविधता और दूरी के कारण ही अंग्रेजी ने हमारे राष्ट्रीय-जीवन मे इतना प्रमुख स्थान ले लिया है। एक काफी लंबे समय तक हमारे शिक्षित-वर्ग ने उससे राष्ट्र-भाषा का ही काम लिया है। पंजाबी इसके द्वारा एक शिक्षित मनुष्य पर, चाहे वह बंगाली हो अथवा मद्रासी, अपनी भावनाए प्रगट कर सकता है। हमारी राष्ट्रीय चेतना का भी वह एक आवश्यक माध्यम रही है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की थर्रा देने वाली वक्तृताए, महामना गोखले के अध्ययनपूर्ण भाषण, गांधीजी की प्रमुख विचार धाराए और जवाहरलाल के अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के विश्लेषण हमें अंग्रेजी मे प्राप्त रहे हैं। आज भी राष्ट्रीय महासभा तक की कार्यवाही प्रधानत. अंग्रेजी मे होती है। पर, यह शुभ लक्षण नहीं है। अंग्रेजो के सांस्कृतिक गुलाम बने रह कर राजनैतिक मुक्ति की कल्पना करना एक हास्यास्पद बात है, क्योंकि वैसी दशा मे हमारी शासन-व्यवस्था चाहे कितनी ही सुगठित और स्वतन्त्र क्यो न हो, हम बच्चे के समान अंग्रेजी-संस्कृति के अंचल मे लिपटे रहेंगे। हमारी दशा उस कैदी के समान होगी, जिसके पैरो की बेड़िया खोल दी जाती हैं, पर जो निष्क्रियता की एक लम्बी आदत से अपने चलने की शक्ति को खो बैठा हो। एक राष्ट्र-भाषा को हम पालें, और अपने उल्लास, आकांक्षाओं और स्वप्नों से उसमे प्राण-प्रतिष्ठा कर सके, तो स्वतन्त्रता हमारे दरवाजे पर आयगी और कहेगी, "मुझे स्वीकार करो"।

देश में भाषाओं की इतनी विविधता होते हुए भी राष्ट्रभाषा का सवाल ऊपर से आसान दिखाई देता है, इस संबंध मे अब विशेष मतभेद नहीं रह गया है कि हमारी राष्ट्र-भाषा वही हो सकती है जो उत्तर-भारत के अधिकांश भागो में बोली जाती है, और जो संस्कृत और फारसी-अरबी के शब्दो के अनुपात से हिंदी

अथवा उर्दू के नाम से प्रख्यात है, और इसी अनुपात के आधार पर देवनागरी अथवा अरबी लिपि मे लिखी जाती है। बंगला वालो की ओर से उत्तर-भारत की भाषा का राष्ट्र-भाषा के पद के इस दावे का विरोध भी हुआ, जो कुछ अंशों मे अब भी मौजूद है, पर उसका आधार मजबूत नहीं था। बंगला वालों का कहना था कि क्योंकि उनका साहित्य श्रेष्ठ है, और हिन्दी ने बकिम, रवीन्द्र-नाथ, शरत् चटर्जी जैसे साहित्यकार पैदा नही किये, इसलिए बंगला को राष्ट्र-भाषा का पद मिलना चाहिए। पर, राष्ट्र भाषा के निर्णय के लिए साहित्य की ऊ चाई का मापदण्ड उपयुक्त नही है। यो तो मराठी और गुजराती वाले भी हिन्दी-साहित्य से आगे बढे होने का दावा, कुछ दिनो पहिले तक तो, कर ही सकते थे। और, यदि साहित्य की ऊ चाई से राष्ट्र-भाषा का निश्चय होता हो तो हम बगला को क्यो ले, फ्रैंच को क्यो न ले ? राष्ट्र-भाषा तो वही भाषा हो सकती है जिसे देश के अधिकाश लोग आसानी से समझ सके, सीख सकें और सिखा सके।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि हम भारतीय भाषाओ में से किसे राष्ट्रभाषा के लिए चुने। वह तो हिंदी अथवा हिंदुस्तानी (उसे उर्दू भी कह सकते हैं) है ही। प्रश्न यह है कि उसका कौन-सा रूप राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त है। पजाब से लेकर बिहार तक और काश्मीर से मध्य-प्रात के सुदूर कोने तक इसी भाषा के कई रूप (shades) बोलचाल की भाषा के प्रयोग में आते हैं। लाहौर के सर्वसाधारण की भाषा मे फ़ारसी और अरबी के शब्द अधिक सख्या में पाये जाते हैं, दिल्ली की भाषा पर फारसी और अरबी का रग है तो, पर बहुत गहरा नहीं। कानपुर की भाषा में सस्कृत के शब्द मिल गये है, और इलाहाबाद और बनारस आदि मे तो भाषा बहुत अधिक सस्कृतमयी होजाती है।

मैं बोलचाल की भाषा की बात कर रहा हू, साहित्य को भाषा की नहीं। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है—और भाषा की समस्या के साथ हमे उसे भी सुलझा लेना है—कि हमारे यहा जनसाधारण की भाषा और साहित्य की भाषा के बीच एक बडी गहरी खाई पैदा होगई है, जो दिन-पर-दिन अधिक चौडी होती जारही है। साहित्य के लिए उत्तर-भारत मे दो अलग-अलग भाषाए बन गई हैं। वे हैं उर्दू और हिन्दी ! उनके अलग-अलग और एक-दूसरे को कहीं स्पर्श न करने वाले (Exclusive) दायरे बन गए हैं। इन दायरो में ही उनका विकास भी तेजी के साथ होरहा है, एक के साहित्यकार अपनी प्रेरणा अरब और ईरान के साहित्य और जीवन से प्राप्त करते हैं, और दूसरी के, अपनी

भाषा को फारसी और अरबी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त बनाने, और उसे संस्कृत-मयी बनाने पर तुले हुए हैं। यह बात मैं उर्दू और हिन्दी दोनों साहित्यों की मुख्य धाराओं के लिए कह रहा हूं। दोनों भाषाओं के लेखकों में एक दल ऐसा भी है जिसने इस (Puritanical) और (Seporist) आन्दोलन के खिलाफ अपनी आवाज ऊंची की है।

हिंदी बनाम उर्दू

हिंदी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं, यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी सचाई से इनकार नहीं किया जा सकता। भाषाओं का सम्बन्ध जानने के लिए हमें तीन बातों पर नजर रखना चाहिए—(१) शब्दों के उच्चारण की पद्धति, (२) वाक्य-रचना, और (३) शब्द-कोष। इन तीनों में से पहिली दो बातें मुख्य हैं। इनमें भी वाक्य रचना भाषा का मुख्य आधार होता है, जो प्रायः अपरिवर्त्तनीय रहता है, शब्दों के उच्चारण की पद्धति में, एक लम्बे काल में थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है, परन्तु शब्दकोष तो प्रायः सांस्कृतिक परिवर्त्तन के प्रत्येक झोंके के साथ बदलता रहता है। काव्य-रचना की पद्धति अपने-आप से गठी हुई रहने के कारण अपरिवर्त्तनीय है, पर शब्द न तो इस प्रकार के किसी नियम का ही पालन करते हैं, न वे दूसरे से बहुत ज्यादा मिलजुल कर रहते हैं। उनमें से हर एक की अपनी अलग स्थिति है। उनके बदलते रहने से भाषा नहीं बदला करती। राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ-साथ भी कभी शब्दों में बड़ा परिवर्त्तन होजाता है। पहिले महायुद्ध में इस प्रकार शब्दों का बहुत अधिक प्रत्यावर्त्तन हुआ है। अंग्रेजी शब्दों का बहिष्कार हुआ, फ्रांस की रूढ़ि-पसन्द भाषा ने अपनी दोनों बाहें फैला कर अंग्रेजी शब्दो का स्वागत किया। रूसी लोगों ने अपने शहरों के नाम तक से जर्मनी का 'बर्ग' हटा कर अपने देश का 'ग्राड' रखा—इसी प्रकार सेंट पीटर्स बर्ग पैटरोग्राड बना, और पीटर-वंश के पतन पर लेनिनग्राड।

इन नियमों के आधार पर यदि हम हिंदी और उर्दू की जांच करें तो हम देखेंगे कि दोनों भाषाओं का उच्चारण प्रायः एकसा है, और व्याकरण भी मूलतः एक ही है। इस दृष्टि से उर्दू और हिंदी एक-दूसरे के बहुत नजदीक हैं, और संस्कृति, बृजभाषा, अवधी, फारसी और अरबी से काफ़ी दूर। अब रही शब्दों के चुनाव की बात। भाषा में कुछ शब्द ऐसे रहते हैं जो जन-साधारण में प्रचलित हों, कुछ बाहर से उधार लिए जाते हैं, और कुछ दूसरे शब्दो को मिला-जुलाकर अपने बना लिए जाते हैं। उर्दू और हिंदी दोनों में जन-साधारण में प्रचलित जो शब्द पाए जाते हैं, वे एक ही हैं, बाहर से लिए जाने वाले शब्दों

में जरूर काफी अतर है, और बढता जा रहा है। उर्दू फारसी और अरबी से अपने शब्द चुनती है, हिंदी सस्कृत से और कभी-कभी सस्कृत से निकली हुई अन्य प्रातीय भाषाओं से भी। इसलिए उनके रूप मे इतना अधिक अन्तर होगया है।

इस अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए, उसकी अवहेलना नही की जा सकती। उर्दू और हिन्दी मूलतः एक भाषा होते हुए भी, और उनमे आज देश की किसी भी दूसरी भाषा के मुकाबिले मे आपस मे बहुत अधिक साम्य होते हुए भी, अलहदा-अलहदा भाषाए बन गई हैं। हिंदी जानने वालो के लिए उर्दू का समझना मुश्किल काम है। लिपि की भिन्नता के कारण पढना तो दूर की बात है, पर सुनकर भी उसके समझने मे आप कल्पना से ही काम ले सकते हैं, और उस कल्पना को अधिक सतर्क बनाकर तो आप गुजराती, मराठी और बगला समझने का प्रयास भी कर ही सकते हैं। इसी प्रकार उर्दू के समर्थक मित्र, जिनमे मुसलमानो की सख्या ज्यादा है, हमारी आज की हिंदी समझने मे अपने को बिल्कुल असमर्थ पाते हैं। बोलचाल की भाषा समझना उतना कठिन नही, पर साहित्य की भाषा एक-दूसरे से विभिन्न है क्रिया, क्रियापद, सर्वनाम आदि को छोड दीजिये तो उनमें कही साम्य नहीं मिलेगा। नीचे के उदाहरणो से यह बात स्पष्ट होगी—

"इसमे कोई कलाम नही कि इकबाल बहुत बलन्द पाया शायर अजीमुल मर्त्तबात मुफाकिर थे। बाज हजरात को शायद इस बात के तस्लीम करने मे पशोपेश हो कि वह उलूमे रूहानी के मुअल्लम और असरारे बातिनी के हकीक भी थे। और उन्हे रूहानियत की गहराइया मालूम और रमूजे-मरत्फी से बखूबी, आगाही थी।"

इसके मुकाबिले मे आज की हिन्दी का एक उदाहरण देखिए.—

"हिन्दी-कविता की नीहारिका सम्प्रति, अपने प्रेमियो के तरुण-उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति या साहित्याकाश मे अत्यन्त वेग से घूम रही है। समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पडते है, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश सग्रहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति से अपने लिए नियमित पथ खोज सके, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गतिविधि पर निश्चित-सिद्धात निर्धारित कर ले। ऐसी दशा मे कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र-परिधि- हीनद्रवित-वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य मे किस स्वस्थ स्वरूप मे फलीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा।'

प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति अमरनाथ झा के शब्दो मे × × उर्दू का

सारा वातावरण और प्रतिभा विदेशी हैं, भारतीय नही। इसका प्रमाण यह है कि एक हिन्दू भी, जो हिन्दू दन्तकथाओं और पुराणों पर, हिन्दू-धर्म के वातावरण में पला होता है, उर्दू लिखते समय नौशेरवा, हातिम, शीरीं, लैला, मजनूं, यूसुफ की चर्चा करेगा और कभी भूलकर भी युधिष्ठिर, भीम, सावित्री, दमयन्ती, कृष्णा और दूसरे चरित्रों की, जिससे वह बचपन से परिचित रहा है, चर्चा नहीं करेगा। × × फरहगे आसफ़िया में, जो हैदराबाद में तैयार किया गया उर्दू का एक नया शब्दकोष है, ७००० अरबी के शब्द हैं, ६५०० फारसी के; और सिर्फ ५०० सस्कृत के। उर्दू कविता के लिए जिन छन्दों का प्रयोग होता है, वे हिदुस्तानी नहीं, ईरानी हैं। उर्दू के बहुवचन भी भारतीय पद्धति के अनुसार नहीं हैं, फारसी के नियमों का पालन करते हैं। × × पिछले कुछ वर्षों मे हिन्दी लेखकों की प्रवृत्ति अपनी भाषा को कृत्रिम, सकुचित और आडम्बरमयी बनाने की ओर रहा है। वे सस्कृत के अपरिचित, कठिन और क्लिष्ट शब्दों को प्रयोग में ला रहे हैं। वे प्राचीन हिन्दी काव्यों और गायको की सादा शैली का त्याग करते जा रहे हैं। वे भाषा को जनता से, जिसके बीच वह पैदा हुई है, दूर लेते जा रहे हैं। सीधे-सादे ग्रामीण जो सूरदास, कबीर और तुलसीदास को समझते हैं, निराला सुमित्रानन्दन पन्त, और जयशकर 'प्रसाद' की भाषा को नहीं समझते।"

यही हमारी आज की भाषा की समस्या है। साहित्य की भाषा जनता की भाषा से दूर जा पड़ी है। मुसल्मानो ने हिन्दुओ से अलहदा अपनी एक भाषा बना ली है, और हिन्दू मुसल्मानो से हट कर अपनी अलग भाषा के विकास-परिवर्द्धन में व्यस्त हैं। इन अशुभ दायरों को तोड़ना है। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार हूं कि साहित्य की भाषा और जनता की भाषा में कुछ अन्तर जरूर होगा। श्री के० एम० मुशी लिखते हैं: "प्रत्येक भाषा के दो रूप होते है : एक से हमारी दैनिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है, और दुसरा हमारी कल्पना की उड़ान और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए है। पहिला रूप ऐसा होना चाहिए जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें, और दूसरा रूप भी ऐसा होना चाहिए कि, उसमें कल्पना की उड़ान अपने को अभिव्यक्त और घोषित कर सके। × × ऊंचे दर्जे का साहित्य और उसकी भाषा जनसाधारण की सपत्ति नहीं हो सकती, वह उनके बाहर की चीज है। हरएक कारीगर ताजमहल नहीं बना सके, न ताजमहल हरएक ग्रामीण के लिए, रहने का उचित स्थान ही है।"

यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए चाहे शुभ हो, पर राष्ट्रीय जीवन का उससे कल्याण नहीं हो सकता—वह साहित्यकार को राष्ट्रीय जीवन से अलहदा काट लेने का प्रोत्साहन देती है। एक ग़ुलाम राष्ट्र के लिए वह लाभदायक नहीं है। उसके

लिए तो साहित्य मे क्रान्ति का सदेश हो और वह सदेश गावों के कोने-कोने तक पहुंच सके। आज हमें साहित्य में कालिदास की जरूरत नहीं है, जो एक रोमांस के वातावरण में शकुन्तला जैसे पात्रो की सृष्टि करे, हमें तो गोर्की चाहिए जो मां जैसी चीज हमे दे सके। हमारे बीच कालिदास और भवभूति आज हों भी तो उनकी कल्पना की उडान की प्रशंसा कराने का समय आज हमारे पास नहीं है, आजादी की अपनी इस लड़ाई के बाद शायद हमें उसके लिए फुरसत हो, आज के विश्व-सघर्ष में शायद वह भी सभव न हो सके। हमें आज साहित्यकार को जनता के सपर्क मे ले आना है। जवाहरलालजी लिखते है—"आज सस्कृति का आधार अधिक व्यापक होना चाहिए, और वही भाषा का जो सस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन है, आधार होगा।" आज के युग के सबसे बड़े कलाकार रोमा रोला ने एक बार लिखा था, "जीवन-कला वही है जो मानवता के निकट सपर्क मे हो।" रोमां रोला लिखते हैं, "यह एक अच्छी प्रसिद्धि है, जो अपने को जीवन से काट कर, और अन्य मनुष्यो से भिन्न बन कर, प्राप्त की जाती है! इस प्रकार के सब कलाकारों का नाश हो। हम तो जीवन के साथ रहेगे, पृथ्वी के स्तनों से दुग्ध-पान करेंगे, और जनसाधारण में जो गहराई और पवित्रता है उसे स्वीकार करेंगे।" कल्पना की उड़ान आकाश की ऊंचाई का स्पर्श करे, पर उसका आधार पृथ्वी पर हो। कलाकार की कल्पना इन्द्र-धनुष के रगो के समान जमीन को छूती हुई आकाश की ओर उठे।

यह है समस्या का एक अग। दूसरा अग कृत्रिमता की उन दीवारो को, जो उर्दू और हिन्दी के बीच चिन दी गई हैं, तोड़ फेंकना है। एक ही प्रदेश के हिन्दू और मुसल्मान अलग-अलग भाषाओ में सोचें, अलग-अलग संस्कृतियों से अपनी प्रेरणा प्राप्त करें, उनके विचार जुदा-जुदा हो, उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भिन्न हो, यह असह्य है, और यदि इसे जारी रखा गया तो हमारे देश का भविष्य नितांत अधकारमय है। मैं मानता हूं—और ऊपर की विवेचना मे इसकी बहुत स्पष्ट स्वीकृति है—कि आज उर्दू और हिन्दी दो अलग-अलग भाषाए बन गई हैं, और उनके साहित्य, और उन साहित्यो की मूल-प्रेरणा एक-दूसरे से भिन्न है, पर यदि हमारी राष्ट्रीयता को जीना है, और विकास पाना है तो शीघ्र ही मौजूदा उर्दू और हिन्दी के साहित्य इतिहास के सग्रहालयों मे पहुचा देनी चाहिए, और जन-साधारण मे से एक सामान्य भाषा को चुन कर, उसमें नई कल्पना की उडान और नये भावों के प्रवेश से, एक नये साहित्य का निर्माण करना पड़ेगा, जो शुद्ध हिंदू अथवा मुस्लिम-सस्कृति का एकान्त प्रतिनिधि न होकर उत्तर-भारत के हिन्दू और मुसल्मान दोनों के अन्यान्य उल्लास-आकाक्षा और स्वप्नों को

प्रतीक बन सके, जिसमें हमारे भूत-काल की सिद्धियो का संदेश, और भविष्य के आदर्शों की झलक हो ।

समाधान की दिशा

इन दोनों भाषाओं के समन्वय से यदि एक राष्ट्रभाषा की सृष्टि की जाय तो उससे उर्दू वालो को यह डर है कि उर्दू भाषा के विकास को क्षति पहुचेगी। यह डर बिल्कुल काल्पनिक है। इसके पीछे गलतफहमी के अलावा कुछ नहीं है। यह सच है कि उर्दू हिंदी के समान ही, राष्ट्र-भाषा के लिए एक पोषक-धारा (Feeder) का काम करेगी। पर इससे उसका विकास रुकेगा नहीं। उर्दू के बिना जैसे राष्ट्र-भाषा की कल्पना करना कठिन है, वैसे ही बिना अपने को राष्ट्र-भाषा के सपर्क में रखे उर्दू अपना विकास भी नही कर सकती। वह केवल फारसी और अरबी पर अवलम्बित रह कर पनप नही सकती। इस जमीन मे उसकी पैदाइश हुई है, इसीसे उसे अपनी जड़ों को सींचना होगा। बिना इस जीवन-शक्ति को ग्रहण किये वह सूख और मुरझा जायगी। आज उर्दू का साहित्य उस वेग से आगे नहीं बढ रहा है जैसे बगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी आगे बढ रहे हैं, इसका कारण यही है कि उसने अपने को देश के जीवन से अलहदा कर लिया है। हम लोग जो उर्दू को एक Prodigal Son की तरह, राष्ट्र-भाषा के विस्तृत कुटुम्ब में लौटा ले आना चाहते हैं, उर्दू के लाभ के लिए भी उतने ही चिंतित हैं, जितने राष्ट्र के, क्योंकि हम जानते हैं कि उर्दू को नुकसान पहुचा कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता।

उर्दू एक अलग भाषा बन गई है और एक काफी लबे अर्से तक अलग भाषा के रूप में उसका विकास होगा। उसे मिटाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह हमारे लिए मुस्लिम देशों से सपर्क का एक बड़ा अच्छा माध्यम बन सकेगी। इस्लाम की सस्कृति में जो सर्वश्रेष्ठ है, उर्दू के द्वारा हम उसे बडी आसानी से पा सकेंगे। इस रूप की और तत्वों के बिना—मैं न तो राष्ट्र-भाषा के विकास की ही कोई कल्पना कर सकता हू, न राष्ट्र के उत्थान की—उर्दू ही हमें अरब-ईरान और तुर्की की सस्कृति और भाषा के सपर्क मे रख सकेगी।

सच पूछा जाय तो हिन्दी और उर्दू का आपस में कोई झगड़ा नही है—वह तो कुछ गलतफहमियों के कारण कुछ थोड़े से अर्से के लिए पैदा हो गया है, जिसका मिट जाना जरूरी ही नहीं स्वाभाविक भी होगा। गाधीजी ने इस सबध में लिखा था, "असली प्रतिस्पर्धा तो हिन्दी और उर्दू में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी में है। वही करारा मुकाबला है। मैं तो उसके लिए निश्चय ही बड़ा ही चिन्तित हूं। हिंदी-उर्दू विवाद का कोई आधार नहीं है।

× × हिन्दुस्तानी को मूर्त-रूप देने के लिए हिन्दी और उर्दू को उसकी पोषक भाषाए समझना चाहिए। × × हिन्दी ज्यादातर हिन्दुओ में और उर्दू मुसल्मानो मे महदूद रहेगी। × × कोई वजह नहीं कि इन दो बहनो मे प्रतिस्पर्धा हो। हा, प्रेम-भरी प्रतिस्पर्धा तो हमेशा ही होनी चाहिए। × × मौलवी साहब अब्दुल हक के योग्यतापूर्ण नेतृत्व मे उस्मानिया यूनिवर्सिटी उर्दू की बड़ी सेवा कर रही है। यूनिवर्सिटी मे उर्दू का एक बहुत बड़ा कोष है। इसकी भी किताबे उर्दू मे तैयार की गई हैं, और तैयार की जा रही हैं। और चूंकि उस यूनिवर्सिटी मे ईमानदारी के साथ उर्दू में शिक्षा दी जा रही है, इसलिए उसकी तरक्की होनी ही चाहिए। अकारण तास्सुब की वजह से अगर आज हिंदी-भाषी हिन्दू वहा के बढ़ते हुए साहित्य से लाभ न उठाये तो यह उनका कसूर है। × × मुसलमान अगर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के विनम्र परिश्रम के फलो का उपयोग न करे, तो यह उनका कसूर है। × × यह मैं जानता हूं कि ऐसे भी कुछ लोग हैं जो इस बात का सपना देख रहे हैं कि यहा ख़ाली उर्दू या खाली हिंदी ही रहेगी। लेकिन मेरा ख्याल है कि यह अपवित्र सपना है, और सदा सपना ही रहेगा। इस्लाम की अपनी ख़ास सस्कृति है, इसी तरह हिंदू-धर्म की भी अपनी सस्कृति है। भावी भारत में इन दोनो सस्कृतियो का पूर्ण और सुखद सम्मिश्रण रहेगा। जब वह शुभ दिन आयेगा, तब हिंदू-मुसलमानो की सामान्य भाषा हिंदुस्तानी होगी। लेकिन उर्दू फिर भी अरबी-फारसी शब्दो की बहुलता के साथ फूलती-फलती रहेगी और हिंदी अपने संस्कृत शब्दो के भारी भण्डार के साथ फूले-फलेगी। शिबली ने जिस भाषा मे लिखा है वह मर नही सकती। लेकिन उन दोनो की अच्छाइया हिंदुस्तानी जबान मे बिलकुल घुलमिल जायगी।" गाधीजी के ये शब्द उर्दू-वालो के लिए उनके तमाम शक और शुबह को दूर कर देने वाले होने चाहिए।

और, मैं तो समझता हूँ, राष्ट्रभाषा का एक प्रमुख आधार बन जाने से उर्दू का महत्व बढेगा ही। जहाँ तक 'टेकनिकल' शब्दो का सवाल है अरबी और सस्कृत दोनो इस क्षेत्र मे धनी हैं। एक सामान्य राष्ट्र-भाषा दोनो मे से किसी एक पर ही पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकती। यदि अरबी को एक विदेशी भाषा मान कर हम उसकी अवहेलना करे तो सस्कृत भी तो जन-साधारण मे कभी भी प्रचलित नही है और कोई भी जो बोलचाल की हिंदी से परिचित है इस बात को जानता है कि जितने सस्कृत के शब्द इस भाषा मे आये हैं वे सब धीरे-धीरे काफी परिवर्त्तित होते गये हैं और इसका कारण यही था कि उनका

मुसल्मानों के द्वारा नहीं, जनसाधारण के द्वारा भी आसानी से उच्चारण नहीं किया जा सकता था। ग्राम और वर्ष जैसे छोटे-छोटे शब्द भी गाँव और बरस बन गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी केवल सस्कृत पर निर्भर नहीं रह सकती। सच तो यह है कि सस्कृत उसका मुख्य आधार तक न हो सकेगी। जो लोग बोलचाल के साधारण शब्दो का प्रयोग उनके मूल सस्कृत रूप मे करने लगे हैं, वे चाहे कुछ चाहते हो, पर यह स्पष्ट है कि एक जीवित, जनसाधारण में प्रचलित भाषा के प्रचार की चिंता उन्हें नहीं है। गाधीजी भी हिंदुस्तानी मे सस्कृत पक्ष को प्रधानता देना जरूरी नहीं समझते। आदिल साहिब के एक पत्र का उत्तर देते हुए श्रीयुत मुन्शी ने लिखा था कि "गुजराती, महाराष्ट्री, बगाली और केरलों ने अपनी साहित्यिक प्रवृत्तिया बनाली हैं, जिनमें शुद्ध उर्दू तत्त्वों का प्रायः प्रभाव है। यदि हम हिंदी को स्वीकार करते है तो स्वभावतः ही हम सस्कृतमयी हिंदी को स्वीकार करेगे।" इसके सम्बन्ध मे गाधीजी ने लिखा है, "पहली बात तो यह है कि मैं निश्चित रूप से यह कह सकता हू कि गुजराती मराठी और बगला सभी भाषाओ मे फारसी के शब्द भी काफी सख्या मे हैं, और मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि गुजरात और बगाल के हिंदुओ को एक-दूसरे के तथा मुसल्मानो के सम्पर्क मे आने के लिए अपनी भाषा को सस्कृतमयी बनाना जरूरी हो। इसके अलावा हमें शुद्ध उर्दू तत्वो से कोई वास्ता नहीं है, हमे तो उत्तर भारत की जीवित भाषा और उसके मुहावरो से मतलब है। यदि इस जीवित भाषा को राष्ट्र-भाषा का आधार बना लिया जाय तो उसमे मुसल्मान अच्छी तरह हमसे सहयोग कर सकते हैं। सस्कृत की ओर लौट जाने का मतलब यह होगा कि हम उनकी हिंदी, बगला और गुजराती के प्रति कीगई सेवाओं को भुला देना चाहते हैं। इस प्रकार की शर्तों पर सहयोग की माग करना आत्म-हत्या में सहयोग की माग से कम नहीं है।"

जवाहरलालजी लिखते हैं, "हमे इस नये जीवन का, जो हिंदी और उर्दू दोनो के क्षेत्रों मे प्रवाहशील है, स्वागत ही करना चाहिए, यद्यपि वह कुछ समय तक के लिए खाई को अधिक चौड़ा बना देगा। हिंदी और उर्दू दोनो ही आज अपने को आधुनिक वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक और कभी-कभी, सास्कृतिक विचारो की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के अनुपयुक्त पाती हैं और इसीलिए अपने को आधुनिक समाज की जरूरतों को पूरा करने के योग्य बना रही हैं और इसमें उन्हे सफलता भी मिली है।

× × हिंदी और उर्दू एक-दूसरे के प्रति द्वेष क्यों रखे? हम तो अपनी भाषा जितनी अधिक,होसके धनी बनाना चाहते हैं और यह उस समय तक सभव

नहीं है जब तक हम हिंदी और उर्दू शब्दो को अपने वातावरण के उपयुक्त न होने के कारण कुचलने की कोशिश करते रहेगे। हमे तो दोनो की ज़रूरत है और दोनो को ही मजूर करना होगा। हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि हिंदी के विकास का अर्थ उर्दू का विकास भी है और उर्दू के विकास से हिंदी की वृद्धि होगी। दोनों का एक-दूसरे पर बडा शक्तिशाली प्रभाव पड़ेगा और दोनो के शब्द-कोष तथा विचारो मे वृद्धि होगी।"

यह मुमकिन है कि बहुत दूर जाकर उर्दू अपनी स्वतन्त्र स्थिति को कायम न रख सके और एक विकसित राष्ट्र-भाषा मे अपने को रग दे, पर यह तभी सभव है जब राष्ट्रभाषा उर्दू के समस्त सौन्दर्य और वैभव को आत्मसात् करने की क्षमता रखती हो। उस समय उर्दू अपना काम कर चुकी होगी। मैं मानता हूं कि उर्दू ने हिंदुस्तान मे इस्लाम की सस्कृति की रक्षा करने का महान् कार्य किया है, वह उस सस्कृति से इतनी निकटता से हिलमिल गई है कि जब तक उस सस्कृति को मिटा नही दिया जाता या पूरा अपना नहीं लिया जाता उर्दू को मिटाया नहीं जा सकता। इस्लाम से हमने पहले बहुत कुछ सीखा है, आज भी बहुत-कुछ सीखना बाकी है। मै तो समझता हू कि हमे एक बहुत बड़ी निधि देने के लिए ही मुस्लिम सस्कृति की एक अलग धारा आज हिंदुस्तान में मौजूद है। जिस दिन हम उसे मुक्त हृदय से भारतवर्ष की भावी सस्कृति मे मिला सकेंगे, उस दिन उसकी अलहदा स्थिति अनावश्यक हो जायगी। मेरे मन मे इस संबध मे तनिक भी सदेह नहीं है कि वह दिन दूर नहीं है। हिंदू और मुस्लिम सस्कृतियो के सपर्क से एक महान सस्कृति को जन्म लेना है। इस महान् समन्वय की दिशा में काम करने वाली सस्कृतिया इतनी जबर्दस्त हैं कि वे व्यक्तियो द्वारा रोकी नहीं जा सकतीं।

राष्ट्र-भाषा के विकास से प्रातीय भाषाओं को तो और भी कम खतरा है। उर्दू के समान वे हिंदी की ही रूपातर नही है। उनका विकास हिंदी से स्वतन्त्र रूप से हुआ है, और उस विकास के पीछे बहुत बड़े कारण काम करते रहे हैं। भारतवर्ष इतना बडा देश है कि उसमे सर्वत्र एक ही भाषा का व्यवहार असम्भव है। उसमे तो एक-दूसरे से मिली-जुली अनेक भाषाए होंगी, सदा रही भी है। उनका मिटाया जाना श्रेयस्कर नहीं, उनकी समृद्धि राष्ट्र की समृद्धि है, पर इस अनेकता में लाभ तभी है जब उसके पीछे भारतीय सस्कृति की एकता के सूत्र को देश और पकड सके। श्री मुशी के शब्दो में, "भारत का साहित्य एक है क्योंकि उसके सस्कार कुछ अलग-अलग नहीं हैं। जिस तरह आकाश के अनगिनती तारे गिनने की उतावली में अजानी लोग उनकी ताल पर सधी हुई चाल की परीक्षा नहीं कर सकते, उसी तरह विशाल अन्तर, विभिन्न लिपियो और भाषाओं के भेद

की वजह से भारतीय साहित्य की असली एकता को भी नहीं देख सकते।"

राष्ट्र-भाषा में हम इस राष्ट्रीय एकता की एक दिव्य झांकी देखेंगे, परन्तु भारतीय संस्कृति का बहुमुखी विकास तब भी रुकेगा नहीं, राष्ट्र-भाषा के निकट संपर्क से, और उसका माध्यम लेकर अन्य प्रांतीय भाषाओं के संपर्क से, उसे प्रोत्साहन ही मिलेगा। संस्कृति आपसी सम्पर्कों मे ही आगे बढ़ा करती है। राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में श्री मुंशी ने ठीक ही लिखा है, "यह भाषा तो पढ़े-लिखों की सौतेली मा है। इन भाषाओं को बोलने वालों का जीवन-व्यवहार उनकी मातृभाषा द्वारा ही होगा। उनकी साहित्य-प्रवृत्ति उन्हींकी भाषा के द्वारा विकसित होगी। पर जैसे-जैसे राष्ट्र-भाव बढ़ता जायगा, जैसे-जैसे विज्ञान हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों को एक दूसरे के पास लाता जायगा, जैसे-जैसे सारे देश के संस्कार और जीवन एक-धार होते जायगे, वैसे-वैसे यह भाषा जीवन-तत्व को प्राप्त करेगी। पर, जहा तक दृष्टि पहुंचती है,वहा तक प्रांतों की देश-भाषाओं का स्थान यह कभी नही ले सकती।"

पर, सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इस भाषा के विकास से हिंदी भी आज कुछ सशंकित-सी दिखाई देती है। हिंदी मे एक ऐसा दल जोर पकड़ता जारहा है जो समझता है कि हिंदुस्तानी का स्वागत करने से हिंदी का सर्वनाश होजायगा, और हिंदू-संस्कृति खत्म हो जायगी। हिंदू-संस्कृति इतनी निःशक्त नहीं। पाच सौ वर्षों के मुस्लिम-शासन में वह खत्म नहीं हो सकी तो फारसी अरबी के कुछ प्रचलित शब्दों को अपनाने से वह मिट नहीं जायगी। रहा हिंदी के सौंदर्य का सवाल। सो, मैं तो समझता हू कि हिंदुस्तानी के रूप में उसका सौंदर्य निखरेगा ही, वह प्रौढ और धनी बनेगी, सारे हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक वैभव की छलछलाती हुई धाराएं उसके किनारे पर उछलेंगी, और उसके चरणों में अपनी विनम्र भेंट चढाएगी, और उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने प्रांतों के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण में व्यस्त होंगी।

साहित्य का परिवर्तित दृष्टिकोण

आज हमें अपने साहित्य के दृष्टिकोण को भी बदलना है—और उसके साथ-साथ भाषा का रूप अपने आप ही बदलता जायगा। उस सब साहित्य को हम खैरबाद कहें, जिसमें परियों के क़िस्से और राजाओं की कहानिया हैं। हमें कलाकार के मानसिक क्षितिज को अधिक व्यापक बनाना होगा। जब तक उसकी सहानुभूति अधिक-से-अधिक व्यापक न होगी, उसको कला में गहराई और स्थायित्व न पा सकेंगे। प्रजातन्त्र और साम्यवाद के इस युग में ऊंचे साहित्य और जन-साधारण के साहित्य की बीच की दीवारों को गिरा देना होगा। हिन्दी

और उर्दू के लेखकों को रोमां रोला के द्वारा कलाकारों को दी गई इस सलाह मे ठीक-ठीक दिशा-संदेश मिलेगा। "साधारण मनुष्य के सामने रोजमर्रा के साधारण जीवन का चित्रण करो : उस जीवन में समुद्र से ज्यादा गहराई और विस्तार है। तुम में से छोटे-से-छोटा अपने में अनत को धारण किये हुए है। वह अनन्त प्रत्येक मनुष्य में है, प्रेमी मे, मित्र में, और उस स्त्री में जो बच्चा पैदा होने के दिन की खुशी को अपनी तकलीफों की कीमत पर खरीदती है, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री में, जो किसी दूसरी आत्मा पर कभी भी प्रगट न होने वाला अरात आत्म-त्याग का जीवन बिताते हैं : यह तो जीवन की वह धारा है जो एक से दूसरे की ओर प्रवाहित होती है और फिर लौट आती है, और फिर . इन साधारण मनुष्यों मे से किसी एक के साधारण जीवन की कहानी लिखो, उन दिनो और रातो की जो एक के बाद एक, एक दूसरे के समान—पर एक दूसरे से विभिन्न भी, आते हैं, और चले जाते हैं, और जो क्रम संसार के प्रथम दिन के प्रथम प्रभात से चल रहा है, और चलता रहेगा।"

साहित्य की इस प्रगतिशील प्रवृत्ति को रोका भी कैसे जा सकेगा ! क्योकि डा० जाकिर हुसैन के शब्दो में, "जबान का अदब अब बहुत दिन तक एक छोटी-सी टोली का धन्धा नहीं रह सकता, इसलिए कि जबान कुछ हो, एक समाजी चीज है। यह आदमी से आदमी का रिश्ता जोडती है, एक दिल की बात दूसरे तक पहुचाती है। × × जू-जू लिखने वालो को अपनी बात समझाने की जरूरत ज्यादा पड़ेगी, जैसे-जैसे ज्यादा लोग उनकी बातों को समझना चाहेंगे, जबान का अदब सहल और साफ होता जायगा और जिन्दगी के करीब आता जायगा। जबानों की तारीख जानने वाले जानते हैं कि जबान जैसे-जैसे आगे बढती है, बोलने और लिखने वाले के मुकाबिले में सुननेवाले का असर उसपर बढता जाता है। × × हां, शाइरी मे कुछ चीजे ऐसी होती हैं, जिनमें कहने वाला बस अपना जी हल्का करना चाहता है, कभी एक आह से, कभी एक वाह से। पर मैं समझता हू कि इस दिल को हल्का करने के लिए भी शायर तक को समझने वालो की जरूरत होती है। किसी सुनसान मैदान मे एक सूखे ठूठ पर कभी-कभी कोई चिड़िया गा लेती है, पर ज्यादा बुलबुल बाग ही मे चहचहाते है।'

कुछ सुझाव

इस सबंध मे मैं अपने कुछ सुझाव दे दूँ—

१. सबसे पहिले तो हमे अपनी भाषा को गावो की ओर ले जाना होगा। आज शहर और गाव के जीवन के बीच एक खाई पड गई है। जब तक हम उसे नहीं पाट सकेंगे, स्वराज्य हमसे दूर ही रहेगा। गाव के किसानो में ऐसे हज़ारों

शब्द प्रचलित हैं, जिनसे हम परिचित नहीं हैं, और होता यह है कि उन्हीं अर्थोंमें जब किसी शब्द का प्रयोग करने की हमे जरूरत होती है, तब हम फौरन संस्कृत और फारसी, की गड़ी कब्रें खोदते हैं और कुछ दिमागी तर्द्दुद के बाद एक ऐसा मुश्किल-सा लफ्ज गढ डालते हैं जो यदि उस देहाती के सामने रख दिया जाय तो वह उसका उच्चारण भी न कर सके।[1]

गांव वाले प्रकृति के भी बहुत नजदीक हैं और शहरी लोगों की तरह जिन्दगी की धारा से अलग हट कर किनार पर नहीं बैठे रहते। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनके संपर्क से हमारी भाषा को एक बहुत बड़ा खजाना मिल सकेगा।

२. उसके बाद हमे अपने मजदूरों और कारीगरों का दरवाज़ा खटखटाना पड़ेगा। किताबी लोग जिन चीजों के लिए संस्कृत और अरबी के कोष देखते फिरते हैं उनके लिए इन लोगों के रोजमर्रा के काम में आने वाले ऐसे नाम मिल जायगे, जो न जाने कब से बरते जा रहे हैं। नये कल पुरजो के लिए भी आपसी व्यवहार के लिए ये लोग बड़ी आसानी से उपयुक्त शब्द गढ लेते हैं, जो हमारे संस्कृत और अरबी के कोषों में दिये गए शब्दों जैसे क्लिष्ट नहीं होते। हमें उन शब्दों को प्रायः जैसा का तैसा अपने साहित्य में ले लेना होगा।

इस क्षेत्र में जो विदेशी शब्द भी हमें लेने पड़ें उन्हें हिन्दुस्तानी रूप देने का आसान तरीका यह है कि उन्हें इन वर्गों में प्रचलित होने दिया जाय, और कुछ दिनों के बाद उनका जो रूप इन लोगों में स्थिर हो जाय और हम उसे साहित्य के लिए स्वीकार कर लें।

३. इसके अलावा हमें अरबी और फारसी के लफ्ज, जो हमने जान-बूझ कर छोड दिये हैं, फिर से लेने होंगे। इनमें से बहुत-से लफ्ज़ तो हमें गांव वालों और शहर के मजदूरों और कारीगरों से मिल ही जायगे, कुछ सीधे उर्दू भाषा से लेने होंगे। इस संबंध में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का मत है कि "जितने अरबी-फारसी के लफ्जों को हिन्दी के अच्छे लिखने वालों ने इस्तेमाल किया है × ×

१—इस सम्बन्ध में स्वर्गीय रॉस मसूद साहिब एक किस्सा सुनाया करते थे। एक बार वह भोपाल के आस-पास की पहाड़ियों में कुछ मित्रों के साथ घूम रहे थे। और Watershed के लिए उपयुक्त हिंदुस्तानी शब्द के सम्बन्ध में बहस चल रही थी। इतने में बकरियों का रेवड़ लिये एक गड़रिया उन्हें दिखाई दिया। उससे उन्होंने पूछा कि "अरे भई; पहाड़ के उस हिस्से को तुम क्या कहते हो, जहां से कुछ पानी इधर बह जाता हो, कुछ उधर।" गड़रिया फौरन बोल उठा, 'जो पनढाल"। वह अपना रेवड़ लेकर आगे बढ़ गया, पर हिन्दुस्तानी को एक नये शब्द की प्राप्ति हुई।

उनको हिन्दुस्तानी में ले लेना चाहिए और उनके अलावा भी नये लफ्जों का बहिष्कार इसलिए ही नहीं होना चाहिए कि वह किसी खास जबान से लिये गए हैं। बल्कि इसमें यह देखना चाहिए कि वह कहा तक जल्द लोगों में चल गए हैं या चल जायगे।" मैं इससे पूर्णतः सहमत हूं।

हा, इस बात पर अलग से जोर देने की जरूरत भी है कि फारसी और अरबी से जो शब्द लिये जायं वे हिन्दुस्तानी के व्याकरण का नियन्त्रण माने। दूसरी भाषाओं के शब्द तो अपने आप ढल जाते हैं, पर उर्दू की वाक्य-रचना प्रायः हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती होने के कारण उससे आने वाले शब्द कभी कभी अपने उलझे हुए रूप में आ जाते हैं। 'सल्तनते बरतानिया' हिन्दुस्तानी नहीं है, 'ब्रिटेन की सल्तनत' हो सकता है। हिन्दुस्तानी मे हम 'आब' नहीं ले सकते क्योंकि हमारा पानी अच्छा-खासा है, यद्यपि एक विशेष अर्थ मे, जैसे 'मोती की आब' में हम उसे स्वीकार कर सकते हैं, पर आबे-हयात हर्गिज नहीं।

४. हमे प्रातीय भाषाओं से भी शब्द लेने पड़ेगे। यह सच है कि उर्दू को छोड़ कर दूसरी प्रातीय भाषाओं का आधार या तो सस्कृत रहा है या सस्कृत का उन पर काफी प्रभाव रहा है, और इस कारण लिपि और वाक्य रचना की क्रिया, क्रियापद आदि को हटा दिया जाय तो उनका शब्द भण्डार बहुत कुछ हिन्दी से मिलता-जुलता है, पर फिर भी कई सौ वर्षों के स्वतन्त्र विकास मे उन्होंने बहुत-से नये शब्द गढे हैं या आसपास से प्राप्त किये हैं। उनमें से बहुत से शब्दों की जरूरत हमें अपनी राष्ट्र-भाषा को धनी बनाने मे होगी।

गुजरातियों ने औरत की कोमलता प्रगट करने के लिए एक बड़ा अच्छा शब्द 'अंखड़ती' बना लिया है। Summing-up के लिए हिन्दीमें कोई अच्छा शब्द नहीं है—परिशिष्ट, उपसहार आदि मे वह बात नहीं है, मराठी के 'समारोप' से बड़े मजे में काम चल सकता है।

५. इस सब के बाद भी विदेशी भाषाओं—विशेषकर अग्रेजी—पर हमें निर्भर रहना ही होगा। अग्रेजों के साथ 'रेल' आई है, उसके ठहरने के लिए 'स्टेशन' बने हैं, जिन पर 'प्लेट-फॉर्म' है, कौंसिलें है, एसेबली है, और भी बहुत-अनगिनत लफ्ज हैं, हम सब को अग्रेजों के साथ जहाज पर लाद कर वापिस भेजना भी क्यो चाहे। ये सब तो हमारे अपने बन ही गए हैं, पर अभी तो हम पश्चिम के सपर्क में गुलाम और मालिक के सबध में ही आये हैं, इसलिए कुछ मामूली जरूरतों की चीजे हमे उनसे मिल गई हैं, जिनके लिए हम उन्हें धन्यवाद दे, और खुश रहें, पर एक आजाद हिन्दुस्तान—वह जब कभी भी आये, और मैं समझता हू, जल्दी ही आयेगा—पश्चिम के नजदीक बराबरी से बैठेगा, और

तब जहा हम उसे बहुत कुछ देंगे, वहा बहुत कुछ सीखेंगे भी। पश्चिम के विज्ञान को चाहे वह राजनैतिक हो, चाहे आर्थिक या सांस्कृतिक, हमें निकट से अध्ययन करना ही पड़ेगा।

विज्ञान के क्षेत्र में तो हम जितने ज्यादा शब्द पश्चिम से ले सकें, हमें सुभीता रहेगा। भाषा का अन्तर होते हुए भी प्रायः सभी यूरोपियन देश, विज्ञान के क्षेत्र में, एक दूसरे से मिलते-जुलते शब्दो का प्रयोग ही करते हैं।

ऊपर दिये गए सुझाव भाषा की शुद्धता के समर्थकों को जरूर चौका देंगे। वह कहेंगे कि इस तरह से तो हमारी भाषा खिचड़ी बन जायगी, और ऐसी खिचड़ी भाषा मे साहित्य का विकसित होना भी असभव होगा। भाषा में ऊपर से स्वेच्छाचारी दीखने वाले परिवर्तनो से उन्हें डर है कि उनकी संस्कृति भी ख़तरे में पड जायगी। उर्दू और हिन्दी दोनो में भाषा की शुद्धता के समर्थको का जो दल है उन्हें यही डर है। वे अपनी छोटी छोटी, सकुचित, साम्प्रदायिक या प्रातीय सस्कृतियों को जो Vested interest की तरह बन गई हैं, कायम रखना चाहते हैं। वे इस गलतफहमी के शिकार हैं कि भाषा और सस्कृति एक दूसरे में ऐसी गुथी हुई हैं कि उन्हें अलहदा नहीं किया जा सकता। मुसल्मान उर्दू को भारतीय इस्लाम का प्रतीक मानते हैं और उसे इस्लाम के सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करने वाली दूसरी भाषाओं—फारसी, अरबी आदि के निकटतम सपर्क में ले जाना चाहते हैं। वह समझते हैं कि उसे सादा बनाने से उनकी सस्कृति को धक्का लगेगा। उधर, हिन्दू दिन-पर-दिन हिन्दी को अपनी सस्कृति का द्वार-रक्षक बनाने मे प्रयत्नशील हैं। परन्तु बारीकी से देखा जाय तो सस्कृति और भाषा ऐसी अविच्छिन्न नही है, जैसा कि उन्हे मान लिया गया है। यूरोप मे कुछ अंशों तक सास्कृतिक एकता के मौजूद होते हुए भी प्राय. प्रत्येक देश की भाषा अलहदा है, बल्कि छोटे-छोटे देशों में भी कई भाषाए प्रचलित हैं। स्विजरलैंड में चार भाषाए हैं, कनाडा और दक्षिण अफ्रिका में सरकारी काम-काज में भी, दो भाषाए काम में आती हैं। हमारे पड़ोसी अफग़ानिस्तान में, सस्कृति की एकता के बावजूद भी, दो भाषाए प्रचलित हैं।

सस्कृति को यदि हम उसके सकुचित रूप में न ले तो जैसे उसकी रक्षा के लिए यह जरूरी नहीं है कि एक गोत्र में ही शादी की जाय, वैसे ही भाषा को अपने में ही सीमित और शुद्ध रखना उसकी सस्कारिता की दृष्टि से बहुत आवश्यक नहीं है। समाज और भाषा दोनों ही क्षेत्रो में इस प्रकार के आदोलन उदारता के द्योतक ही हैं, और उनसे किसी का लाभ नहीं हो सकता। भाषा मे कट्टरता से काम नहीं चला करता, ऐसा किया गया तो उसकी निर्मल स्वच्छ-धारा

कट्टरता की मरुस्थलि में ही छितर कर नष्ट हो जायगी। सस्कृत के साथ तो हुआ भी ऐसा ही। भाषाए और संस्कृतिया भी, विविध सपर्कों का परिणाम ही हुआ करती हैं। किसी में बाहरी प्रभाव ज्यादा होता है, किसी मे कम। सस्कृत आर्यों की शुद्ध वाणी नहीं है, उसमे द्राविड़ शब्द भी प्रचुर-मात्रा में हैं। अरबी, यूनानी, फारसी और इबरानी लफ्जो का मजमूआ है। और हिन्दी ही कहां की शुद्ध भाषा है? उसने जहा एक ओर सस्कृत से अपनी जड़ो को सींचा है, वहा फारसी और अरबी की जड़ो मे भी उसकी शाखे लहलहा उठी हैं और उसके पत्तों ने अपनी नसो में एक नये जीवन का अनुभव किया है। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि दुनिया की सभी सभ्य भाषाओं का यही हाल है। दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेने से कोई भाषा बिगडती नहीं, धनवान ही होती है, सशक्त बनती है। उन शब्दो को निकाल दिया जाय तो वह कमजोर होकर लडखडाने लगेगी, भाषा में बेढगापन तो तब आता है जब लिखने वाला अनमेल शब्दों को एक दूसरे में गूंथने की भद्दी कोशिश करता है। मेल वही अच्छा लगता है, जहा एकरसता हो, जहा सभी स्वर मिलकर एक लय बनाते हो।

सच पूछा जाय तो, न तो भाषा ही स्थिर होती है, और न संस्कृति ही। दोनो में निरतर परिवर्तन चलते रहते हैं। हवा के हर एक झोंके के साथ कुछ न-कुछ परिवर्त्तन होता रहता है। आज तो हमारा राष्ट्र और भी गहरे परिवर्तनों में से गुजर रहा है। हमारी सस्कृति पर पश्चिम की प्रतिक्रिया और पश्चिम के प्रति हमारा विद्रोह दोनो एक साथ ही, जगल की आग के समान, तेजी से अपनी लपटे ऊंची किये आगे बढ रहे हैं। हमारे सामने आज विनाश भी है, और निर्माण भी, टुकडे कर देने वाली प्रवृत्तिया है और उनकी तेज धारो के पीछे एकता की मजबूत फौलाद भी। इन सब प्रवृत्तियो का हमारी भाषा और सस्कृति पर निरंतर प्रभाव पडता जा रहा है। हम मे से जो समझदार है वे एक बडी मशीन के छोटे-छोटे पहियो से, जिनमे से कुछ एक ओर घूम रहे हों, और कुछ दूसरी ओर, अपनी नजर हटाकर मशीन के उस बड़े पहिये पर नजर जमा सकते है जो उसकी गति का निर्देश करता है, और उसे ओर भी तेजी के साथ आगे की ओर घुमा सकते हैं।

भाषा के सबध में देशी और विदेशी का सवाल भी नहीं उठना चाहिए। डा० जाकिर हुसैन के शब्दो में, "बाहर से कुछ हवायें ऐसी आती है जिन से जिन्दगी की खेती मुर्झा जाती है, वो कुछ ऐसी भी आती हैं जिनसे मुर्झाई खेती लहलहाने लगती है। दोनों को एक जानना और उनके फर्क को न समझना बडी ही भूल और नादानी है। × × क्या वह लफ्ज जिनका चलन इस वक्त

हमारी हिन्दुस्तानी जबान में हैं बस बातचीत करने और किस्से कहानियां लिखने के आगे और काम भी दे सकते हैं ? दुनिया रोज आगे बढ़ रही है, नित नयी चीजें बन रही हैं, नित नयी बातें कहनी होती हैं, नये नये ख्याल फैलते हैं। इन नई चीजों, नये ख्यालों के लिए नये लफ्ज चाहिए। क्या हम यह ठान लें कि हम जो लफ्ज बरत रहे हैं, बस उन्हीं से काम चलायें। उन्हीं को हेरफेर कर नई बातें कहने की कोशिश करें, या नये लफ्ज गढ़ें या और कहीं से उधार लें। मैं समझता हूं कि जबान को बन्द कर देने का हक किसी को नहीं। नयी बातें कहनी होंगी, तो नये लफ्ज चाहियें ही होंगे।' पर शर्त यही है कि ये लफ्ज चाहे जहां से आयें, अनमेल या बेजोड़ न हों। ऐसे हों कि खप जाय।

एक संगठित योजना की आवश्यकता

इस बात के लिए एक बाकायदा कोशिश (planned effort) की जरूरत होगी। हिन्दी, उर्दू और देश की दूसरी भाषाओं के विद्वानों को अपना सहयोग, बिना किसी संकोच और मानसिक झिझक के, एक दूसरे को देना होगा। एक केन्द्रीय संस्था की भी जरूरत होगी ही, जो सारे काम की दिशा निर्देश करेगी। अभी तक इस दिशा में जो हुआ है, वह बहुत थोड़ा है। इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकाडेमी का क्षेत्र मर्यादित—केवल हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे के नजदीक लाने का था। वह उसमें भी सफल नहीं हुई। उसकी किताबें और त्रैमासिक पत्रिका तक आज भी इन दो जबानों में अलहदा-अलहदा छपती हैं। उसमें उर्दू और हिन्दी में थोड़ा-सा साहित्य भले ही दिया गया हो, पर हिन्दुस्तानी जैसी कोई चीज पैदा नहीं की। उसकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि उसने अपने ऊपर से खींचतान कर इन दोनों भाषाओं को एक दूसरे से मिलाना चाहा। सरकारी सहारा पाकर यह प्रयत्न एकाडेमी के उत्साही प्रधान मन्त्री डा० ताराचन्द के हाथों में किसी स्कूलमास्टर के आपस में लड़ने वाले दो उद्धत लड़कों का सिर एक दूसरे से टकरा देने के समान हो गया। इसे एके के अलावा कुछ भी नाम दिया जा सकता है। एकाडेमी ने हिन्दी और उर्दू को उनके स्रोत, जनसाधारण की भाषा, तक ले जाने का कोई प्रयत्न नहीं किया और केवल यही इन दोनों भाषाओं को एक दूसरे के नज़दीक लाने का सच्चा प्रयत्न हो सकता था। बिहार उर्दू कमेटी की मीटिंग के सम्बन्ध में अगस्त १६३७ में जब राजेन्द्र बाबू और मौलवी अब्दुलहक मिले तब उन्होंने एक सम्मिलित योजना तैयार की जिसमें उर्दू और हिन्दी के विद्वानों के सहयोग से हिन्दुस्तानी लफ्जों का एक मूल कोष तैयार करने की बात थी। इस आधार पर एक हिन्दुस्तानी कमेटी का निर्माण हुआ, पर जहां तक मैं जानता हूं, उसने

भी जनता रूपी जो सूत्र इन दोनों भाषाओं को जोड़ता है, उस तक पहुंचने का कोई प्रयत्न नहीं किया। ऊपर जिन प्रयत्नों का ज़िक्र किया गया है, वे सब हिंदी और उर्दू से ही संबंध रखते हैं, अन्य प्रान्तीय भाषाओं से उन्हें कोई सरोकार नहीं।

इस दिशा में एक बड़ा प्रयत्न भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना थी। यह परिषद्, १९३५ में इन्दौर में कायम हुई थी, और दो या तीन साल काफी जोरदार काम करने के बाद खत्म हो गई। इसका उद्देश्य विभिन्न प्रान्तों में साहित्य का आधार लेकर, जो सांस्कृतिक एकता विकास पा रही है, उस पर ज़ोर देना था। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक विकास था : भाषा गौण थी। पर भाषा के दलदल में ही एक प्रकार से इस संस्था की अन्त्येष्टि हुई। इसका विश्वास संस्कृत प्रधान भाषा में था—आर्य संस्कृति के पुनरोत्थान की जो धारा हमारे हिन्दू जीवन में काम कररही है, यह उससे अपने को अलहदा काट नहीं सकी। इसीसे मुसल्मानों में इसके संबंध में ग़लतफ़हमियां हुईं। मुसल्मानों के विरोध में समस्त राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता के लिए काम करने वाली यह संस्था जीवित नहीं रह सकती थी। इसलिए उसे ख़त्म हो जाना पड़ा। श्रीयुत मुंशी ने कहीं लिखा था कि देश इस प्रकार के महान प्रयत्न के लिए तैयार नहीं था। वह अपने समय के बहुत पहिले हाथ में ले लिया गया था। मैं तो मानता हूं कि समय के मुख्य सूत्र, शुद्ध राष्ट्रीयता, जिसमें हिन्दू और मुसल्मान दोनों हंसी-खुशी से हिस्सा ले सकें—को न पकड़ पाने के कारण ही इस संस्था का अंत हुआ।

जो विद्वान राष्ट्र-भाषा के विकास के इस संगठित प्रयत्न में भाग लें उन्हें राजनीति और सम्प्रदायवाद से दूर हटकर, और छोटी-छोटी संस्कृतियों, तहजीबों के झूठे मोह से अपने को मुक्त करके ही आगे आना होगा। यह प्रयत्न तो सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न होगा, जिसमें प्रत्येक छोटी संस्कृति को कुछ देना होगा, और बहुत कुछ पाकर वह अपने को समृद्ध भी बना सकेगी। राष्ट्रीयता में उनका कट्टर-विश्वास होना चाहिए। इसके अलावा किसी अन्य देवता में उनकी श्रद्धा न हो। इस कमेटी के जो सदस्य हों वे वजनदार तो हों ही, पर यह मानते हों कि हिंदुस्तान की किस्मत में हिंदू और मुसल्मान दोनों समाज ताने और बाने के समान एक-दूसरे में उलझे हुए हैं, और उन्हें देश में दूर-दूर तक फैले हुए उन करोड़ों गरीब किसान और मजदूरों को, चाहे वे हिंदू हों या मुसल्मान—भाषा के द्वारा एक दूसरे के और भी नजदीक गूंथ देना ही उनका उद्देश्य है। गांधीजी ने लिखा था, "हमारे जमाने की हिंदुस्तानी तहज़ीब अभी बन रही है। इसमें से कई इस बात में प्रयत्नशील हैं कि सब संस्कृतियों के, जो आज एक-

दूसरे से संघर्ष करती दिखाई देती हैं, मेल से एक नयी सस्कृति पैदा की जाय। कोई भी सस्कृति जो अपने को अलहदा काट लेना चाहती है जिन्दा नहीं रह सकती। हिंदुस्तान में आज शुद्ध आर्य सस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है।' नयी सस्कृति और उसके मूल तत्वों—इसमें जो लोग विश्वास करते हों, उन्हीं को इस कमेटी में काम करना चाहिए।

काम की दिशा

यह कमेटी क्या करेगी? इस प्रश्न का उत्तर मेरे बूते के बाहर की बात हो सकती है। शायद वह हिन्दुस्तानी का एक कोष तो तैयार करेगी ही। कोष के सम्बन्ध में कई योजनाए सामने आई हैं। इनमे से दो योजनाओं को एक सक्षिप्त रूपरेखा यहा दी जाती है—क्योंकि ये दो विभिन्न मनोवृत्तियों की द्योतक हैं। एक का विश्वास भाषा का (Classical grandeur) मे है, दूसरी उसे जन-साधारण के सम्पर्क में ले जाना चाहती है। एक के प्रवर्तक अजुमने तरक्की-ए-उर्दू के अध्यक्ष मौलवी अब्दुल हक़ हैं, और दूसरी के मोहम्मददीन तासीर। मौलवी अब्दुलहक चाहते हैं कि एक ऐसा कोष तैयार किया जाय, जिसमें एक ओर तो फारसी, अरबी और उर्दू के वे शब्द हों जो हिन्दी भाषा मे प्रचलित होगए हैं, और दूसरी ओर सस्कृत और हिन्दी के वे सब शब्द हों जिन्हें उर्दू ने अपना लिया है : इस कोष को हिन्दी और उर्दू के लेखकों के एक प्रतिनिधि मण्डल के सामने पेश किया जाय, और उनकी स्वीकृति के बाद इसे, एक सामान्य भाषा के भावी विकास के आधार के रूप में, प्रकाशित कर दिया जाय। मौलवी साहिब चाहते हैं कि कोष के प्रकाशित होजाने के बाद भी यह कमेटी काम करती रहे, और समय-समय पर उक्त कोष में हिन्दी और उर्दू के ऐसे शब्द और मुहावरे जोड़ती रहे जिनसे भाषा के विकास और नये विचारों की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती हो। मोहम्मददीन तासीर का सुझाव है कि इस कमेटी में केवल नये दृष्टिकोण के लेखक और भाषा के विद्वान हों, और वे पहिले ऐसे मूल (basic) शब्दों की एक लिस्ट बनालें जो हमारे काम-काज के लिए बिल्कुल जरूरी हों। तब हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सों से तीन उर्दू जानने वाले ऐसे सदस्य, जो हिन्दी बिल्कुल भी न जानते हों, परन्तु, अपने गावों की भाषा से खूब परिचित हों, फारसी के अलावा ऐसे सब शब्दों की सूची बनावें जिन्हें वे समझ सकते हों, और इसी प्रकार से हिन्दी जानने वाले सदस्य सस्कृत के अलावा शब्दों की सूची बनावे। तब इन सूचियों का मुकाबिला 'बेसिक शब्दों की लिस्ट से किया जाय। जहा मूल भावों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी अथवा उर्दू में शब्द न हों, वहा उसके लिए दोनों भाषाओं से शब्द ले लिये

जाय। इस प्रकार एक 'बेसिक कोष तैयार होगा. जिसका विकास बाद में ग्रामीण साहित्य की भाषा से व ऊचे साहित्य की भाषा से शब्दो को लेकर किया जा सकता है। बाद मे 'टेकनिकल बातो और राजनैतिक विचार-धाराओ को व्यक्त करने वाले शब्दो का एक सग्रह तैयार किया जा सकता है, लेकिन तरीका वही होना चाहिए; यानी दोनो भाषाओ के शब्दो को लिया जाय, उनका जन-साधारण के प्रयोग मे आने वाले शब्दो से मुकाबिला किया जाय,और यदि वहा उसके लिए उपयुक्त शब्द न मिले, तब हिंदी और उर्दू दोनों शब्दो को रख लिया जाय। राजेन्द्र बाबू शायद इन दोनो योजनाओ का समन्वय कर देना चाहते थे, जब कि उन्हांने यह सुझाव उपस्थित किया कि इस कोष में सस्कृत, फारसी और अरबी के उन शब्दो का अर्थ दिया जाना चाहिए जो हिन्दुस्तानी मे प्रयोग मे आते हैं और इनमे से २ या ३ हजार अधिक प्रचलित और सुगम शब्दों को छाट लेना चाहिए और स्कूल और कॉलेज की शिक्षा मे उन्हे ही व्यवहार मे लाना चाहिए।

'बेसिक हिन्दुस्तानी का आंदोलन

'बेसिक' हिंदुस्तानी के आंदोलन को बहुत बड़ा समर्थन जवाहरलालजी के द्वारा मिला है। जवाहरलाल जी बेसिक अग्रेजी के आन्दोलन से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। बेसिक अग्रेजी मे, वैज्ञानिक, टेकनिकल और व्यापारिक शब्दो को छोड़कर, एक हजार से कुछ कम शब्द हैं। इन्हे सीख कर साधारण बोल-चाल की अग्रेजी मे प्रवेश किया जा सकता है। हिन्दुस्तानी में भी यदि इस प्रकार के एक हजार शब्द चुन लिये जाय, उसके व्याकरण को सादा बना दिया जाय, तो देश भर मे इसका प्रचार बडी आसानी से हो सकता है। ये शब्द आख मींचकर उठा लेने से काम नही चलेगा। अग्रेजी के समान इस काम में भी एक बडी सख्या मे विद्वानो को जुट जाना पड़ेगा, और ऐसे शब्दो को ही चुनना पड़ेगा जो अधिक-से-अधिक प्रचलित हां। बेसिक हिन्दुस्तानी के बन जाने से राष्ट्र-भाषा के प्रचार के रास्ते में बड़ी सहूलियत हो जायगी।

मैं समझता हूं कि यह काम दो या इससे भी ज्यादा मजिलो मे होगा। पहिला काम तो, हिन्दी और उर्दू के बीच समन्वय स्थापित करने का है। इसके लिए हिन्दी और उर्दू के राष्ट्रीय, प्रगतिशील (प्रगतिवादी हो यह जरूरी नहीं) और हो सके तो तरुण (जिनके पास प्रतिभा के साथ काम की शक्ति और समय भी हो) साहित्यिकों की एक कमेटी बना देना चाहिए। इस कमेटी मे भाषा के विभागों की दृष्टि से प्रातीय प्रतिनिधित्व होना चाहिए, उर्दू के प्रतिनिधि लाहौर, दिल्ली और हैदराबाद से लिये जाय, हिन्दी के बिहार, पूर्वी यू० पी०, पश्चिमी

यू० पी० और मध्य भारत से (जिसमें राजस्थान और मध्य-प्रांत दोनों शामिल हों) लिए जायं। ये सातों व्यक्ति ऐसे होने चाहिएं जिनका संपर्क गांवों से हो, और जो अपने आस-पास के गावों की भाषा जानते हों। ये लोग मिलकर हिन्दुस्तानी की एक बेसिक, काम-चलाऊ डिक्शनरी तैयार करें जिसे सीखकर वह हिन्दुस्तानी भी, जिसकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी में अपनी दैनिक ज़रूरतों को व्यक्त कर सके। पर यह काम यहीं रुक नहीं जाना चाहिए। एक आगे बढ़ता हुआ राष्ट्र, जिसके सामने नयी कल्पनाए हैं और नये सपने जिसकी आंखों में जगमगा रहे हों, नयी आकाक्षाएं जिसके प्राणों को उद्वेलित करती हों, एक हजार शब्दो में अपने जीवन की ऊंचाई और गहराई व्यक्त नहीं कर सकता। बेसिक अंग्रेजी का आन्दोलन भी, मैं समझता हू, बहुत सफल नहीं हो पाया है। यह बेसिक हिन्दुस्तानी हमारे स्कूल के छोटे दर्जों के लिए और देश भर के उन लोगो के लिए जो राष्ट्र-भाषा के पढने में ज्यादा वक्त नहीं दे सकते हैं, निहायत ज़रूरी है, पर वह हमारे काम का—जो राष्ट्र-भाषा का पुनर्निर्माण करने का है, यह केवल पाया हो सकता है। इसके बाद इस कमेटी में दूसरे प्रांतों की भाषाओं के प्रतिनिधियों को लेना होगा। तीन प्रतिनिधि बगाल, गुजरात और महाराष्ट्र से लिये जायगे, चार दक्षिण भारत से। ये लोग मिल कर एक हज़ार ऐसे शब्द चुनेंगे जो हमारे दैनिक जीवन में भी काम में आते हैं और समस्त प्रांतीय भाषाओं में सामान्य-रूप से जिनका प्रयोग होता है।

यह हुई काम की दूसरी मजिल। इस मजिल पर पहुंचते-पहुचते काम का दायरा बहुत ज्वादा बढ जायगा। अब इन विद्वानो को इस प्रकार की बेसिक हिन्दुस्तानी में, जो केवल हिन्दी और उदू की ही सामान्य-भूमि का स्पर्श न करती होगी, परन्तु देश की समस्त भाषाओ का आधार होगी, जनता को पत्र पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा शिक्षित करना होगा।

इसके साथ ही उन्हें विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के कुछ अन्य विद्वानों को शामिल करके कई छोटी-छोटी कमेटिया बना देनी पड़ेंगी, जो इन शास्त्रों के (technical) शब्दों की डिक्शनरिया तैयार करेंगी। इस बड़ी कमेटी का समर्थन पाकर ही वे प्रकाशित की जा सकेंगी, और यह कोशिश करना पड़ेगी कि इन कोषों को सब प्रातीय भाषाओं वाले मान लें। संभव है कि इन कोषों में बहुत अधिक विदेशी शब्दों को रखना पडे।

इस सारे काम में हमें किसानों, मज़दूरों और कारीगरों के सपर्क में तो रहना ही होगा। परन्तु, हमें भाषा की सस्कारिता पर भी बराबर नज़र रखना होगी, भाषा सादा बने, पर उसकी अभिव्यक्ति को भी खूब व्यापक बनाना

होगा ।श्री मुन्शी के शब्दो में "हरएक भाषा के दो रूप होते हैं, एक रूप तो जीवन मे व्यवहार के लिए होता है, और दूसरा कल्पना के विलास और विचार को व्यक्त करने के लिए। भाषा का पहिला रूप ऐसा होना चाहिए, जो सबके लिए सुलभ हो, और दूसरा रूप भी ऐसा हो जो विचार और उड़ान को व्यक्त करे और घोषित करे।" हमारी राष्ट्र-भाषा को इतना व्यापक होना होगा,उसमे इतनी लोच होगी कि एक ओर तो वह लोक-साहित्य के काम आ सके, और दूसरी ओर शिष्ट-साहित्य के लिए सुगम-साध्य हो,एक ओर उसमें गाव वाला अपनी दैनिक आवश्यकता व्यक्त कर सके और दूसरी ओर बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अपनी मानसिक खोज की कथा उसके द्वारा दूसरों तक पहुचा सके। किसी भी प्रथम श्रेणी की भाषा में यह (elasticity) होना जरूरी है। इन सबके होते हुए भी हमारी आज की भाषा का जो आधार सौंदर्य और सस्कारिता है, वह वैसी ही अक्षुण्ण रहनी चाहिए। यह काम को कठिन जरूर बना देगा,पर बड़े काम आसान कब होते हैं!

परिशिष्ट

कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र, १९४५ ।

अखिल-भारतीय काग्रेस-समिति ने अपनी एक बैठक में, जो बम्बई में पिछले सितम्बर मास में हुई थी, यह निश्चय किया था कि जनता की जानकारी के लिए तथा आगामी सार्वजनिक चुनावों में काग्रेसी-उम्मीदवारों का पथ-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से कार्य-समिति काग्रेस की नीति और कार्यक्रम को व्यक्त करते हुए एक घोषणा-पत्र तैयार करे और उसे अखिल-भारतीय काग्रेस-समिति के सामने विचारार्थ और स्वीकृत्यार्थ रखे । उसने कार्य-समिति को अधिकार दिया था कि वह केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव के लिए एक घोषणापत्र पहिले प्रकाशित कर दे । वह घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुका है । कार्य-समिति को खेद है कि प्रांतीय चुनावों के निकट आ जाने के कारण निकट भविष्य में अखिल-भारतीय काग्रेस-समिति की ऐसी बैठक का आयोजन करना सम्भव नहीं है जिसमें वह अपने सोचे हुए विस्तारपूर्ण घोषणा-पत्र पर विचार कर सके । इसलिए कार्य-समिति ने यह घोषणा-पत्र स्वय तैयार किया है और उसे वह जनता की जानकारी तथा काग्रेसी उम्मीदवारो के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाशित कर रही है ।

सेवा और त्याग का इतिहास

राष्ट्रीय कांग्रेस भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लिए पिछले ६० वर्ष से श्रम कर रही है । इतने दिनों से उसका इतिहास वही रहा है जो भारतीय जनता का इतिहास है, अर्थात् वह गुलामी के पट्टे को बारबार तोडने और उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करती रही है । एक छोटे-से आकार मे जन्म लेकर वह क्रमशः भारतवर्ष की विशाल भूमि में बढती और फैलती रही है और स्वतन्त्रता के सदेश को नगरों तथा दूर-दूर के गावों की जनता तक पहुचाती रही है। इसी जनता से शक्ति और अधिकार सचय करके उसने एक बलशाली सस्था का रूप ग्रहण किया है, जो भारतवासियों की स्वातन्त्र्य-कामना की जीती-जागती और ज्योतिर्मयी प्रतिमा है ।

इसी पुनीत हित की वेदी पर काग्रेस अपने को पीढियों से अर्पित करती आई है और उसके नाम में तथा उसकी पताका के नीचे देश के असख्य स्त्री-पुरुषों ने अपने-सकल्प की पूर्ति के लिए अपने प्राण न्यौछावर किये हैं और विविध यातनायें सही हैं । सेवा और त्याग के बल पर उसने भारतीय जनता के हृदय-मंदिर में

स्थान पाया है और भारतवर्ष पर किये जाने वाले अपमानो का विरोध करके विदेशी राजसत्ता के विरुद्ध एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा किया है।

जनता की भलाई के लिए कांग्रेस रचनात्मक कार्य करती रही है और साथ ही साथ स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए निरन्तर युद्ध भी करती रही है। इस युद्ध में उसने असंख्य संकटो का सामना किया है और बारबार वह एक महान् साम्राज्य की सशस्त्र शक्ति के प्रत्यक्ष संघर्ष में आई है। शांतिपूर्ण युक्तियों का अनुकरण करके उसने न केवल इन सघर्षों पर विजय प्राप्त की है बल्कि उनसे नयी शक्ति ग्रहण की है। तीन साल की अभूतपूर्व सार्वजनिक उथल-पुथल और उसके निर्दयता पूर्वक दमन किये जाने के बाद कांग्रेस आज पहले से अधिक शक्तिशाली हो गई है और उस जनताके लिए अधिक प्रिय बन गई है जिसका उसने कठोर-से-कठोर समय मे भी साथ दिया है।

समान अधिकार की पुकार

कांग्रेस ने भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक के लिए—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—समान अधिकार का समर्थन किया है। उसने सब सम्प्रदायों और धार्मिक दलो में एकता और पारस्परिक सहिष्णुता की भावना देखनी चाही है। उसकी सदा यह इच्छा रही है कि लोगो को समन्वित रूप से अपनी व्यक्तिगत इच्छा और प्रेरणा के अनुकूल विकास प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिले। साथ-ही-साथ, वह यह भी चाहती रही है कि देश के प्रत्येक दल और घटक को राष्ट्र की वृहत्तर सीमा के भीतर रह कर अपने निजी जीवन और सस्कृति की उन्नति करने की स्वतन्त्रता है। इस सम्बन्ध में उसने यह भी कहा है कि इस प्रकार के घटकों और प्रातो की स्थापना जहा तक हो सके, भाषा और सस्कृति के आधार पर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, काग्रेस ने उन सब व्यक्तियो के अधिकारो का समर्थन किया है जो सामाजिक अत्याचार और अन्याय के शिकार रहे हैं और कहा है कि समान अधिकार मे रुकावट डालने वाले सभी प्रतिबन्ध उन पर से हटा दिये जाने चाहिएं।

कांग्रेस ने सदा एक ऐसे स्वतन्त्र और प्रजावादी राज्य की स्थापना चाही है जिसके विधान में समस्त जनता के बुनियादी अधिकारो और स्वतन्त्रताओ की रक्षा की व्यवस्था की गई हो। काग्रेस की राय में यह विधान सघ के ढग का होना चाहिए, जिसके सभी भिन्न-भिन्न घटको को स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो और जिसकी धारा-सभाओ का चुनाव सभी प्रौढ-व्यक्तियो के मत पर आश्रित हो।

भारत का सघ निश्चय ही अपने भिन्न भिन्न भागों की स्वेच्छित एकता का प्रतिरूप होना चाहिए। घटको को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देने के लिए सघ

सबधी सामान्य और आवश्यक विषयों की एक ऐसी छोटी-से-छोटी सूची बनायी जा सकती है जिसका सब में प्रयोग हो सके । इसके अतिरिक्त, सामान्य विषयों की एक वैकल्पिक सूची भी होनी चाहिए, जिसे जो लोग चाहें मानें और जो न चाहे, न माने ।

हमारे बुनियादी अधिकार

विधान में बुनियादी अधिकारों की व्यवस्था होनी चाहिए, जिनमें निम्नलिखित अधिकार भी सम्मिलित हो :—

१. भारत के प्रत्येक नागरिक को, किसी ऐसे काम के लिए जो कानून और नैतिकता के विरुद्ध न हो, स्वतन्त्र रूप से अपनी सम्मति प्रकट करने, मिलने-जुलने और शांति-पूर्वक तथा बिना हथियार लिये सभा-सम्मेलन करने का अधिकार है ।

२. प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता होगी और सार्वजनिक शाति तथा नैतिकता को दृष्टि में रखते हुए स्वतन्त्रता पूर्वक अपने धर्म का प्रकाश और पालन करने का अधिकार होगा ।

३. अल्पसंख्यक जातियों और भाषा के आधार पर बनाये गए विभिन्न घटकों की सस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जायगी ।

४. कानून की दृष्टि मे सभी नागरिक एक समान होंगे, चाहे उनका कोई भी धर्म, कोई भी जाति और कोई भी वर्ग क्यों न हो, और चाहे वे स्त्री हों या पुरुष ।

५. कोई भी स्त्री या पुरुष अपने धर्म, जाति या वर्ग के कारण नौकरियों, ऊंचे ओहदों और व्यापार आदि के लिए अयोग्य न समझा जायगा ।

६. सब नागरिकों का उन कुओं, तालाबों, सड़कों, स्कूलों, और सार्वजनिक स्थानों पर समान अधिकार है जो या तो सरकारी या स्थानीय कोष से चल रहे हैं या सार्वजनिक प्रयोग के लिए विशेष व्यक्तियों द्वारा बनाये गये हैं ।

७. प्रत्येक नागरिक को शस्त्र सबधी क़ानूनों की सीमा में रहकर शस्त्र रखने और धारण करने का अधिकार है ।

८. क़ानून के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जा सकेगा और उसके मकान या सम्पत्ति को न कोई जब्त कर सकेगा न उसमे प्रवेश ही कर सकेगा ।

९. सभी धर्मों के प्रति सरकार तटस्थता की नीति बरतेगी ।

१०. मत देने का अधिकार सब प्रौढ व्यक्तियो को होगा ।

११. सरकार की ओर से मुफ्त और अनिवार्य बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था की जायगी ।

१२. प्रत्येक नागरिक को इस बात की आज़ादी है कि वह समस्त भारतवर्ष मे जहा चाहे जाय, किसी भी भाग में ठहरे और रहे, कोई भी व्यापार-धंधा करे, और कानूनी दण्ड या रक्षा के संबंध में भारतवर्ष के सभी हिस्सो में समान व्यवहार प्राप्त करे।

इसके अतिरिक्त, शासन-संस्था की ओर से पिछड़ी हुई या दलित जातियों की रक्षा और उन्नति के लिए आवश्यक प्रबन्ध किये जायंगे ताकि वे शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर सके और राष्ट्रीय जीवन में पूरा और समान भाग ले सकें। विशेष रूप से कबीले वालो को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने और परिगणित जातियो को शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक तथा आर्थिक विकास प्राप्त करने में सहायता दी जायगी।

विपदा की कहानी

पिछले १५० वर्षों से भी अधिक समय से विदेशी राज्य होने के कारण देश की उन्नति रुक गई है और हमारे सामने ऐसी असंख्य समस्याए आ खड़ी हुई हैं जिन्हे शीघ्र-से-शीघ्र हल करने की आवश्यकता है। इतने दिनो से भारत और भारतीयो का जो व्यापक-शोषण होता रहा है उससे विपदा का पारावार नहीं रहा है और जनता को भूखो मरना पड़ रहा है। हमारा देश न केवल राजनैतिक दृष्टि से ही दासता की जजीरो में जकड़ा और अपमानित किया गया है बल्कि उसे आर्थिक सामाजिक, सास्कृतिक और आत्मिक अधोगति का भी सामना करना पड़ा है।

भारतीय हितों और मतों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए इस प्रकार उत्तरदायित्व-हीन अधिकारियो द्वारा शोषण का किया जाना और शासन व्यवस्था की अयोग्यता लड़ाई के दिनों में इतनी अधिक बढ़ गई कि उससे भयंकर दुर्भिक्ष और व्यापक-विपदा का विस्तार हुआ। इनमें से एक भी समस्या बिना स्वतन्त्रता प्राप्त किये हल नहीं की जा सकती। राजनैतिक आजादी के साथ-ही-साथ आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता भी प्राप्त होनी चाहिए।

हमारी समस्याएं और उनका हल

जनता पर से दारिद्रय का श्राप किस प्रकार हटाया जाय और उसका जीवन-माप किस प्रकार ऊंचा उठाया जाय, यही भारतवर्ष की सब से मुख्य और आवश्यक समस्या है। इसी जनता के कल्याण के लिए कांग्रेस अपना विशेष ध्यान देती रही है और उसी के लिए रचनात्मक कार्य भी करती रही है। उसी के हित और विकास की कसौटी पर उसने सारे प्रस्तावों और परिवर्तनों को कसा है और यह घोषित किया है कि जो कुछ भी देश की उन्नति मे बाधक सिद्ध हो उसे रास्ते से हटा दिया जाय।

देश के धन-धान्य में वृद्धि करने के लिए और उसे दूसरों पर निर्भर रहे बिना ही स्वतः विकसित होने की क्षमता प्रदान करने के लिए उद्योगधंधों, कृषि और सामाजिक तथा सार्वजनिक लाभ के साधनों; आकार को प्रोत्साहन देना, उन्हें नये ढगमें ढालना चाहिए और तीव्र गति के साथ फैलाना चाहिए। किन्तु ये सब काम जनता को लाभ पहुचाने, उसके आर्थिक, सास्कृतिक और आत्मिक-स्तर को ऊ चा उठाने, बेकारी दूर करने और व्यक्तिगत मान को बढ़ाने के ऊद्देश्य से ही किये जाने चाहिए।

इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि सभी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक उन्नति की योजना बनाई जाय और उसका संगठन किया जाय; किसी एक व्यक्ति और दल के पास धन और अधिकार को केन्द्रित न होने दिया जाय। समाज के विरोधियों को बढने से रोका जाय और धातु और यातायात के साधनों पर और भूमि, उद्योग तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम के सभी दूसरे क्षेत्रों में उत्पादन और वितरण की मुख्य प्रणालियों पर सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त किया जाय, ताकि स्वतन्त्र भारत सहकारिता की प्रणाली का उपनिवेश बन सके।

इसलिए शासन संस्था को सभी बुनियादी और मुख्य उद्योगों और नौकरियों—धातु सम्बन्धी साधनों, रेल के रास्तों, समुद्री रास्तों और जहाजों तथा यातायात के दूसरे साधनों पर आधिपत्य या अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुद्रा, विनिमय, बैंक और बीमा को राष्ट्रीय हित के अनुकूल संगठित करना चाहिए।

वैसे तो दरिद्रता सारे भारतवर्ष में है परन्तु इसकी समस्या मुख्यतः गावों में है। दरिद्रता का प्रधान कारण भूमि की कमी और दूसरे धनोत्पादक कार्यों का अभाव है। ब्रिटिश अधिकार में रहते हुए भारतवर्ष क्रमशः एक ग्रामीण देश बना दिया गया है, उसके कारबार के अनेक रास्ते बद कर दिये गए हैं और एक विशाल जनसमुदाय खेती पर आश्रित छोड़ दिया गया है। खेतों के लगातार टुकड़े किये जाते रहे हैं,यहां तक कि अब अधिकाश खेत आर्थिक दृष्टि से अलाभकर होगए हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि भूमि सबंधी समस्या पर सभी पहलुओं से ध्यान दिया जाय। कृषि को वैज्ञानिक ढग से उन्नत बनाने और उद्योग को उसके बड़े, मझोले और छोटे सभी रूपों में बढाने की आवश्यकता है, ताकि केवल धन का ही उत्पादन न हो सके बल्कि कृषि पर आश्रित रहने वाले व्यक्ति भी उनमें खपाये जा सकें। गृह-उद्योगों को पूर्ण और आशिक दोनों पेशों के रूप में विशेष रूप से प्रोत्साहन देना प्रयोजनीय है। यह आवश्यक है कि उद्योगों की रूपरेखा बनाने और उसे विकसित करने में जहा एक ओर अधिक-से-अधिक धन के उत्पादन का ध्यान रखा जाय वहा दूसरी ओर यह भी याद रखा जाय

कि ऐसा करने से नई बेकारी न पैदा हो जाय। योजना के बनने से अधिक-से-अधिक लोगों को और निस्संदेह सभी पुष्ट व्यक्तियो को काम मिलना चाहिए। जिन लोगो के पास खेत नहीं हैं, उन्हें काम करने का अवसर प्रदान करना चाहिए और उद्योगो या खेती में खपा लेना चाहिए। भूमि संबधी सुधार के लिए, जिसकी भारतवर्ष में घोर आवश्यकता है, किसानो और शासन-सस्था के बीच के (मध्यस्थ) व्यक्तियों को हटा देना चाहिए और उनके अधिकारो को बराबर का मुआवज़ा देकर खरीद लेना चाहिए।

व्यक्तिगत खेती और किसानों की मिल्कियत की प्रथा चलती रहनी चाहिए। लेकिन उन्नतिशील कृषि और नयी सामाजिक प्रेरणाओं आदि के निर्माण के लिए भारतीय स्थितियो के अनुकूल सहकारिता ढग की खेती की कोई प्रणाली होनी चाहिए। ये परिवर्तन कृषकों की सहमति और सहानुभूति से ही होने चाहिएं।

इसलिए यह वांछनीय है कि सरकार की सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में प्रयोग रूप से सहकारिता की प्रणाली पर फारम खोले जाय। प्रदर्शन और प्रयोग के कार्य के लिए बड़े-बड़े सरकारी फारम भी होने चाहिए।

कृषि और उद्योग के विकास के लिए ग्रामीण और नागरिक अर्थ-व्यवसायो में समुचित संगठन और संतुलन होना चाहिए। अब तक ग्रामीणों को आर्थिक क्षति ही उठानी पड़ी है और उनसे लाभ उठा कर नगरों और कस्बों वालों ने उन्नति की है। इस स्थिति में संशोधन की आवश्यकता है। देहातों तथा कस्बों के निवासियो के जीवन-माप को यथासाध्य बराबर करने की चेष्टा करनी चाहिए। उद्योगों का किसी एक प्रांत में केन्द्रीकरण नही होना चाहिए ताकि सभी प्रांतो की आर्थिक-स्थिति में संतुलन स्थापित किया जा सके। अकेन्द्रीकरण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जहां तक संभव हो किसी की विशेषता पर आघात न पहुंचे।

कृषि और उद्योग दोनों के विकास के लिए और साथ-ही-साथ जनता के स्वास्थ्य तथा हित के लिए भी हमें उस महान् शक्ति पर अधिकार करना और उसका उचित प्रयोग करना चाहिए जो हमे भारत की विशाल नदियो के रूप में उपलब्ध है और जो अधिकतः न केवल बरबाद ही जाती है बल्कि भूमि के लिए और भूमि पर निवास करने वालो के लिए बहुधा क्षति का कारण बनती है। इस काम को करने के लिए नदियों से संबंध रखनेवाले कमीशन बनाये जाने चाहिएं, ताकि वे सिंचाई के काम को प्रोत्साहन प्रदान कर सकें और इस बात की व्यवस्था कर सकें कि लोगों को सिंचाई के लिए लगातार और समान-रूप से पानी मिलता रहे। इसके अतिरिक्त उनका काम संहारक बाढ़ को रोकने और

जमीन को कटने से बचाने का भी होना चाहिए। उन्हें मलेरिया को रोकने, जल विद्युत शक्ति को बढाने और दूसरी युक्तियों द्वारा विशेषतः ग्रामवासियों के जीवन-माप को बढाने का काम सौपना चाहिए। उद्योग और कृषि के विकास के लिए आवश्यक आधार प्रदान करने के अभिप्राय से इस देश के शक्तिदायक साधनों को हर रूप से बढाना प्रयोजनीय है।

जनता के बौद्धिक, आर्थिक, सास्कृतिक और नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए और उसे अपने सामने आने वाले नये कामो और व्यवसायों के योग्य बनाने के लिए शिक्षा का पर्याप्त प्रबध होना चाहिए। सार्वजनिक स्वास्थ्य के कामों की, जो राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक हैं, अधिक-से-अधिक व्यवस्था होनी चाहिए और इस बात में, दूसरी बातो की तरह ही, ग्रामीणों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनमें प्रसूति और शिशुपालन सबधी विशेष व्यवस्थाए भी सम्मिलित होनी चाहिए।

इस प्रकार हमें ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न करनी चाहिएं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को हर राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में उन्नति करने का समान अवसर मिले और सबके लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रबध हो।

वैज्ञानिक विकास की आवश्यकता

विज्ञान अपने असख्य कार्य-क्षेत्रों में मनुष्य-जीवन को प्रभावित और परिवर्तित करने में सबसे अधिकाधिक भाग लेता रहा है, और भविष्य में इससे भी अधिक मात्रा में भाग लेता रहेगा। औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी और सांस्कृतिक उन्नति यहा तक कि राष्ट्री-रक्षण का कार्य भी इसी पर निर्भर है। अतः वैज्ञानिक अन्वेषण का कार्य शासन-सस्था का बुनियादी और आवश्यक कार्य है और उसको व्यापक से व्यापक रूप में सङ्गठित और प्रोत्साहित करना चाहिए।

जहा तक मजदूरों का सवाल है, शासन-सस्था औद्योगिक श्रमजीवियों के हितों की रक्षा करेगी और इस बात की व्यवस्था करेगी कि उन्हें एक निश्चित सीमा से कम मजदूरी न मिले, देश की आर्थिक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए जहा तक सम्भव हो, उनके जीवन का माप अतर्राष्ट्रीय माप की तुलना में उचित हो। उनके लिए रहने का यथेष्ट प्रबन्ध हो और काम के घण्टे और मज़दूरी की शर्तें भी ठीक हों। इसके अतिरिक्त शासन संस्था मजदूरों और मालिकों के झगड़ों को तै करने और मज़दूरों को बुढापा, बीमारी तथा बेकारीके आर्थिक दुष्परिणामों से बचाने के लिए उचित व्यवस्था करेगी। मजदूरों को अपने हित की रक्षा के लिए सघ बनाने का अधिकार होगा।

ऋर्ण ने किसानों को कुचल रक्खा है और यद्यपि विभिन्न कारणों से पिछले

दिनों उनके ऋण का बोझ कुछ हल्का होगया है तथापि वह अब भी है और उसे दूर करना आवश्यक है। इसके लिए किसानो को सहकारिता-सस्थाओ द्वारा कम दर पर रुपया उधार दिलवाना चाहिए।

सहकारिता सस्थाओ का दूसरे कामो के लिए भी गांवों और शहरों— दोनो स्थानों में निर्माण होना चाहिए। औद्योगिक सहकारिता-सस्थाओं को विशेष रूप से प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योंकि प्रजावादी आधार पर छोटे-छोटे उद्योगों के विकास के लिए वे विशेष-रूप से उपयोगी होती हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि भारतवर्ष की तत्कालीन और आवश्यक समस्याओं का दल राजनैतिक, आर्थिक, कृषि-सम्बन्धी, औद्योगिक और सामाजिक सभी दिशाओं से एक साथ सम्मिलित प्रयत्न करने पर ही हो सकेगा, तथापि कुछ आवश्यकताए आज बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। सरकार की निपट अयोग्यता और दुर्व्यवस्था के कारण भारतीय जनता पर विपदा का पहाड़-सा टूट पड़ा है। लाखों लोग भूखो मर चुके हैं, और अन्न तथा कपड़े का आज भी व्यापक अभाव है। सभी नौकरियों में और जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यक पदार्थों के नियन्त्रण आदि के मामलो मे बड़ी बेईमानी और घूसखोरी चल रही है जो हमारे लिए असह्य हो गई है। इन आवश्यक समस्याओ पर फौरन ही ध्यान देना आवश्यक है।

जहा तक अन्तर्राष्ट्रीय मामलो का सबंध है, काग्रेस स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक विश्व-सघ स्थापित करने के पक्ष में है। जब तक कि यह सघ क्रियात्मक रूप ग्रहण कर सके, भारतवर्ष को सभी राष्ट्रो, विशेषतः अपने पड़ोसियों, से मैत्री के सबध स्थापित करने चाहिए। सुदूरपूर्व, दक्षिण-पूर्वी, एशिया और पश्चिमी एशिया से भारतवर्षका पिछले हजारों वर्षों से व्यापारिक और सास्कृतिक सबध रहाहै और यह अनिवार्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ-ही-साथ वह इस संबध को भी पुनर्जीवित और विकसित करे। संरक्षा की भावना और व्यापार के भावी झुकाव को देखते हुए भी इन क्षेत्रो से घनिष्ठतर सम्पर्क रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष, जो अहिसा के आधार पर अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई आप लड़ता रहा है, इस विश्वव्यापी शाति और सहयोग का ही पक्ष ग्रहण करेगा। वह दूसरे दास-देशो की भी स्वतन्त्रता का समर्थन करेगा क्योंकि इसी स्वतंत्रता के आधार पर और साम्राज्यशाही को सब जगहों से हटा कर ही विश्व-शांति की स्थापना हो सकेगी।

सन् १९४२ का प्रस्ताव

अगस्त, सन् १९४२ को अखिल भारतीय काग्रेस-समिति ने एक प्रस्ताव पास किया था, जो भारत के इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। काग्रेस आज भी

अपनी उन्हीं मांगों और अपनी उसी ललकार पर अड़ी हुई है। अपने उसी प्रस्ताव के आधार पर और युद्ध-हुंकार के साथ आज वह चुनावों का सामना कर रही है।

इसलिए देश के सभी मतदाताओं से कांग्रेस प्रार्थना करती है कि वे आगामी निर्वाचनों में हर प्रकार से कांग्रेस उम्मीदवारों का समर्थन करें और इस संकट-जनक अवसर पर, जिसके गर्भ में भावी आशाएं छिपी हुई हैं, कांग्रेस का साथ दें।

इन चुनावों में छोटे-छोटे झगड़े, व्यक्तित्व अथवा साम्प्रदायिक पुकारें कोई महत्व नहीं रखतीं। केवल एक चीज महत्व रखती है और वह है हमारे देश की स्वतन्त्रता, जिसके द्वारा भारतवासियों को दूसरी स्वतन्त्रताएं स्वतः मिल जायगी। भारत के निवासी कई बार स्वतन्त्रता की शपथ ले चुके हैं। वह शपथ अभी तक उतरी नहीं है और वह प्रिय हित, जिसके लिए यह शपथ ली गई है और जो हमें बार-बार बुलाता रहा है, आज भी हमारी ओर संकेत कर रहा है। वह समय आ रहा है जब हम अपनी शपथ को पूरी तरह से उतार सकेंगे। यह चुनाव हमारे लिए एक छोटी-सी परीक्षा है, हमारे महान् भविष्य के लिए एक तैयारी मात्र है। जिन लोगों को अपने देश की स्वतन्त्रता की आकांक्षा है वे आवें और इस परीक्षा का बल तथा विश्वास के साथ सामना करें और हमारे स्वप्नों के स्वतन्त्र भारत की ओर कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ें।